भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र

(Certificate Course in Indian Knowledge System)

भाषा एवं साहित्य (CCIKS-101)

Indian Language and Literature

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **CCIKS- 101**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकायाध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जे. के. गोदियाल,
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग,
हे.न.ग.विश्वविद्यालय श्रीनगर।
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली।

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
श्री राहुल पन्त,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सह-सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

मुख्य-सम्पादक
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र
संस्कृत संकाय, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

सह-सम्पादक
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**खण्ड**	**इकाई संख्या**
डॉ0 नीरज कुमार जोशी	**खण्ड 1**	(इकाई 1)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग	**खण्ड 2**	(इकाई 1 एवं 3)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	(इकाई 1 एवं 2)
	खण्ड 4	(इकाई 01)
डॉ0 देवेंद्र नाथ ओझा,	**खण्ड 1**	(इकाई 2,3,4)
सहायक आचार्य, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज एंड रिसर्च, एमिटी यूनिवर्सिटी, उत्तरप्रदेश, नोएडा		
डॉ0 कमलेश शक्टा,	**खण्ड 2**	(इकाई 2 एवं 4)
सहायक आचार्य, विवेकानंद पीजी कॉलेज, लोहाघाट, चंपावत		
डॉ0 कंचन तिवारी,	**खण्ड 3**	(इकाई 3)
सहायक आचार्य, साहित्य विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार		
डॉ0 कान्ता प्रसाद	**खण्ड 4**	(इकाई 02)
असि0 प्रोफे0 ए.सी., संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		

डॉ0 अनिल कार्की **खण्ड 4** (इकाई 03)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,हिन्दी विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आवरण पृष्ठ

डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
पुस्तक का शीर्षक- भाषा एवं साहित्य (CCIKS- 101)
प्रकाशन वर्ष : 2025
ISBN No.
मुद्रक:

नोट :- इस अध्ययन सामग्री का प्रकाशन छात्र हित में शीघ्रता के कारण किया गया है। सम्पादित संस्करण का प्रकाशन अगले वर्ष सम्भव है । इस सामाग्री का उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित प्रशासनिक अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) भाषा एवं लिपि	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 संस्कृत भाषा का उद्भव एवं विकास	05-21
इकाई-2 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत	22-33
इकाई-3 पालि-प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा	34-46
इकाई -4 भारतीय लिपियाँ	47-60
खण्ड- दो (Section-B) व्याकरण परिचय	**पृष्ठ संख्या 61**
इकाई-1 भाषा विज्ञान का मौलिक स्वरूप	62-74
इकाई-2 संस्कृत व्याकरण का प्रयोजन	75-87
इकाई-3 संस्कृत व्याकरण के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा	88-101
इकाई-4 संस्कृत व्याकरण का स्वरूप	102-115
खण्ड- तीन (Section-C) संस्कृत साहित्य	**पृष्ठ संख्या 116**
इकाई-1 वैदिक साहित्य का परिचय	117-139
इकाई-2 लौकिक साहित्य का परिचय	140-168
इकाई-3 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाएँ	169-183
खण्ड- चार (Section-D) पालि-प्राकृत-अपभ्रंश एवं क्षेत्रीय भाषा	**पृष्ठ संख्या 184**
इकाई-1 पालि साहित्य का परिचय	185-206
इकाई-2 प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य का परिचय	207-229
इकाई-3 क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान परम्परा	230-253

खण्ड- एक (Section-A)
भाषा एवं लिपि

इकाई 1. संस्कृत भाषा का उद्भव एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 भाषा का अर्थ एवं परिभाषा
1.4 भाषा की विशेषताएं
1.5 भाषा का उद्गम एवं सिद्धान्त
1.6 भाषा का विकास
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 उपयोगी पुस्तकें
1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

'संस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । भाषासु मधुरा मुख्य दिव्या गीर्वाण भारती' संस्कृत भाषा संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। निश्चय ही यह संसार भर का समस्त भाषाओं में वैदिक तथा अन्य महान साहित्य के कारण श्रेष्ठ है। इसको धार्मिक दृष्टि से 'देववाणी' या 'सुर-भारती' भी कहा जाता है। भाषा ही वह दिव्य ज्योति है, जो सम्पूर्ण संसार को एकसूत्र में बाँधने की शक्ति रखती है। जो परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करती है, भाषा रूपी दिव्य ज्योति से अज्ञान रूपी अंधकार को दूर किया जाता है।

भाषा क्या है ? आंखिर मनुष्य को इसकी आवश्यकता क्यों हुई ? प्रस्तुत इकाई में भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा भाषा की परिभाषाओं व उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही साथ भाषा की उत्पत्ति व उसके विकास क्रम को भी बताया गया है। भाषा के विषय में कहा भी गया है कि भाषा सतत् गत्वर एवं प्रवाहमान है। भाषा की उत्पत्ति को लेकर तो विद्वानों में कई मतभेद है। कुछ विद्वानों ने तो भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त को ही भाषा विज्ञान के क्षेत्र से बाहर माना है। इस इकाई में आप भाषा की उत्पत्ति का अध्ययन विविध मतों के आधार पर कर सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- भाषा की परिभाषा एवं उसके सम्बन्धों से परिचित हो सकेंगे।
- भाषा विज्ञान से सम्बन्धित विषय का अध्ययन कर सकेंगे।
- संस्कृत भाषा के स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- भाषा की उत्पत्ति एवं उसके विकास के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे।
- भाषा के अर्थ एवं महत्त्व को समझ सकेंगे।
- भाषा की विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे।
- भाषा के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से परिचित हो सकेंगे।

1. 3 भाषा का अर्थ एवं परिभाषा

भाषा मानव-व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जन्म लेते ही मनुष्य को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की आवश्यकता महसूस होती है। भाषा शब्द संस्कृत के भाष् धातु से बना है जिसका तात्पर्य स्पष्ट वाणी, मनुष्य की वाणी, बोलना या कहना है। भाषा का अर्थ सिर्फ बोलने से नहीं है बल्कि जो मनुष्य बोलता है उसके एक खास अर्थ से है। भाषा शब्द का प्रयोग पशु-पक्षियों की बोली के लिए भी होता है। इंगित को भी भाषा कहा जाता है, सिर, आँख, हाथ आदि को हिलाने आदि से भी कई अर्थों की अभिव्यक्ति की जाती है जिस प्रकार सिर नीचे करने हाँ और सिर को दाँये-बाँये हिलाने आदि से नहीं अर्थ प्रकट किया जाता है। देखा जाय तो अंगों के द्वारा किया गया अभिनय इंगित भाषा कहलाता है। सामान्य रूप से देखा जाय तो सभी प्राणी ध्वनि संकेतों में ही बोलते हैं। केवल मनुष्य के मुख से निकली ध्वनि जिसका एक खास अर्थ होता है, यही भाषा है, अध्ययन का विषय भी वही है। मनुष्य आपस में जो विचार विमर्श करते हैं उसका साधन केवल भाषा ही है, सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति

का माध्यम केवल भाषा ही है। देखा जाय तो संकुचित अर्थ में भाषा का अर्थ सिर्फ मनुष्य की भाषा से है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार मौखिक भाषा उत्कृष्ट व लिखित भाषा निकृष्ट के अन्तर्गत आती है। भाषा विज्ञान में जिस भाषा को ग्रहण किया गया है। वह केवल मानवीय भाषा ही है।

भाषा की परिभाषा—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण वह आपस में अपने विचार व्यक्त करने पड़ते हैं, वह कभी शब्दों या वाक्यों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करता है तो कभी वह संकेतों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करता है। वक्ता जो बोलता और श्रोता जो सुनकर भावों को ग्रहण करता है वही भाषा है। सामान्य रूप से देखा जाय तो भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। जो बोला व सुना जाता है उसे भाषा कहते हैं।

भाषा विज्ञान के अन्तर्गत केवल स्पष्ट रूप से बोलने वाले मनुष्यों की वाणी ही आती है। भाषा शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से अपने व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें बोलने वाला भी भाषा बोलता है, सुनने वाला भी भाषा सुनता है और बोध भी भाषा रूप में होता है। देखा जाय तो एकान्त में रहने वाला व्यक्ति भी किसी भाषा का प्रयोग करता है, और एक सुविख्यात व्यक्ति भी किसी विशेष भाषा का प्रयोग करता है। विद्वानों ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है-पाणिनी के अष्टाध्यायी के महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है- **'व्यक्तां वचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः'** यहां वर्णात्मक वाणी को ही भाषा कहा गया है।

डॉ0 मंगलदेव शास्त्री के अनुसार— भाषा मनुष्यों की चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं। मंगलदेव शास्त्री की परिभाषा में अर्थयुक्तता एवं प्रतीकात्मकता के निर्देश का अभाव है।

डॉ0 बाबूराम सक्सेना के अनुसार- जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उसकी समष्टि को भाषा कहते हैं। डॉ0 बाबूराम सक्सेना ने उच्चारण अवयवों का उल्लेख नहीं किया है।

डॉ0 श्यामसुन्दर के अनुसार - मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं। **भोलानाथ तिवारी के अनुसार**- "भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित मूलतः प्रायः यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा किसी भाषा-समाज के लोग आपस में विचारों का - आदान-प्रदान करते हैं।''

मैक्समूलर के अनुसार- भाषा और कुछ नहीं है केवल मानव की चतुर बुद्धि द्वारा आविष्कृत ऐसा उपाय है जिसकी मदद से हम अपने विचार सरलता और तत्परता से दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और चाहते हैं कि इसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में मनुष्य कृत पदार्थ के रूप में करना उचित है।

प्लेटो के अनुसार-"सोफिस्ट' में विचार और भाषा के संबंध में लिखते हुए कहा कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अंतर है। ''विचार आत्मा की मूल या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।''

प्रो. पी.डी. गुणे के अनुसार-''ध्वन्यात्मक शब्दों, हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण भाषा है।''

जेस्परसन के अनुसार- ''मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर उपयोग करता है। इस प्रकार के कार्य-कलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।''

स्वीट के अनुसार- ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।

वान्द्रिए के अनुसार- ''भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे नेत्र-ग्राह्य, श्रोत्र-ग्राह्य एवं स्पर्श-ग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्र-ग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।''

सुकुमार सेन के अनुसार- ''अर्थवान् कंठोद्गीर्ण ध्वनि-समष्टि भाषा है।''

प्रो. राजमणि शर्मा के अनुसार- ''मानव समुदाय द्वारा उच्चरित स्वन संकेतों की वह यादृच्छिक प्रतीकात्मक व्यवस्था भाषा है, जिसके द्वारा विचारात्मक स्तर पर मानव समुदाय-विशेष परस्पर संपर्क स्थापित करता है।''

ब्लाक तथा ट्रेगर के अनुसार- "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group cooperates."

स्टर्टवेंट **के अनुसार-** "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate and interact."

इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी लिखा है कि- "Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which humans interact and communicate"

संघटनात्मक रूप से देखा जाय तो भाषा-शास्त्रियों ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है- "भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।'' यदि हम इस परिभाषा को देखें तो इसमें चार बातों पर ध्यान दिया गया है।

1- **भाषा एक पद्धति है**- भाषा एक सुव्यवस्थित योजना है। जिसके अन्तर्गत कर्ता, कर्म, क्रिया आदि व्यवस्थित रूप से आ सकते हैं, इसमें वक्ता जो कुछ भी कहता है श्रोता वही समझता है। इसमें पद रचना के कुछ वाक्य रचना के कुछ नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य है। तृतीया एकवचन में न् का ण् किन शब्दों में होगा, किन शब्दों में नहीं होगा, और किन शब्दों में तृतीया के एकवचन में आ लगेगा और कहां पर ना लगेगा, भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ विश्लेषण किया जाता है।

2- भाषा संकेतात्मक है- किसी भी भाषा में जो ध्वनियां आती हैं, उनका किसी वस्तु या कार्य से सम्बन्ध होता है कोई भी ध्वनि किसी भाषा में किसी एक वस्तु का बोध कराती है। केवल हमें इस तथ्य पर ध्यान देना है कि भाषा की ध्वनियां केवल संकेतात्मक हैं।

3- भाषा वाचिक ध्वनि संकेत है- मानव अपनी वागिन्द्रिय के द्वारा जिन संकेतों का उच्चारण करता है, केवल वे ही भाषा के अन्तर्गत आते हैं, वाचिक ध्वनि संकेत सूक्ष्म से सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, दृश्य-अदृश्य सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण रूप से समर्थ है, देखा जाय तो ध्वनियों की एक विशिष्ट प्रकिया है, जिसका सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है।

4- भाषा यादृच्छिक संकेत है- यादृच्छिक का अर्थ है, जैसी इच्छा या इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि किसी भी भाषा में जिन ध्वनि संकेतों का उपयोग किया जाता है, वे पूर्ण रूप से यादृच्छिक (ऐच्छक) है। यदि हम सामान्य रूप से बालक की भाषा-शिक्षण को ध्यान में रखकर विचार करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि बालक अपने माता-पिता व सम्बन्धियों के द्वारा कहे गये ध्वनि संकेतों का अनुकरण करता है, वह इसका विवेचन नहीं करता है कि गाय को गाय और घोड़े को घोड़ा क्यों कहते हैं।

1.4 भाषा की विशेषताएं

आप भाषा की परिभाषाओं से परिचित हुए, अब हम भाषा की कुछ विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। सामान्य रूप से देखा जाय तो विश्व की सभी भाषाओं में कुछ न कुछ विशेषताएं प्राप्त होती हैं।

1-भाषा अर्जित सम्पत्ति-

भाषा मनुष्य को जन्म से नहीं आती है। समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है।योग्यता के अनुसार ही मनुष्य बचपन में भाषा को अर्जित करता है।जिस प्रकार भेड़िये के साथ रहने वाला बच्चा वातावरण के अभाव के कारण मनुष्य की भाषा नहीं सीख पाता वहीं दूसरी ओर वह भेड़िये की भाषा को सीखता है। भाषा सीखी व अर्जित की जाती है, इसलिए यह अर्जित सम्पत्ति है।

2- भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है-

मनुष्य को भाषा जन्म के साथ नहीं मिलती है।भाषा सीखनी पड़ती है, अर्जित की जाती है। लोगों का मानना है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति की भाँति अनासाय ही प्राप्त हो जाती है यह कथन पूर्णतः गलत है।जिस प्रकारयदि कोई बच्चा बचपन से ही विदेश में रहेगा तो वह हिन्दी को न बोल सकेगा न ही समझ सकेगा विदेशी भाषा ही उसकी मातृभाषा होगी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो बच्चा विदेशमें रहकर भी हिन्दी भाषा सीख व बोल लेता।

3-भाषा सामाजिक वस्तु है-

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज से ही वह अपने समस्त क्रिया कलापों को सीखता है। उसी प्रकार भाषा भी समाज से सीखता है। भाषा पूर्ण रूपेण आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। भाषा के द्वारा ही हम सोचते विचारते हैं। देखा जाय तो जितनी विकसित भाषा होगी उतना ही विकसित वहां का समाज होगा। अतः भाषा एक सामाजिक वस्तु है।

4-भाषा सर्वव्यापक है-

मनुष्य के प्रत्येक कार्यों का संचालन भाषा के द्वारा ही होता है। व्यक्ति का व्यक्ति से व व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध भाषा के ही द्वारा स्थापित होता है। चिन्तन मनन और सामाजिक कार्यों के लिए मनुष्य भाषा का ही सहारा लेता है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार सभी लौकिक कार्यों का आधार भाषा को ही माना गया है। अपने वाक्यपदीय नामक ग्रंथ में उन्हांने स्पष्ट किया है- **"इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया''**

5- भाषा मानव की अक्षय निधि है-

मानव मात्र का अक्षय कोष भाषा ही है। भाषा ही मानव की पूँजी है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर मानव ने जो कुछ देखा, सोचा व अनुभव किया, वही पूँजी के रूप में विद्यमान है यही बहुमूल्य निधि है।

6- भाषा चिरपरिवर्तनशील है-

सामान्य रूप से देखा जाय तो भाषा अनुकरण के द्वारा सीखी जाती है । भाषा का अनुकरण ही मौखिक रूप है। उसका लिखित रूप ही मौखिक पर आधारित है।देखा जाय तो मौखिक भाषा स्वंय अनुकरण पर आधारित है। दो मनुष्यों की भाषा में समानता नहीं पायी जाती है, मनुष्य अनुकरण प्राणी होने के कारण भी पूर्ण रूप से अनुकरण की कला में निपुण नहीं है।यही अनुकरण ही भाषा में परिवर्तन लाती है। परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है अतः भाषा परिवर्तशील है।

7- भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है-

प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है। भाषा में थोड़ा अन्तर स्थान भेद से होता है। भाषा का वास्तविक क्षेत्र उसकी सीमा के भीतर ही होता है।जिस प्रकार अवधी, भोजपुरी व्रज हिन्दी के अर्न्तगत आते हैं,वहीं दूसरी ओर मराठी, बंगला व गुजराती आदि भाषाएं हिन्दी से अलग हैं। इस प्रकार से यदि देखा जाय तो सबकी अपनी-अपनी भौगोलिक सीमा है।

8- भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है-

भाषा निरन्तर गत्वर एवं प्रवाहमान है, इसलिए इसका अन्तिम रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार समस्त वस्तुएं परिवर्तित होती हैं उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। मृत शरीर की भाँति मृत भाषा का अन्तिम स्वरूप हो सकता है पर जीवित भाषा का नहीं।

1.5 भाषा का उद्गम एवं सिद्धान्त

स्वभावतः देखा जाय तो सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ? यह विषय अत्यन्त उलझा हुआ है, और इस विषय पर प्राचीन काल से ही विचार होता आया है, लेकिन वे अपूर्ण और अनिर्णयात्मक है।

भाषा की उत्पत्ति लाखों वर्ष पूर्व हो चुकी थी, इस पर केवल अनुमान ही किया जा सकता है। 1866 ई0 में पेरिस में भाषा विज्ञान की एक समिति की स्थापना हुई थी। उन्होंने अपने अधिनियम में यह निर्देश दिया है कि यहां भाषा की उत्पत्ति और विश्वभाषा - निर्माण इन दो बातों पर विचार नहीं किया है, भाषा की उत्पत्ति के दो सिद्धान्त प्रमुख हैं-

1-प्रत्यक्ष मार्ग

2- परोक्ष मार्ग

प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की उत्पत्ति के मुख्य बिन्दुओं के आधार को पकड़ने का प्रयास किया जाता है। इसके विपरीत परोक्ष मार्ग में भाषा के वर्तमान रूप से भूतकालिक रूप का सर्वेक्षण किया जाता है।भाषा की उत्पत्ति को कुछ विद्वान भाषा-विज्ञान का विषय मानते ही नहीं हैं। भाषा की उत्पत्ति के जितने भी सिद्धान्त विद्वानों ने दिये हैं वे पूर्णरूपेण तर्क संगत नहीं है।इस अध्याय में हम भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे-

दिव्योत्पत्ति सिद्धान्त-

भाषा की उत्पत्ति का यह सबसे प्राचीन मत है। जिस प्रकार परमपिता ब्रह्मा ने मानव सृष्टि की उसी प्रकार मानव को अपने भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए एक परिष्कृत भाषा भी दी, संस्कृत भाषा ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। देवी शक्ति ने ही इस सृष्टि के प्रारम्भ में हमें वेदों का ज्ञान प्रदान किया। मूल भाषा के रूप में वैदिक संस्कृत भाषा प्राप्त हुई, संस्कृत भाषा व उसके व्याकरण

के मूल आधार पाणिनि के 14 सूत्र शिव के डमरू से निकले। वेद, उपनिषद, स्मृतियों और दर्शन ग्रंथों में वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई इस विषय में प्रमाण प्राप्त है-

देवी वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पश्वो वदन्ति।(ऋग्वेद8-10)

संस्कृत वाग्देवी भाषा को देवों ने ही उत्पन्न किया है और उसे सभी प्राणी बोलते हैं।नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवप´चवारम्।इस मंत्र में भी भाषा की दैवी उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है, अ इ उ ण् आदि 14 महेश्वर सूत्रों की उत्पत्ति शिव के डमरू से मानी जाती है यह भी दैवी उत्पत्ति का सूचक है। संस्कृत भाषा को ईश्वर कृत होने के कारण विश्व की सभी भाषाओं को इसका मूल मानते हैं। बौद्ध, पाली को मूल भाषा मानते रहे हैं। जैनों के अनुसार अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही भाषा नहीं है बल्कि सभी जीवों की मूल भाषा है। ईसाइयों ने प्राचीन विधान की हिब्रूभाषा व मुसलमानों ने अरबी को आदिभाषा घोषित किया है, जर्मन विद्वान सुसमिल्श भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में कहते हैं कि भाषा मानवकृत नहीं है, अपितु परमात्मा से साक्षात् उपहार रूप में प्राप्त हुई है। जर्मनी जर्मन भाषा को आदि भाषा एव देव भाषा कहते हैं।

समीक्षा- देवी सिद्धान्त के विषय में कुछ आपत्तियां हैं-

1- यदि भाषा ईश्वर द्वारा प्रदत्त होती तो जन्म से उसे प्राप्त हो जाती, उसे भाषा सीखने की आवश्यकता नहीं होती।

2- देखा जाय तो यदि भाषा ईश्वर प्रदत्त है, तो विभिन्न भाषाओं में इतना भेद क्यों है?

3- यदि भाषा ईश्वर कृत होती तो वह पूर्णरूपेण विकसित होती क्योंकि भाषा में विकास , परिवर्धन और परिवर्तन दिखाई देता है, अतः यह ईश्वर कृत नहीं मानी जा सकती है ।

संकेत सिद्धान्त-

सिद्धान्त-संकेत सिद्धान्त को निर्णय-सिद्धान्त आदि नामों से भी जाना जाता है ।संकेत सिद्धान्त के प्रवर्तक 18वीं शती के प्रसिद्ध फ्रेंच विचारक रूसो है,इनके अनुसार प्रारम्भ में मानव पशुओं के समान सिर हिलाने आदि आंगिक संकेतों से अपने भावों को व्यक्त करता था ।धीरे-धीरे इन संकेतों से काम नहीं चला तत्पश्चात् एक सभा की और नामों को निर्धारित किया गया, देखा जाय तो यह एक सामाजिक समझौता है ।इसके पश्चात् ध्वन्यात्मक संकेतों की उत्पत्ति हुई। भामह के काव्यालंकार में प्रस्तुत है-

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः।। (काव्यालंकार 6-13)

समीक्षा-संकेतसिद्धान्त में कुछ स्पष्ट कमियां हैं-

1- यदि भाषा नहीं थी तो बिना भाषा के सभा का आयोजन कैसे हुआ ?

2-विचारों को अभिव्यक्त करने की भाषा क्या थी।

3-विचार विमर्श के लिए बिना भाषा के सभा का आयोजन आदि कार्य असम्भव हैं।

धातु सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त को रणन सिद्धान्त, अनुरणात्मक अनुकरण,अनुकरण सिद्धान्त, डिंग-डांग वाद आदि नामों से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक प्लेटो थे। जर्मन प्रोफेसर हेज ने इसे व्यवस्थित कर आगे बढ़ाया। मैक्समूलर ने पहले तो इस सिद्धान्त को अपनी पुस्तक में स्थान दिया किन्तु बाद में निरर्थक कहकर छोड़ दिया । इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर चीज में अपनी एक ध्वनि होती है।यह विशेष ध्वनि ही उसकी विशेषता होती है।टिन,लोहा,लकड़ीव काँच आदि पर हम चोट मारते हैं तो एक विशेष ध्वनि (नाद) निकलती है इसे रणन कहा जाता

है।रणन सिद्धान्त के आधार पर ही लोहा,लकड़ी,टिन व काँच आदि में अन्तर किया जाता है।जिस प्रकार नदी कल-कल या नद-नद ध्वनि करती है तो उसी के आधार पर रित उसका नाम नदी रखा गया।इसी प्रकार से यदि देखा जाय तो 400-500 मूल शब्दों या धातुओं का निर्माण किया गया।

समीक्षा-इस सिद्धान्त पर विचार करने पर कुछ दोष भी पाये गये-

1-भाषा केवल धातु से ही नहीं बनती है इसके लिए प्रत्यय, उपसर्ग आदि अन्य घटकों की भी आवश्यकता पड़ती है।

2-इस सिद्धान्त पर विचार करने पर इसमें इतने दोष थे कि प्रो0 मैक्समूलर ने इसे छोड़ दिया।

3-घण्टे में यह ध्वनि है,परन्तु सभी पदार्थों में यह ध्वनि नहीं है। देखा जाय तो अस्वीकृत होने के पश्चात् भी यह सिद्धान्त रोचकता के लिए प्रचलित है।

4-इसका कोई सुदृढ़ आधार नहीं है।यह सिद्धान्त कल्पना पर आधारित है।

ध्वन्यानुकरण सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त को अनुरणनमूलकतावाद, अनुकरण-सिद्धान्त सामान्यतहः अंग्रेजी में कुत्ते की ध्वनि को इवू.वू बाउ-वाउ कहते हैं देखा जाय तो हिन्दी में यह भों-भों वाद हुआ ।वास्तव में इस सिद्धान्त का मूल नाम 'ओनोमेटोपोइक थ्योरी' है जिसका अर्थ है ध्वन्यनुकरण सिद्धान्त । प्रो0 मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त को उपहासास्पद बताया । इस सिद्धान्त के अनुसार पशु-पक्षियों आदि की ध्वनि के अनुकरण अलग-अलग वस्तुओं के नाम रखे गये हैं जो वस्तु जैसी ध्वनि करती है उसका वैसा ही नाम पड़ता है। जैसे-कू-कू से कोयल, काँव-काँव से कौवा और काक, पट्-पट् से पटाखा, झर-झर से झरना आदि है।ध्वनि साम्य के आधार पर भाषा में कुछ शब्द मिलते हैं ।जैसे-गुर्राना, मिमियाना, थपथपाना, रंभाना, खटखटाना, पट-पट, खट-खट, झम-झम आदि। संस्कृत में नद-नद के आधार पर ही नद या नदी आदि शब्द हैं। इसी प्रकार पत् धातु के आधार पर पत् ध्वनि गिरना है।

समीक्षा- इस सिद्धान्त पर भी कुछ आपत्तियां हैं

1-यदि ध्वन्यनुकरण ही आधार होता तो सभी भाषाओं में अर्थों के लिए एक समान शब्द होते जैसे काक-कौवा, झरना-निर्झर आदि का ही भेद नहीं है अपितु अंग्रेजी, फ्रेंच आदि के लिए सर्वथा पृथक् शब्द है।

2-प्रो0 रेनन ने इस सिद्धान्त का विरोध इस आधार पर किया है कि संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के

बाद भी मनुष्य स्वंय में कोई ध्वनि उत्पन्न नहीं कर सका ।

3- आंशिक रूप से स्वीकार्य होते हुए भी यह मत भाषा की उत्पत्ति के लिए अस्वीकार्य है।

आवेग-सिद्धान्त-

यह सिद्धान्त को मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजक, मनोरागव्यंजक शब्दमूलकतावाद, पूह-पूहवाद आदिनामों से जाना जाता है। आवेग सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में मानव विचार-प्रधान प्राणी न होकर पशुओं की भाँति भाव प्रधान था। मनुष्य ने अपने दुःख, हर्ष, शोक, विस्मय आदि भावों को प्रकट करने के लिए शब्दों या ध्वनियों का उच्चारण किया। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा बन गई। हर्ष या खुशी में अहो, वाह आदि, शोक या दुःख में आह, हाय, रे, क्रोध में आः आदि शब्द हैं। अंग्रेजी में मनोभावसूचक चववी(पूह) पिम(फाई) वी(ओह) आदि शब्द हैं। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा का विकास हुआ।

समीक्षा- इस सिद्धान्त में कुछ दोष हैं

1-आवेग-शब्दों में चिन्तन का नाम भी नहीं है। जबकि भाषा चिन्तन प्रधान होती है।

2- आवेग ध्वनियां भाषा की अक्षमता को सूचित करती हैं, ये भाव भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते हैं अतः इस कारण इनसे भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।प्रो0 बेन्फी ने इसका विरोध किया है।

3-आवेग सिद्धान्त आवेगात्मकता को ही प्रकट करते हैं, सामान्य भावों की अभिव्यक्ति को नहीं। इस कारण इनका सम्बन्ध भाषा के मुख्य अंग से नहीं है।

4-आवेग-शब्दों की संख्या नगण्य होने के कारण यह सिद्धान्त मान्य नहीं है

इस कारण से यदि देखें तो यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या को हल करने में सर्वथा असमर्थ है।

श्रम-ध्वनि-सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त को यो-हे-हो सिद्धान्त या श्रम-परिहरणमूलकतावाद सिद्धान्त भी कहते हैं। न्यारे नामक भाषा शास्त्री इस सिद्धान्त के जन्मदाता हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य शारीरिक परिश्रम करता है तो उसकी सांस तेजी से बढ़ जाती है। मांसपेशियों में ही नहीं बल्कि स्वरतंत्रियों में भी संकोच-विस्तार बढ़ जाता है, इस कारण कुछ ध्वनियां अचानक निकल जाती हैं जिस कारण परिश्रम करने वाले को कुछ आराम का अनुभव होता है। जिस प्रकार धोबी कपड़े धोते समय 'हियो' या 'छियो' कहता है। मल्लाह थकान के कारण यो-हे-हो कहते हैं।

समीक्षा- यह सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण नहीं है इस सिद्धान्त में कई आपत्तियां हैं-

1- इन ध्वनियों का भाषा में कोई स्थान नही है।

2- भाषा की उत्पत्ति के लिए सार्थक शब्दों की आवश्यकता होती है शारीरिक श्रम से जन्मे ये शब्द निरर्थक हैं।

इंगित-सिद्धान्त-

डॉ0 राये इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इसके पश्चात् डार्विन ने छह असम्बद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस सिद्धान्त को प्रमाणित किया। प्रो0 रिचर्ड ने 1930 में इस सिद्धान्त को पुनः अपनी पुस्तक में मौखिक इंगित सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इस मत के अनुसार मनुष्य ने अपनी आंगिक अर्थात् अंगों की चेष्टाओं का वाणी के द्वारा अनुकरण किया और उसी से भाषा बनी।

समीक्षा- इस सिद्धान्त में भी कुछ आपत्तियां हैं-

1- मनुष्य की आंगिक चेष्टाओं जैसे हाथ, पैर, ओष्ठ आदि के आधार पर शब्द रचना सारहीन है।

2- इस सिद्धान्त पर बने सिद्धान्तों की संख्या बहुत कम है।

3-मनुष्य ने अपने ही अनुकरण पर शब्द रचना की है जो हास्यपद है। यदि दूसरे के अनुकरण पर शब्द रचना होती तो यह मान्य होती।

संपर्क सिद्धान्त-

इस मत के प्रर्वतक जी0 रेवेज नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैं। इस मत के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसमें एक दूसरे के प्रति पारस्परिक संपर्क की प्रवृत्ति जन्म से ही होती है। देखा जाय तो जब मनुष्य एक दूसरे से संपर्क करेंगे तो इसी आधार पर समाज बनता है।और उनमें प्रारम्भिक भावनाओं को जैसे भूख-प्यास आदि को एक दूसरे पर अभिव्यक्त करने के लिए तरह-तरह के सम्पर्क स्थापित किये जाते थे और साथ ही साथ मुखोच्चरित ध्वनियाँ भी

सहायक रही होंगी भाषा उसी का विकसित रूप है। जैसे-जैसे संपर्क की आवश्यकता बढ़ती गई वैसे-वैसे उसकी स्पष्टता का अनुभव और ध्वनि का विकास भी होता गया।

सम्पर्क ध्वनि का विकास संसूचक ध्वनि से होता है। इसके अन्तर्गत चिल्लाना, पुकारना आदि सम्मिलित हैं। धीरे-धीरे जैसे-जैसे विचारों के स्तर पर सम्पर्क बढ़ता गया वैसे-वैसे भाषा भी विकसित हुई। जिस प्रकार 'माँ' का अर्थ माँ दूध दो या पानी दो आदि। इस प्रकार देखा जाय तो क्रिया पहले आयी और संज्ञा बाद में व व्याकरणिक दृष्टि से ये शब्द न होकर वाक्य होंगे,तत्पश्चात् विकास होने पर कई प्रकार के शब्दों को मिलाकर छोटे-छोटे वाक्य बने व निरन्तर संपर्क बढ़ने से भाषा का विकास हुआ।

समीक्षा:-1- यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा मानने योग्य है।

2- इस सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्पत्ति और विकास के सामान्य सिद्धान्त का ही विवेचन है।

3-कॉसिडी नामक प्रसिद्ध विद्वान के अनुसार भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त के अनुसार भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या सुलझ नहीं सकी।

4- इस सिद्धान्त का आधार काल्पनिक व आनुमानिक है।

संगीत सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक डार्विन, स्पेंसर व येस्पर्सन हैं।इस सिद्धान्त के अनुसार मानव के संगीत से भाषा की उत्पत्ति हुई। यह सिद्धान्त प्रेम सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है।सम्भवतः यह रहा होगा कि आदिम मनुष्य अत्यधिक भावुक व संगीत प्रिय रहा होगा, वह अपने खाली समय में कुछ गुनगुनाता रहा होगा। उसी गुनगुनाने से जो ध्वनियाँ बनीं उसी से भाषा की उत्पत्ति है।

समीक्षा-

1- प्रारम्भ में मनुष्य गुनगुनाता था इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।
2- गुनगुनाने मात्र से यदि भाषा की उत्पत्ति हुई ऐसा केवल अनुमान पर आश्रित है ऐसी स्थिति में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।
3- इस सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रेम से अधिक है इस कारण कुछ लोगों ने इसे प्रेम सिद्धान्त भी कहा है।

टा-टा सिद्धान्त-

प्रारम्भ में जब आदिम मानव काम करते थे तो उस समय वे जाने अनजाने उच्चारण अवयवों से काम करने वाले अवयवों की गति का अनुकरण करते थे। बाद में इस अनुकरण से कुछ ध्वनियों और ध्वनि संयोगों से शब्दों का उच्चारण हो जाया करता था।

समीक्षा

1-देखा जाय तो भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न इस सिद्धान्त में भी सुलझता नहीं दिखाई देता है। आज का सभ्य मानव न ऐसा अनुकरण करता है और न ही अविकसित मानव।

2-बन्दरों में भी यह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती जो कि हमारे तथाकथित जनक हैं।

3-प्रारम्भिक निरर्थक ध्वनियों से भाषा का विकास कैसे हुआ इसका कहीं भी उत्तर नहीं दिया गया है।

समन्वय सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक व समर्थक हेनरी स्वीट नामक भाषा शास्त्री हैं।उन्होंने कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत न करके सर्वसिद्धान्त संकलन को अधिक उपर्युक्त समझा है । भाषा का प्रारम्भ अनुरणनात्मक, भावाभिव्यंजक और प्रतीक शब्दों एवं उपचार सिद्धान्त के समन्वित रूप से हुआ। प्रोफेसर स्वीट ने तीन प्रकार के शब्दों को तीन भागों में बाँटा है ।

पहले प्रकार के शब्द अनुकरणात्मक हैं। जैसे-बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ, कौवा का-का व कोयल कु-कू शब्द करती है। दूसरे प्रकार के शब्द भावाभिव्यंजक या मनोभावाभिव्यंजक है । जैसे-ओह, हा, धिक्,हाय आदि शब्द हैं । तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक हैं जैसे नर्सरी शब्द माता,पिता,भाई-बहन आदि शब्द हैं। भाषा में प्रारम्भिक शब्दों की संख्या बहुत अधिक रही होगी। इस प्रकार यदि देखा जाय तो स्वीट के अनुसार भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई।तत्पश्चात् उपचार प्रयोग से शब्दों का विकास हुआ ।

समीक्षा-

1- भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त में भाषा-शास्त्री हेनरी स्वीट ने सभी सिद्धान्तों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है ।
2- देखा जाय तो यह सिद्धान्त निर्विरोध रूप से स्वीकार किया गया ।
3- हेनरी-स्वीट का समन्वय सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान पूर्ण रूप से सुलझा नहीं सका ।

बोध प्रश्नः-

1- रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजियेः-

(क) मनुष्य को भाषा..........के साथ नहीं मिलती है।

(ख) भाषा की उत्पत्ति..........वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

(ग) भाषा का वास्तविक क्षेत्र उसकी....... के भीतर ही होता है ।

(घ) भाषा निरन्तर गत्वर एवं..........है ।

2-निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखिए-

(1) भाषा की उत्पत्ति का सबसे प्राचीनतम सिद्धान्त है।

(क) संकेत सिद्धान्त (ग) दिव्योत्पत्ति सिद्धान्त

(ख) धातु सिद्धान्त (घ) आवेग सिद्धान्त

(2) समन्वय सिद्धान्त के प्रवर्तक कौन हैं?

(क) डार्विन (ग) स्पेंसर

(ख) हेनरी स्वीट (घ) डॉ0 राये

1.6 भाषा का विकास

परिवर्तन सृष्टि का नियम है क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन है। देखा जाय तो इसी परिवर्तन को विकास कहते हैं, क्योंकि परिवर्तन से ही जीवन में चेतना है।मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्र को पुराने शरीर के समान त्यागकर नये वस्त्र के समान नये शरीर को धारण करता है उसी प्रकार भाषा में भी परिवर्तन होता है जैसे प्राचीन समय की वैदिक संस्कृत अपने पुराने रूप को त्यागकर लौकिक संस्कृत में परिवर्तित हो गयी और फिर शनैः-शनै पाली प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान समय में हिन्दी भाषा के रूप में प्रस्तुत हुई है। विभिन्न भाषाओं के अध्ययन के

पश्चात देखा जाय तो काल-भेद, स्थान-भेद और परिस्थिति भेद से भी भाषा में भिन्नता देखी गयी है। यदि हम देखें तो भाषा के विकास के विषय में प्राचीन समय से ही विचार होता रहा है संस्कृत में जिन शब्दशास्त्रियों ने इस विषय में विचार किया है उनमें आचार्य पाणिनि,यास्क पतंजलि, कात्यायन, काशिकाकार, जयादित्य वामन नागेश भट्ट हैं। वर्तमान समय में भी अनेक विद्वानों ने विशद विवेचन किया है। भाषा में विकास को हम दो भागों में बांट सकते हैं।

1. आभ्यन्तर या आन्तरिक

2. बाह्य या बाहरी, आभ्यन्तर कारण वे हैं जिनका सम्बन्ध भाषा की स्वाभाविक गति से है। बाह्य कारण वे हैं जो भाषा को बाहर से प्रभावित करते हैं इस इकाई में हम दोनों का अलग-अलग वर्णन करेंगे-

(क) आभ्यन्तर कारण

1-अपूर्ण श्रवण-भाषा अर्जित सम्पत्ति है भाषा अपने पूर्वजों से,शिक्षकों से एवं समाज से सीखी जाती है। एक बच्चा अपने माता-पिता से भाषा सीखता है सीखने की प्रक्रिया में तीन बातें होती हैं।

1-सुनना 2-स्मरण रखना 3-पुनः उच्चारण। इसमें कितनी ही ध्वनियाँ इस प्रकार की होती हैं जो पहली बार सुनने पर हमें स्पष्ट नहीं सुनायी पड़ती है कि उनकी मात्रा ह्रस्व है या दीर्घ, व है या ब,श है या स अनेक बार उच्चारण करने से ही शब्द स्पष्ट सुनाई देता है। यदि बच्चे से सुनने में अशुद्धि होती है तो वह उसका उच्चारण भी अशुद्ध ही करता है इसी प्रकार भाषा में अशुद्धियाँ हो गयी।

2-बल-बोलते समय किसी खास शब्द या ध्वनि पर विशेष बल दिया जाता है और किसी पर कम जिस कारण से वह अन्य ध्वनियों को कमजोर बना देता है। वे बातें बार-बार दोहरायी जाती है और वे जोर से बोली जाती हैं। इस कारण से बलाघात वाली ध्वनि अधिक प्रबल हो जाती है और उसके आगे-पीछे की ध्वनि निर्बल व कमजोर हो जाती है। इस कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन होता है।

3-अनुकरण की अपूर्णता-अपूर्ण अनुकरण भाषा में परिवर्तन का मुख्य कारण है।मनुष्य अनुकरण से ही भाषा का अर्जन करता है।अनुकरण पूर्ण है तो शब्दों का उच्चारण ठीक होगा। देखा जाय तो अधिकांशतः अनुकरण अपूर्ण ही होता है जैसे बच्चा बचपन में अपने माता पिता आदि के द्वारा उच्चारित शब्दों को सुनकर अनुकरण से बोलता है यदि बच्चे का उच्चारण स्पष्ट नही होता है तो उसे बार-बार उच्चारित करके ठीक कराया जाता है अनुकरण की अपूर्णता के कई कारण है-

(क) वागिन्द्रिय की विभिन्नता- प्रत्येक मनुष्य ध्वानि का उच्चारण अगों के सहारे करता है किन्तु प्रत्येक मनुष्य की वागिन्द्रिय एक समान नही होती है। प्रायः यह देखा गया है कि स्त्रियों और पुरूषों के उच्चारण में अन्तर होता है केवल इतना ही नहीं बच्चे, युवा व वृद्ध व्यक्ति के उच्चारण में बहुत विभिन्नता होती है। किसी की ध्वनि मोटी, किसी की पतली व किसी की बेसुरी होती है। आचार्य पाणिनी के अनुसार वर्णों को दबाकर नहीं बोलना चाहिए। ध्वनि कितनी स्पष्ट है यह वागयन्त्र पर निर्भर है।

(ख) अशिक्षा- अशिक्षा के अभाव में अनुकरण अपूर्ण रह जाता है शिक्षा के अभाव के कारण अधिकाशं ग्रामीण जन अशिक्षित हैं जिस कारण वे ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं इस कारण उच्चारण दोषयुक्त होता है और भाषा में परिवर्तन हो जाता है। ष को स, श को स, ब

को व, व को ब एवं ण को न आदि उच्चारण किया जाता है। जैसे कक्षा को कच्छा, छात्र को क्षात्र, क्षत्रिय को छत्रिय,गुण का गुन, सगुण का सगुन, रिपोर्ट का रपट, गार्ड का गारद आदि शब्द हैं।

(ग) लिपि की अपूर्णता-यदि देखा जाय तो प्रत्येक भाषा में कुछ विशिष्ट ध्वनियां हैं जिनका स्पष्ट लेखन अन्य भाषा में सम्भव नही हैं, जिस प्रकार संस्कृत की ट वर्ग ध्वनियां, अंग्रेजी (z),अरबी की काकल्य ध्वनियां, जर्मन, फ्रेंच और रूसी ध्वनियाँ दूसरी भाषा में ठीक नहीं लिखी जा सकती हैं। देखा जाय तो विभिन्न संस्कृतियों के मिलने पर मूल भाषा की ध्वनियों में बहुत अन्तर आता है।

(घ) प्रयत्न लाघव- प्रयत्न लाघव भाषा में विकास लाने वाले कारणों में सबसे महत्वपूर्ण है। मानव की हमेशा से यह प्रवृत्ति रही है कि वह कम प्रयत्न से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं।देखा जाय तो यदि लघुमार्ग से काम चल जाय तो वहाँ पर अधिक प्रयत्न क्यों किया जाय? प्रयत्न लाघव को 'मुखसुख' भी कहते हैं। मुखसुख का अर्थ है सरलता की प्रवृत्ति के कारण बड़े शब्दों को छोटा करके बोलना। जैसे मास्टर साहब का मास्साब, स्कूल का इस्कूल, स्नान का अस्नान, भारतवर्ष का भारत, बीबी जी का बीजी,

आदि सरल शब्द के द्वारा बोलने का प्रयास है

4-जानबूझकर परिवर्तन- कभी-कभी भाषा में लेखक जानबूझकर भी परिवर्तन कर देते हैं। जिस प्रकार प्रसाद ने अलैक्जेंडर का अलक्षेन्द्र किया लेकिन यह परिवर्तन स्वाभाविक नही है। जैसे- संस्कृत में साहित्यकारों ने इसी प्रकार देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृतिकरण किया है जैसे अरबी में आफियून का अहिफेन आदि। उपयुक्त शब्द न मिलने पर कभी-कभी लोग जानबूझकर उससे मिलते नये शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं इस प्रकार से भाषा में परिवर्तन हो जाता है।

5- प्रयोगाधिक्य- अत्यधिक प्रयोग के कारण जिस प्रकार वस्तुएं घिस जाती हैं भाषा में भी उसी प्रकार

(ख) बाह्य कारण-

1- भौगोलिक प्रभाव- भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव भूगोल या जलवायु का पड़ता है। भाषा के परिवर्तन में जर्मन भाषा शास्त्री हाइनरिश मेयर बेन्फी और कोलित्स ने भौगोलिक प्रभाव को विशेष महत्व दिया है। जर्मन भाषाशास्त्री के अनुसार वर्ण-परिवर्तन का कारण भौगोलिक परिस्थितियां हैं। जलवायु का मनुष्य के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मैदानी व उपजाऊ भूमि पर देखा जाय तो भाषा का प्रचार प्रसार अधिक होता है क्योंकि वहां जनसंख्या अधिक होती है जिस कारण लोगों को एक दूसर से मिलने का अवसर मिलता है। अधिक जनसंख्या के कारण विभिन्न जातियां मिलती हैं जिस कारण भाषा परिवर्तन सरलता से होता है मैदानी भागों की अपेक्षा पर्वतीय और दुर्गम स्थानों में भाषा में परिवर्तन व उसका प्रसार कम होता है।

मूल भाषा से वैदिक संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं की उत्पत्ति हुई। देखा जाय तो भौगोलिक भेद के

कारण दोनों ही ध्वनियों में अन्तर हो गया। संस्कृत में स् अवेस्ता में ह् हो जाता है जिस प्रकार सिन्धु का हिन्दु,असि का अहि। भौगोलित भेद के कारण ही मूल भाषा से उत्पन्न होने के कारण

भी गुजराती,मराठी, पंजाबी आदि पृथक्-पृथक् है। पतंजलि के अनुसार स्थान भेद से भाषा में अन्तर हो जाता है।

2- सांस्कृतिक प्रभाव- संस्कृति समाज का अभिन्न अंग व समाज का जीवन है अतः इस कारण भाषा पर उसका प्रभाव पड़ता है सांस्कृतिक प्रभाव भी कई कारणों से हो सकता है जिसका वर्णन हम करेंगे-

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ- सांस्कृतिक संस्थाएँ जहाँ एक ओर अपने धार्मिक विचारों का व्यक्त करती हैं वहीं दूसरी ओर प्राचीन शब्दों को फीर प्रस्तुत करती हैं उन्नीसवीं सदी के अन्त व बीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द के द्वारा संस्कृत युक्त हिन्दी शब्दों पर विशेष बल दिया गया। जिस कारण हिन्दी भाषा में संस्कृत युक्त शब्द प्रयुक्त होने लगे।

(ख) व्यक्ति- भाषा पर तभी महान व्यक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भाषा को प्रभावित किया तुलसीदास ने कई शब्दों को अपनी कविता में तुक आदि के लिए प्रयुक्त किया वे भी प्रचलन में आ गये । उनके बाद जितने भी कवि हुए उनकी शैली इनसे प्रभावित हुई।

(ग) संस्कृतियों का सम्मेलन- विभिन्न संस्कृतियों के मिलने से भाषा में एक नया रूप आ जाता है। भारत तो संस्कृतियों का देश है यहाँ अनेक संस्कृतियों का मिलन हुआ। जैसे आस्ट्रिक और द्रविड़, आर्य और द्रविड़, आर्य और यवन, आर्य और मुसलमान, आर्य और यूरोपीय इन संस्कृतियों के मिलन से भारतीय भाषा पर सैकड़ों शब्द प्रचलन में आ गये।

3. सामाजिक प्रभाव- भाषा ही समाज का दर्पण है। जिस प्रकार समाज में उन्नति और अवनति होती है ठीक उसी प्रकार से भाषा में भी ह्रास और विकास होता है। भारत में समय-समय पर विभिन्न विदेशी जातियों का आगमन हुआ इसका प्रभाव रहन-सहन के साथ-साथ भाषा पर भी पड़ा । देखा जाय तो अपभ्रंश काल का साहित्य भाषा परिवर्तन का युग है या हम कह सकते हैं कि एक उदाहरण है। विदेशी जातियों के आगमन से सहस्रों नये शब्दों की उत्पत्ति हुई जैसे- अदालत, गुलाम, कचहरी, तहसीलदार, बीबी, गर्वनर आदि शब्द इसी के प्रतीक हैं।

4. वैज्ञानिक प्रभाव-आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के प्रभाव से भाषा भी दूर नहीं है। जिस प्रकार विज्ञान में नये-नये आविष्कार और अनुसंधान हो रहे है उसी प्रकार नई शब्दावली भी बनती जा रही है। अन्य विषयों को यदि हम छोड़ भी दे तो भाषा विज्ञान और भाषा शास्त्र को ही लें तो हर वर्ष इसमें सैकड़ों नये शब्द आते हैं। विज्ञान में पारिभाषिक शब्दों की संख्या बढती जा रही है आधुनिक युग में संकेत शब्दों की ओर रूचि बढ़ती जा रही है।

(ग) सादृश्य-भाषा के विकास में जिस प्रकार आन्तरिक व बाह्य कारण का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार सादृश्य का भी बहुत महत्व है। सादृश्य विश्व की प्रत्येक भाषा में देखा गया है सादृश्य ध्वनि, शब्द, अर्थ और वाक्य रचना सभी को प्रभावित करता है।

जिस प्रकार द्वादश में द्वा$दश में आ की मात्रा आती है इसके विपरीत यदि देखें तो एकादश में एकदश में आ नही आना चाहिए था इसका कारण यह है कि द्वादश में मिथ्या सादृश्य से एकदश का एकादश हो गया। जिस प्रकार हिन्दी भाषा में सादृश्य के आधार पर अनेक शब्द बने, उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा में भी शब्द बनें । जैसे Ring को Rang, Sing का Sang बनने लगे।इस प्रकार से यदि हम देखें तो सादृश्य भाषा के विकास के कारण के रूप में विश्व की सभी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व बनाये रखता है।

3-नीचे जो वाक्य दिये गये हैं उनमें से तथ्य की दृष्टि से कुछ सही हैं और कुछ गलत हैं सही वाक्यों के सामने कोष्ठक में (✓) तथा गलत वाक्यों के सामने (✗) का चिह्न लगाइये-

(क) अपूर्ण अनुकरण भाषा में परिवर्तन का मुख्य कारण है। ( )

(ख) प्रयत्न लाघव भाषा में विकास लाने वाले कारणों में महत्वपूर्ण नहीं है। ( )

(ग) भाषा अर्जित सम्पत्ति है ( )

(घ) संस्कृति समाज का अभिन्न अंग व समाज का जीवन है। ( )

4-रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये

(क) बोलते समय किसी खास शब्द या ध्वनि पर विशेष ....दिया जाता है।

(ख) विभिन्न ....के मिलने से भाषा में एक नया रूप आ जाता है।

(ग) प्रयत्न लाघव को...........भी कहते हैं।

(घ) आभ्यन्तर कारण को ....कारण भी कहा जा सकता है

1.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप भाषा के अर्थ व परिभाषाओं से परिचित हुए, साथ ही साथ आपने भाषा की विशषताओं का अध्ययन किया। भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों को आपने जाना। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि कोई भी सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी रहस्य का समाधान नहीं कर सका। भाषाशास्त्री भाषा के विकास या परिवर्तन को समझा सकते हैं किन्तु भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं कर पाये। इस इकाई में आपने भाषा की उत्पत्ति के साथ ही साथ उसके विकास या परिवर्तन को भी जाना।

1.9 शब्दावली

शब्द	-	अर्थ
सर्वव्याप्त	-	सभी जगह फैली हुई
अर्जित	-	सीखा जाना
प्रदत्त	-	प्रदान की गयी
आंगिक	-	अंगों की चेष्टाएँ
निर्विरोध	-	बिना विरोध के
प्रयोगाधिक्य	-	अत्यधिक प्रयोग
नर्सरी शब्द	-	प्रारम्भिक शब्द

1.10 बोध-प्रश्नों के उत्तर

1-(क) जन्म (ख) लाखों (ग) सीमा (घ) प्रवाहमान

2- (1) ग:- दिव्योत्पत्ति

(2) ख:- हेनरी स्वीट

3- (क) (✓) सही (ख) गलत (✗) (ग) (✓)सही (घ) (✓)सही

4- (क) बल (ख) संस्कृतियों (ग) मुख-सुख (घ) मौलिक

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी-221 001

(2) डॉ0 भोलानाथतिवारी, भाषाविज्ञान किताब महल, 22-। सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद

1.12 उपयोगी पुस्तकें

(1) भाषा-विज्ञान - डॉ0 श्याम सुन्दर दास

(2) भाषा और भाषा-विज्ञान - प्रो0 रामाश्रय मिश्र

(3) भाषा शास्त्र की रूपरेखा - डॉ0 उदयनारायण तिवारी

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1- भाषा किसे कहते हैं ? भाषा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

2- भाषा के विकास को समझाइए।

इकाई. 2 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

2.3.1 वैदिक संस्कृत

2.3.2 मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

2.3.3 वैदिक संस्कृत की प्रमुख विशेषताएं

2.3.4 लौकिक संस्कृत या संस्कृत

2.3.5 लौकिक संस्कृत की ध्वनियां

2.3.6 लौकिक संस्कृत भाषा की विशेषताएं

2.3.7 वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएं एवं विषमताएं

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भग्रन्थसूची

2.8 सहायक / उपयोगी पाठ्यसामग्री

2.9 निबन्धात्मकप्रश्न

2.1 प्रस्तावना

संस्कृत भाषा संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। इसे धार्मिक दृष्टि से 'देववाणी' या 'सुर-भारती' भी कहा जाता है। भारतीय ज्ञान परंपरा के सभी शास्त्र इसी भाषा में निबद्ध हैं और उनका उद्भव ऋषियों एवं देवताओं से माना जाता है। अत: उनसे सम्बद्ध होने के कारण यह देववाणी कहलाती है। विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद का प्रणयन भी संस्कृत भाषा में ही हुआ है । भारत में संस्कृत भाषा वस्तुतः दो रूपों में प्राप्त होती है- वैदिक संस्कृत तथा लौकि कसंस्कृत। वैदिक संस्कृत जहां वैदिक साहित्य जैसे वेद, ब्राह्मण,आरण्यक,उपनिषद्,वेदांग आदि के रूप में निबद्ध है वहीं लौकिक संस्कृत की झलक आर्ष काव्यों तथा परवर्ती साहित्य में दिखाई देती है ।

अतः इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य छात्रों को वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के आयामों से परिचित कराना है जिससेआप भारत में संस्कृत भाषा के विकास को भी समझ पाएंगे ।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप—

- वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के स्वरूप तथा संरचना को समझ पाएंगे ।
- वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के विविध भाषा वैज्ञानिक आयामों को जान पाएंगे ।
- वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के प्रयोग वैविध्य को समझ पाएंगे ।
- वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत की प्रमुख समानताओं तथा विषमताओं का ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।
- संस्कृत भाषा की विकास-यात्रा को समझ पाएंगे ।

2.3 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

'संस्कृत' शब्द का अर्थ है- संस्कार की हुई भाषा। यह शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है। संस्कृत समस्त भारोपीय भाषाओं में सर्व प्राचीनहै। संस्कृत भाषा के दो रूप हैं- वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत, यद्यपि ये दोनों भाषा विज्ञान की दृष्टि से समान एवं एक ही वर्ग की भाषाएँ हैं। यों कहना चाहिये कि लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत का भाषा विज्ञान के नियमों के अनुरूप विकसित रूप है, किन्तु दोनों में व्याकरणगत बहुत सी असमानताएँ हैं। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का व्याकरण बहुत भिन्न है। साहित्य की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त भेद है। वैदिक साहित्य में जहां वैदिक संस्कृत की झलक दिखाई देती है वहीं लौकिक संस्कृत आर्ष साहित्य, लौकिक संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक संस्कृत साहित्य में दृष्टि गोचर होती है। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक आते-आते शब्दों के अर्थों में भी अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ वैदिकसंस्कृत में 'वध' शब्द हा अर्थ 'भयंकर हथियार' होता है, किन्तु लौकिक संस्कृत में 'मार डालना' हो गया। इसी प्रकार 'गवेषणा' शब्द का व्यवहार वैदिक संस्कृत में 'गाय ढूंढने' के अर्थ में था, किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ परिवर्तित होकर 'अनुसंधान' हो गया। वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के स्वरूप-ज्ञान तथा समानताओं एवं विषमताओं को समझकर संस्कृत भाषा की

विकास-यात्रा को जाना जा सकता है। इस दृष्टि से वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत का विस्तृत विवेचन महत्वपूर्ण है।

2.3.1 वैदिक संस्कृत

भारतीय आर्य भाषाओं को काल की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ - २५०० ई. पू. से ५०० ई. पू. तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ - ५०० ई. पू. से १००० ई. तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ - १००० ई. से वर्तमान समय तक।

प्राचीनभारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। सामान्यतया प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का काल १५०० ई. पू. से ५०० ई. पू. तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्त्य विद्वान् ऋग्वेद का समय २५०० ई. पू. से बाद का नहीं मानते हैं, अतः काल-विभाजन में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का प्रारम्भ २५०० ई. पू. से माना जाता है।प्राचीन भारतीय आर्यभाषा विकास क्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त है - (१) वैदिक संस्कृत, (२) लौकिक संस्कृत।

वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस्', 'छान्दस्' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्त्य भाषा शास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद के २ से ६ मंडलों को अधिक प्राचीन तथा १ और १० मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना है। वैदिक काल की समाप्ति ५०० ई. पू. में मानी गई है। ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे ' छन्दस्' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी है, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भाषा का क्रमिक विकास होता गया है। जब आर्यों की निवास भूमि सप्तसिन्धु (पंजाब के आस-पास का क्षेत्र) थी उस काल की साहित्यिक रचनाओं में वैदिक संस्कृत का प्राचीन रूप मिलता है। मध्यदेश में हुई रचनाओं में वैदिकभाषा का निखरा हुआ रूप पाया जाता है। उसके बाद भी आर्यो का विस्तार पूर्व की ओर होता रहा, उस समय की भाषा भी अपने विकसित रूप से और आगे बढ़ चुकी थी। वैदिक संस्कृत में यत्र - तत्र भाषा संबन्धी अन्तर पाया जाता है। अत्यन्त प्राचीन रूप में रेफ का प्रयोग अधिकता से किया जाता था किन्तु बाद की संस्कृत में रेफ का प्रयोग कम हो गया तथा लकार के प्रयोग का आधिक्य हो गया। ऋग्वेद की प्राचीनतम भाषा में पुल्लिंग आकारान्त शब्दों के प्रथमा द्विवचन में 'आ' का प्रयोग अधिक किया जाता था जो आगे चल कर 'औ' के रूप में प्रचलित हो गया जैसे 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' में आकार का प्रयोग ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'मा वामेतौ मा परेतों रिषाम्' में औकार के रूप में प्रचलित हो गया। प्राचीन भाषा में 'तुमुन्' प्रत्यय का अधिक प्रयोग हुआ है। भाषा सम्बन्धी भिन्नता लौकिक संस्कृत की तुलना में अधिक हो गयी थी। वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्यरूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है।इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत केविभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको 'प्राचाम्' (पूर्वी), उदीचाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन

विभिन्न रूपों से विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ। वैदिक संस्कृत कीप्रमुख ध्वनियाँ हैं-

मूलस्वर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ।

संयुक्त स्वर- ए, ओ, ऐ, औ।

स्पर्श- (१) कवर्ग- क, ख, ग, घ, ङ

(२) चवर्ग- च, छ, ज, झ, ञ

(३) टवर्ग- ट, ठ, ड, ढ, ण

(४) तवर्ग- त, थ, द, ध, न

(५) पवर्ग- प, फ, ब, भ, म

अन्तःस्थ- य, र, ल, व

ऊष्म- श, ष, स, ह, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय(≍), उपध्मानीय(≍)

अनुनासिक- अनुस्वार(ं)

उपर्युक्त ध्वनियों में कुछ के विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं है। कुछ लोग 'ए' तथा ' ओ ' को मूल स्वर मानकर उनका संयुक्त रूप ऐ तथा औ मानते हैं। कुछ विद्वान् संस्कृत की मूर्द्धन्य ध्वनियों को द्रविड़ भाषाओं से ली गई बताते हैं। घोष ' ह ' का अघोष रूप 'ह' विसर्ग (:) माना जाता है । जिह्वामूलीय का उच्चारण ' ख ' की तरह होता था तथा उपध्मानीय का उच्चारण ' फ ' की तरह था। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार ' ऋ ' ध्वनि का उच्चारण ' वर्त्स्य ' (तवर्ग) माना गया था ।'लृ' ध्वनि का प्रयोग बहुत कम होता है ।वैदिक भाषा में ‘ ड् ’ तथा ‘ ढ् ’ ध्वनियाँ जब दो स्वरों के बीच आती हैं तो उनका रूप ' ढ़् ' तथा ' लह ' की भाँति होता है ।वैदिक भाषा में कहीं कहीं ‘ स् ' तथा ' म् ' से पहले आने वाले स् ' की जगह त् तथा द् हो जाते हैं ।वैदिक भाषा की ५ अनुनासिक स्पर्श - ध्वनियों में ' न् ' तथा ' म् ' ध्वनियाँ स्वतंत्र रूप से शब्द में किसी भी प्रकार प्रयोग की जा सकती हैं (अर्थात् प्रारम्भ में, बीच में, अन्त में) ङ्, ञ्, न् अनुनासिक स्पर्श ध्वनियाँ शब्द के प्रारम्भ में प्रयोग नहीं की जाती हैं। ‘ ङ् ’ का प्रयोग कण्ठ्य ध्वनियों के पहले, ञ् का तालव्य ध्वनियों के पहले तथा न् का प्रयोग मूर्द्धन्य ध्वनियों के पहले किया जाता है ।संस्कृत की ध्वनि ' श् ' (तालव्य) का विकास ' इण्डो - ईरानी ' शाखा में हुआ ।दन्त्य 'स' मूल भारोपीय भाषा की ध्वनि है ।मूर्धन्य ' ष ' संस्कृत की (भारतीय) ध्वनि है ।विसर्ग (:) या विसर्जनीय ध्वनि का विकास स् या र् ध्वनि से हुआ है। जब कवर्ग ध्वनियों से पहले विसर्ग आता है तो उच्चारण ‘जिह्वामूलीय’ होता है तथा विसर्ग पवर्ग ध्वनियों से पहले आता है तो उच्चारण ‘ उपध्मानीय’ होता है।

2.3.2 मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर मूल भारोपीय ध्वनियों और वैदिक संस्कृत की ध्वनियों में कुछ अन्तर हो गए हैं। वे हैं-

१. मूल भारोपीय के ह्रस्व मूलं स्वर अ, ऍ, ओ वैदिक संस्कृत में ' अ ' हो गए।

२. मूल भारोपीय के तीनों मूल दीर्घ स्वर आ, ए, ओ वैदिक संस्कृत में ' आ ' हो गए हैं।

३. मूल भारोपीय अन्तस्थ न्, म् का वैदिक संस्कृत में लोप हो गया है।

४. मूल भारोपीय में ३ प्रकार का कवर्ग है। वैदिक संस्कृत में केवल एक प्रकार का है।

५. वैदिक संस्कृत में चवर्ग और टवर्ग नवीन ध्वनियाँ हैं।

६. मूल भारोपीय ऊष्म स् के साथ ही वैदिक संस्कृत में‘ श् ’ और ‘ ष् ’ नये आ गये हैं।
७. मूल भारोपीय संयुक्त स्वर ह्रस्व और दीर्घ ३६ के स्थान पर केवल चार संयुक्त स्वर - ए, ओ, ऐ, औ शेष रहे।
८. वैदिक संस्कृत में ळ, ळह ध्वनियाँ ड, ढ के स्थान पर नवीन हैं। इनसे ही हिन्दी में क्रमशः ड़ और ढ़ ध्वनियाँ विकसित हुई हैं।
९. वैदिक संस्कृत में अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ग्वं - ग्वूं मिलते हैं। ये नासिक्य के साथ कंठ्य भी हैं। अल्प प्रयुक्त होने से इनकी गणना पृथक् नहीं की जाती है।

2.3.3 वैदिक संस्कृत की प्रमुख विशेषताएं

१. वैदिक भाषा की पदरचना श्लिष्ट योगात्मक थी।
२. पदरचना में विविधता और अनेकरूपता थी। यह विविधता लौकिक संस्कृत में अत्यन्त कम हो गई ।जैसे – वैदिक संस्कृतप्रथमाद्वि. - देवौ, देवा> संस्कृत -देवौ,वैदिक संस्कृतप्रथमाबहु. - देवाः, देवासः> संस्कृत - देवाः,वैदिक संस्कृततृतीयाबहु. - देवैः, देवेभिः > संस्कृत -देवैः ।लौकिक संस्कृत में एक - एक रूप रह गए। अपवाद - नियम भी कम हो गए।
३. धातु - रूपों में लेट् लकार का प्रयोग होता था ।लौकिकसंस्कृत में नहीं रहा।
४. धातुरूपों में ये विशेषताएँ भी थीं – (१) विकरण - व्यत्यय, शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण का विकरण हो जाता था, (२) पद- व्यत्यय, परस्मैपद आत्मनेपद में परिवर्तन, (३) लङ्आदि में अट् (अ) का अभाव, (४) मः > मसि, (५) द्वित्व का अभाव, के स्थान पर दाति, (६) अन्तिम स्वर को दीर्घ, चक्र > चक्रा, विद्म >विद्मा।
५. कृत् प्रत्ययों मेंतुम् के अर्थ में से, असे, अध्यै आदि (तुमर्थे सेसेनसे ……-अष्टाध्यायी-३.४.६) १५ प्रत्यय थे। संस्कृत में ' तुम्' ही शेष रहा है।
६. वेद में संगीतात्मक स्वर (Accent) की मुख्यता थी। संस्कृत में बलाघातात्मक स्वर हो गया।
७. वेद में उपसर्ग धातु से पृथक् भी प्रयुक्त होते थे, संस्कृत में नहीं ।जैसे- अभिगृणीहि को ‘ अभि गृणीहि ’। **अभि यज्ञं गृणीहि नः** ।(ऋग् ० १-१५-३)
८. वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत के तुल्य तीन लिंग और तीन वचन थे, पर लिंग और वचन में परिवर्तन भी हो जाता था। मधुनः को मधो :, मित्राः को मित्रः आदि।
९. वैदिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ के साथ प्लुत का भी प्रयोग प्रचलित था। रायो ३ वनिः। वर्ण्यां ३ अह। आध्यो ३ वृको ०।
१०. दो स्वरों के मध्य में ड >ळ और ढ >ळह हो जाता था ।ईडे >ईळे, मीढुषे >मीळहुषे। संस्कृत में ये दोनों ध्वनियाँ नहीं हैं, हिन्दी में ळ, ळह के विकसित रूप ड़ ढ़ हैं।
११. वैदिक संस्कृत में ' लृ ' स्वर का प्रयोग प्रचलित था।
१२.सन्धि- नियमों में पर्याप्त शिथिलता थी ।प्रगृह वाले स्थल पर भी संधि मिलती है, रोदसी + इमे > रोदसीमे। पूर्वरूप आदि संधियों का अभाव भी मिलता है ।उपप्रयन्तो अध्वरम् ।नो अव्यात्। शतधारो अयम्।
१३. वैदिक संस्कृत में मध्य स्वरागम (Anaptyxis) या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं ।जैसे- पृथ्वी पृथिवी, स्वर्ण >सुवर्ण, स्वर् >सुवर्, दर्शत >दरशत।

लौकिक संस्कृत में शब्दरूपों, धातुरूपों एवं प्रत्ययों की विविधता कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गए।

2.3.4 लौकिक संस्कृत या संस्कृत

लौकिक संस्कृत को प्राय: ' संस्कृत ' ही कहा जाता है ।वैदिक संस्कृत प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई लौकिक संस्कृत के रूप में प्रतिष्ठित हुई । ' लौकिक संस्कृत ' रूप धारण करते - करते वैदिक भाषा में कुछ अन्तर आ गए थे ।इसी भिन्नता के कारण इसे लौकिक संस्कृत, देववाणी, देवभाषाकहा गया है । इसका साहित्य ८ वीं शताब्दी ई ० पू ० से प्रारम्भ हो जाता है । ५०० ई ० पू ० तक संस्कृत बोलचाल या जनसम्पर्क की भाषा रही । धीरे - धीरे इसके रूप में भी परिवर्तन होने लगे तो पाणिनि तथा अन्य वैयाकरणों ने साहित्यिक संस्कृत के शुद्ध रूप को बनाए रखने के लिए व्याकरण बनाए । पाणिनि की ' अष्टाध्यायी ' इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई ।संस्कृत का साहित्यिक रूप तो नियमबद्ध होकर आज भी वैसा ही है किन्तु बोलचाल की भाषा विकसित होती रही तथा बाद में प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपों में परिवर्तित हो गयी ।संस्कृत साहित्य बड़ा विशाल है । महाभारत, रामायण, महाकाव्यों की रचना से लेकर अब तक संस्कृत साहित्य में रचनाएँ होती रही हैं । संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्व की भाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं को भी प्रभावित किया है। संस्कृत का प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं पर पड़ा है तथा भारत के बाहर भी चीनी, जापानी, तिब्बती, द ० पू ० एशियाई देशों की भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव मिलता है ।वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ बहुत कुछ मिलती हैं। वैदिक संस्कृत की कुछ ध्वनियाँ जैसे द्, लह, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियाँ लौकिक संस्कृत में नहीं पाई जाती हैं ।वैदिक संस्कृत में स्वर तीन प्रकार के थे- (१) उदात्त, (२) अनुदात्त तथा (३) स्वरित। स्वरों के उच्चारण पर विशेष ध्यान रखा जाता था ।स्वर परिवर्तन से अर्थपरिवर्तन भी हो जाता था । स्वर की शुद्धता का कितना महत्त्व था, यह इस श्लोक से प्रकट है- **मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥**

संस्कृत के पदों को दो भागों में बाँटा गया है- संज्ञा तथा क्रिया ।संज्ञाएँ दो प्रकार की अजन्त तथा हलन्त होती हैं । ‘अच्’ का अर्थ हुआ स्वर अतः अजन्त उन्हें कहते हैं जिनके बाद में स्वर आता है । इसी प्रकार ‘हल्’ का अर्थ हुआ व्यञ्जन ।हलन्त का अर्थ हुआ कि व्यंजन जिसके अन्त में है । संस्कृत भाषा में तीन लिंग पाये जाते हैं- (१) पुल्लिंग, (२) स्त्रीलिंग, तथा (३) नपुंसकलिंग । इसके अतिरिक्त आठ विभक्तियाँ (कारक) पायीं जाती हैं। प्रथमा (कर्त्ता), द्वितीया (कर्म), तृतीया (करण), चतुर्थी (सम्प्रदान), पञ्चमी (अपादान), षष्ठी (संबन्ध), अधिकरण (सप्तमी तथा सम्बोधन ।संज्ञा शब्दों के साथ रूप बनाते समय सुप् प्रत्यय लगाये जाते हैं । विशेषण - विशेष्य के अनुकूल विभक्तियाँ, वचन एवं लिंग बदलते हैं । विशेषण तथा संख्यावाची शब्द संज्ञा के अनुसार ही अधिकतर चलते हैं । सर्वनाम संस्कृत में उन शब्दों को माना जाता है जिनकी सर्वनामों के अन्तर्गत गणना हुयी है ।सर्वनाम शब्दों के रूप सात विभक्तियों में चलते हैं । सम्बोधन इन रूपों में नहीं पाया जाता है । संस्कृत के क्रिया रूपों को कई भागों में बाँटा गया है- (१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य, (३) भाववाच्य, (४) परस्मैपद, (५) आत्मनेपद, (६) प्रेरणार्थक णिजन्त । हर धातु के

रूप दश लकारों में पाये जाते हैं सभी का नाम ' ल ' से प्रारम्भ होने से इनको लकार कहा गया है ।लकार दश हैं - लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ । लिङ् लकार के दो भेद हैं- आशीर्लिङ् तथा विधिलिङ् ।हर लकार में तीन वचन (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) होते है तथा तीन पुरुष - उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा प्रथम अथवा अन्य पुरुष हैं। धातुएँ कई गणों में विभाजित हैं ।इन गणों के नाम इस प्रकार हैं- (१) भ्वादिगण, (२) अदादि गण, (३) जुहोत्यादि गण, (४) दिवादिगण, (५) स्वादि गण, (६) तुदादि गण, (७) रुधादिगण (८) तनादि गण, (९) क्रयादि गण, (१०) चुरादि गण । क्रियाओं के अकर्मक एवँ सकर्मक प्रकार भी होते हैं । इसके अतिरिक्त सन्नंत, यङन्त, नामधातु आदि क्रियाओं के रूप होते हैं। कुछ धातुएँ उभयपदी भी होती हैं । लौकिक संस्कृत में तीन काल- वर्तमान काल, भूतकाल तथा भविष्यत् काल होते हैं । जबकि वैदिक संस्कृत में ४ काल पाये जाते थे। लौकिक संस्कृत में भूत काल के तीन रूप, परोक्ष, सामान्य एवं अनद्यतन होते हैं। संस्कृत में विभक्तियों की अधिकता है। समास होना संस्कृत की विशेषता है। उपसर्ग लगाकर अथवा अव्यय के प्रयोग द्वारा अर्थान्तर हो जाता है । वाक्य रचना में पहले कर्ता का स्थान है, फिर कर्म का तथा फिर क्रिया का है लेकिन संस्कृत वाक्यों में यह नियम अनिवार्य नहीं है। इनका क्रम आगे पीछे भी हो सकता है। संस्कृत भाषा में कृदन्त तथा तद्धित का भी प्रयोग किया जाता है।

2.3.5 लौकिक संस्कृत की ध्वनियां

संस्कृत ध्वनियों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं-

१. वैदिक संस्कृत में ५२ ध्वनियाँ थीं ।लौकिकसंस्कृत में ४८ ध्वनियाँ रह गई हैं । लौकिक संस्कृत की ४ ध्वनियाँ प्रायः लुप्त हो गई हैं । ये हैं- ळ, ळह, जिह्वामूलीय(≍) और उपध्मानीय(≍)। लौकिकसंस्कृत में वैदिक संस्कृत की जिह्वामूलीय(≍) और उपध्मानीय(≍) के स्थान पर विसर्ग (:) का ही प्रयोग होता है ।

२. वैदिक ह्रस्व और दीर्घ ग्वं ध्वनिलौकिक संस्कृत में नहीं रही ।

३. भाषाशास्त्रियों ने नासिक्य ५ ध्वनियों में से केवल तीन - ण्, न्, म् को नासिक्य स्वनिम (Nasal Phoneme) माना है, और ङ् ज् को न् का स्वनांग (Allophone) ।संस्कृत में प्राङ्, दध्यङ् आदि रूप हैं, अतः ङ् को स्वनिम मानना आवश्यक है ।

४. संस्कृत में ‘ लृ ’ स्वर का प्रयोग केवल क्लृप् धातु में ही मिलता है ।

५. भाषाशास्त्री ऋ, ॠ, लृ को स्वतन्त्र स्वर नहीं मानते, अपितु इनको र् और ल् का स्वनन्त(आक्षरिक) रूप मानते हैं ।

६. उच्चारण की दृष्टि से ए, ओ, ऐ, औ का उच्चारण संयुक्त स्वरों के तुल्य न होकर मूल - स्वर के तुल्य होने लगा ।

७. वैदिक संस्कृत में अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि था ।संस्कृत में इसके दो रूप हो गए हैं- अनुस्वार, अनुनासिक। अनुस्वार (ं) की स्वतंत्र सत्ता है । यह नासिक्य ध्वनि है । अनुनासिक (ँ) अस्वतन्त्र है । पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर इसका अनुनासिक उच्चारण होता है ।

2.3.6 लौकिक संस्कृत भाषा की विशेषताएं

वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनि व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दरूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद-नियमों की संख्या कम हो गई। कुछ विशेषताएँ ये हैं-

१. लौकिकसंस्कृतमेंशब्दरूपों और धातुरूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।

२. सन्धि-नियमों की अनिवार्यता हो गई।

३. लेट् लकार का अभाव हो गया।

४. भाषा में उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।

५. कृत् प्रत्ययों आदि में अनेक प्रत्ययों के स्थान पर एक प्रत्यय होने लगे। तुमर्थक १५ प्रत्ययों से स्थान पर केवल ' तुम् ' प्रत्यय है।

६. शब्दकोश में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन ईम्, सीम् जैसे निपात लुप्त हो गए।वेदों में अत्यन्त प्रचलित अवस्यु, विचर्षणि, वीति, ऋक्वन्, उक्थ्य जैसे शब्द समाप्त हो गए। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं- दर्शत (दर्शनीय), दृशीक (सुन्दर), मूर (मूढ़), अमूर (विद्वान्), अक्तु (रात्रि), अमीवा (रोग), रपस् (चोट), ऋदूदर (कृपालु)।

७. वैदिक शब्दों के अर्थ में भी संस्कृत में अन्तर हो गया है।जैसे-पत् (वैदिक संस्कृत- उड़ना, लौकिक संस्कृत- गिरना), सह (वैदिक संस्कृत- जीतना, लौकिक संस्कृत-सहना), न (वैदिक संस्कृत- नहीं, तुल्य, लौकिक संस्कृत-नहीं), असुर (वैदिक संस्कृत- शक्तिशाली, लौकिक संस्कृत-दैत्य), अराति (वैदिक संस्कृत- कृपण, लौकिक संस्कृत - शत्रु), वध (वैदिक संस्कृत- घातक शस्त्र, लौकिक संस्कृत- हत्या), क्षिति (वैदिक संस्कृत- गृह, लौकिक संस्कृत-पृथ्वी)।

८. स्वरों में लृ का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। व्यंजनों जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग उठ गया।

९. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वर का प्रयोग होने लगा।

१०. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

2.3.7 वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएं एवं विषमताएं

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत में परस्पर अनेक समानताएँ एवं विषमताएँ दृष्टि गोचर होती हैं।

(क) समानताएं -

१. वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृतश्लिष्ट योगात्मक हैं।

२. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज हैं। रूढ शब्दों की संख्या कम है।

३. पद - निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्य समान हैं।

४. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान हैं।

५. समास- विधि दोनों में है।

६. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही हैं।

७. दोनों में ३ लिंग, ३ वचन, ३ पुरुष हैं।

८. वाक्य - रचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती है।

९. दोनों में वाक्य में पद क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है।

१०. दोनों में संधि - कार्य होते हैं। दोनों में कारक एवं विभक्तियाँ हैं।

(ख) विषमताएं-

१. वैदिक संस्कृत में अकारान्त पुंल्लिंग शब्दों के प्रथमा बहुवचन में अस् तथा असस् प्रत्ययों वाले रूप पाये जाते हैं जैसे मर्त्याः, मर्त्यासः, ब्राह्मणाः, ब्राह्मणासः आदि। परन्तु लौकिक संस्कृत में अस् प्रत्यय वाले मर्त्याः, ब्राह्मणाः जैसे रूप पाये जाते हैं।

२. वैदिक संस्कृत में देवेभिः, देवैः जैसे अकारान्त तृतीया बहुवचन के रूप मिलते हैं जिनमें भिस् तथा ऐस् प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है किन्तु लौकिक संस्कृत में देवैः जैसे एक तरह के रूप पाये जाते हैं।

३. वैदिक संस्कृत में अकारान्त रूपों में प्रथमा के द्विवचन में ' आ ' तथा इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एकवचन में ' ई ' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है जैसे- आश्विना एवं सुष्टुती परन्तु लौकिक संस्कृत में इनके स्थानों पर क्रमशः ' औ ' तथा ' आ ' प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है जैसे- अश्विनौ तथा सुष्टुत्या।

४. वैदिक संस्कृत में कहीं - कहीं पर सप्तमी एकवचन रूप नहीं मिलता किन्तु लौकिक संस्कृत में मिलता है।जैसे - परमे व्योमन्, लौकिकसंस्कृत में- व्योम्नि या व्योमनि।

५. वैदिक संस्कृत में नपुंसकलिंग के अकारान्त, रूपों के एक एकवचन में आ तथा आनि से युक्त अद्भुता तथा विश्वानि जैसे रूप पाये जाते हैं परन्तु लौकिक संस्कृत में ' आनि ' प्रत्यय का ही प्रयोग होकर विश्वानि तथा अद्भुतानि जैसे एक - एक रूप बनते हैं।

६. वैदिक संस्कृत में ' र ' का अधिक प्रयोग होता था किन्तु लौकिक संस्कृत में ' ल ' का प्रयोग अधिक हो गया।वैदिक शब्द रोहित, रोम, रभ के लिए लौकिक संस्कृत में लोहित, लोम, लभ जैसे शब्द हो गए।

७. वैदिक संस्कृत में शब्द के बीच तथा अन्त में आने वाले अम्, तु, त्य, ति आदि लौकिक संस्कृत में नहीं पाये जाते।

८. वैदिक संस्कृत में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित पाये जाते हैं लौकिक संस्कृत में इनका अभाव है।

९. वैदिक संस्कृत के कई स्वर लौकिक संस्कृत में नहीं पाये जाते हैं।

१०. वैदिक संस्कृत का ' धि ' प्रत्यय लौकिक संस्कृत में ' हि ' हो गया है जैसे एधि का एहि, जधि का जहि आदि।

११. वैदिक संस्कृत में मसि तथा मः प्रत्यय क्रियाओं में लगता था जैसे स्मृति, स्मृ :, मिनीमसि, मिनीमः आदि किन्तु लौकिक संस्कृत में इनका अभाव है।

१२. वैदिक संस्कृत में लोट् लकार के मध्यम पुरुष में बहुवचन शब्दों में त, तन, थन और तात प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है किन्तु लौकिक संस्कृत में ये प्रत्यय नहीं लगाये जाते हैं।

१३. वैदिक संस्कृत का लेट् लकार लौकिक संस्कृत में नहीं पाया जाता है।

१४. अनेक वैदिक शब्द अवस्तु, उक्थ, ऊति, ईम आदि लौकिक संस्कृत में नहीं पाये जाते हैं।

१५. वैदिक संस्कृत के कुछ शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत में बदल गया है।' न ' का अर्थ ' तरह ' था जो लौकिकसंस्कृत में ' नहीं ' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। मृडीक, अराति, अरि

इसी प्रकार के शब्द हैं जो वैदिक संस्कृत में क्रमश: कृपा, शत्रुता, ईश्वर के बोधक थे लौकिक संस्कृत में शिव तथा शत्रु के प्रतीक बन गए।

१६. वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में छन्दों तथा अलंकारों में भेद पाया जाता है।

१७. वैदिक संस्कृत के चार समास लौकिक संस्कृत में बढ़कर छः हो गये । द्विगु तथा अव्ययीभाव वैदिक संस्कृत में नहीं पाये जाते हैं।

१८. वैदिक संस्कृत में उपसर्गों का प्रयोग धातु शब्दों से अलग होता है किन्तु लौकिकसंस्कृत में धातु में जुड़कर होता है।

१९. वैदिक संस्कृत के सदृश स्वरभक्ति का प्रयोग लौकिकसंस्कृत में नहीं पाया जाता है।

२०. वैदिक संस्कृतकीध्वनियों में ळ, ळह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय हैंपरंतुलौकिक संस्कृत मेंये ध्वनियाँ नहीं रहीं।

२१. वैदिक संस्कृत में लृ स्वर का प्रयोग थालेकिनलौकिक संस्कृत मेंलृ स्वर लुप्तप्राय है।

२२. वैदिक संस्कृत मेंउदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था परंतु लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग नहीं रहा।

२३. वैदिक संस्कृत मेंस्वर - प्रयोग संगीतात्मक था। लौकिक संस्कृत में स्वर-प्रयोग बलाघातात्मक है।

२४. वैदिक संस्कृत मेंह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरथे। लौकिक संस्कृत मेंप्लुत प्रायः लुप्त हो गया।

२५. वैदिक संस्कृत केशब्दरूपों में बहुत विविधता थी। लौकिक संस्कृत मेंविविधता बहुत कम हो गई। उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे देवाः जनाः (प्रथमा विभक्ति बहु.)। जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप 'देवासः', 'जनामः' भी बनते हैं। इसी प्रकार, प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'विश्वानि' रूप वैदिक साहित्य में 'विश्वा' भी बन जाता है। तृतीय बहुवचन में वैदिक संस्कृत में 'देवैः' इस रूप के साथ-साथ 'देवेभिः' भी मिलता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'व्योम्नि' अथवा 'व्योमनि' इन रूपों के साथ-साथ वैदिक संस्कृत में 'व्योमन्' यह रूप भी प्राप्त होता है।

२६. वैदिक संस्कृत मेंधातुरूपों में बहुत विविधता थी। लौकिक संस्कृत में विविधताप्रायः समाप्त हो गई। उदाहरणार्थ पठ् से पठतु और पठेत् ये दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रियापदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो और लकार हैं : लट् लकार एवं निषेधात्मक लुङ्लकार (Injunctive), जो लौकिक संस्कृत में केवल निषेधार्थक 'मा' से प्रदर्शित होता है और जो लौकिक संस्कृत में पूर्णतः अप्राप्य है। इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट् प्रकृति से ही नहीं बनते हैं किन्तु लिट् प्रकृति और लुङ् प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातुरूप अत्यधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त लिङ् प्रत्यय सम्बन्धी भेद वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं जैसे मिनीमसि भी (लट्, उत्तम पुरुष बहुवचन में) प्रयुक्त होता है परन्तु लौकिक संस्कृत में 'मिनीमही' प्रयुक्त होता है।

२७. वैदिक संस्कृत केपरस्मैपद, आत्मनेपदों में परिवर्तन होता था। लौकिक संस्कृत में पद-परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है।

२८. वैदिक संस्कृत केपुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था। लौकिक संस्कृत में ये परिवर्तन निषिद्ध हो गए।

२९. वैदिक संस्कृत मेंलङ्, लुङ् आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था। लौकिक संस्कृत में अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है।

३०. वैदिक संस्कृत में तुम्, क्त्वा आदि अर्थों में अनेक प्रत्यय हैं वहीं लौकिक संस्कृत में तुम्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् आदि थोड़े प्रत्यय शेष रहे।

३१. वैदिक संस्कृत मेंसंधि - नियम ऐच्छिक थे लेकिन लौकिक संस्कृत में संधि- नियम आवश्यक हैं ।

३२. वैदिक संस्कृत में उपसर्ग की स्वतन्त्र सत्ता भी थी ।लौकिक संस्कृत में उपसर्ग स्वतंत्र नहीं रहे ।

३३. वैदिक संस्कृत में ईम्, सीम्, वै आदि निपात थे ।लौकिक संस्कृत मेंये निपात नहीं रहे ।

३४. वैदिक संस्कृत मेंअक्तु, अर्जुनी, श्वेत्या, गातु, ग्मा, ज्मा आदि शब्द थे । लौकिक संस्कृत मेंये वैदिक शब्द लुप्त हो गए ।

३५. वैदिक संस्कृत मेंअच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदिधातुएँ भी थीं । लौकिक संस्कृत में ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं थीं ।

३६. वैदिक संस्कृत मेंपत्, सह आदि धातुओं तथा न, असुर, अराति आदि शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत से भिन्न है ।

३७. वैदिक संस्कृत में ' तर ', ' तम ' प्रत्यय संज्ञा शब्दों से भी होते थे, यथा- वृत्रतरः आदि । लौकिक संस्कृत में ' तर ', ' तम ' प्रत्यय विशेषण शब्दों से ही होते हैं ।

३८. वैदिक संस्कृत मेंछन्दःपूर्ति के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग होता था, यथा- स्वर् >सुवर्, पृथ्वी >पृथिवी, इन्द्र >इन्दर, दर्शत >दरशत ।लौकिक संस्कृत मेंस्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता ।

बोध/अभ्यासप्रश्न:-

1.प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का काल कब से कब तक है ?

2.वैदिक संस्कृत के लिये प्रयुक्त अन्य नाम है-

(क) लौकिकसंस्कृत (ख)वेद

(ग) छान्दस् (घ)वाक्

3. वैदिक संस्कृत की प्रमुख ध्वनियोंमें 'य'________प्रकार की ध्वनि है ।

4. वैदिक संस्कृत में किन मूल भारोपीय अन्तःस्थ ध्वनियों का लोप हो गया ?

5. वैदिक भाषा की पदरचना _________है ।

6. 'देवासः' किस लौकिक संस्कृत शब्द का वैदिक रूप है?

7. निम्नलिखित में से किस लकार का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में होता हैं-

(क) लट्लकार (ख) लृट्लकार

(ग) लेट्लकार(घ) लोट्लकार

8. लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त कालों की संख्या ________है।

9. वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त स्वर का कौन सा प्रकार लौकिक संस्कृत में प्रायः लुप्त प्राय हो गया है ?

10.वैदिक तथा लौकिक संस्कृत ________भाषा परिवार की भाषाएं हैं ।

2.4 सारांश

इस इकाई में आपने वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में पद रचना कैसे होती है, उनकी भाषा गत संरचना कैसी

है, उनमें कितने काल हैं, कितने लिंग है, कितने वचन हैं, कितने पुरुष हैं, उनकी ध्वनियों की संख्या कितनी है, उनमें परस्पर क्या समानताएं तथा विषमताएं हैं, उनके प्रयोग नियमों तथा प्रयोग वैविध्य इत्यादि विषयों का ज्ञान आपने प्राप्त किया।

आपने यह भी जाना कि वैदिक संस्कृत का प्रयोग केवल वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है तथा परवर्ती साहित्य में लौकिक संस्कृत का प्रयोग प्राप्त होता है। इसके द्वारा संस्कृत भाषा के विकास-क्रम का ज्ञान भीआपने प्राप्त किया है।

2.5 शब्दावली

जिह्वामूलीय-क्, ख्, ग्, घ्, ङ् केआनेवाला महाप्राण विसर्ग जिसका उच्चारण जिसका उच्चारण जिह्वाकेमूल से हो, यथा- क≍

उपध्मानीय- प्, फ्, ब्, भ्, म्, के पहले आनेवाला महाप्राण विसर्ग जिसका उच्चारण ओठ से होता है, यथा- प≍

छान्दस्- वैदिक संस्कृत

श्लिष्टयोगात्मक-वह भाषा जिसमें संबंध तत्व को जोड़ने के कारण अर्थतत्वके भाग में भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाताहै

अच्-समस्तस्वर

हल्- समस्तव्यंजन

अनुनासिक- जिन स्वरों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से किया जाता है

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.२५०० ई. पू. से ५०० ई. पू. तक	2.(ग) छान्दस्	3. अन्तःस्थ
4. न्, म्	5. श्लिष्टयोगात्मक	6. देवाः
7. (ग) लेट् लकार	8. ३ (तीन)	9. प्लुतस्वर
10. भारोपीय		

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ.कपिलदेवद्विवेदी -भाषा-विज्ञानएवंभाषा-शास्त्र-विश्वविद्यालयप्रकाशन, वाराणसी.

2. प्रो. शिवबालकद्विवेदी-संस्कृतभाषाविज्ञान - ग्रन्थम, कानपुर.

3. डॉ. भोलाशंकरव्यास -संस्कृतकाभाषाशास्त्रीयअध्ययन-भारतीयज्ञानपीठ, वाराणसी.

4. डॉ. देवीदत्तशर्मा-भाषिकीऔरसंस्कृतभाषा-हरियाणासाहित्यअकादमी, चण्डीगढ़.

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. भाषाविज्ञान- डॉ. भोलानाथतिवारी

2. An Inroduction to Sanskrit Linguistics- M. Srimannarayana Murti

3. Linguistic Introduction to Sanskrit- Batakrishna Ghosh

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.वैदिक संस्कृत भाषा की विवेचना करें।

2. लौकिक संस्कृत भाषा पर विस्तृतआलोचनात्मक टिप्पणी लिखें।

3. वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा की समानताओं तथा विषमताओं पर प्रकाश डालें।

इकाई 3. पालि प्राकृत एवम् अपभ्रंश भाषा

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2. उद्देश्य
3.3 मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ
3.4 प्राचीन प्राकृत अथवा पालि (प्रथम प्राकृत)
  3.4.1. प्राकृत भाषा की उत्पत्ति
  3.4.2. पालि शब्द की उत्पत्ति
  3.4.3. पालि भाषा की प्रमुख विशेषताएँ
  3.4.4. शिलालेखीय अथवा लाट-प्राकृत
  3.4.5. शिलालेखी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ
3.5 मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)
  3.5.1. शौरसेनी-प्राकृत
  3.5.2. महाराष्ट्री-प्राकृत
  3.5.3. मागधी
  3.5.4. अर्धमागधी
  3.5.5. पैशाची
3.6. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ
3.7. अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत/तृतीय प्राकृत)
  3.7.1.अपभ्रंश भाषा की प्रमुख विशेषताएँ
3.8 सारांश
3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं उपयोगी पुस्तकें
3.10. बोध प्रश्नों के उत्तर
3.11. निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन-परम्परा में विविध विषयों के साथ-साथ भाषा-वैज्ञानिक विषयों का चिन्तन भी विद्यमान रहा है। भारतीय भाषाओं को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जाता है - प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं जिनके अन्तर्गत वैदिक एवं लौकिक संस्कृत को रखा जाता है। मध्यकालीन आर्य भाषाएं जिनमें पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश की गणना की जाती है तथा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएं जिनके अन्तर्गत आधुनिक भारतीय भाषाओं की चर्चा की जाती है। इस इकाई में आप मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं अर्थात् पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन करेंगे। इसके अन्तर्गत मध्यकालीन आर्य भाषाओं की उत्पत्ति, उनकी पृथक्-पृथक् विशेषताएं, उनका क्षेत्र तथा उनसे सम्बद्ध अन्य विषयों का भी अध्ययन करेंगे। भाषाओं की विशेषताओं का वर्णन करते समय जो उनकी विशेषताएं वर्णित की जाएंगी। वो मुख्य रूप से संस्कृत की तुलना में ही की जाएंगी।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप—

- मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश) के काल का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- प्राकृत की उत्पत्ति से सम्बद्ध विभिन्न मतों का अध्ययन करेंगे।
- पालि शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसकी विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- मध्य प्राकृत जैसे - शौरसेनी, मागधी माहाराष्ट्री अर्धमागधी तथा पैशाची प्राकृत भाषाओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- आप अपभ्रंश भाषाओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त करेंगे।
- इस इकाई के अन्तर्गत आप भाषाई परिवर्तन को भी जान पाएंगे जैसे संस्कृत का कोई स्वर अथवा वर्ण पालि, विभिन्न प्रकार की प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के आते-आते किस प्रकार परिवर्तित हुआ और इससे उन-उन भाषाओं के शब्दों में किस प्रकार बदलाव हुआ।

3.3 मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएं

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जाता है-

१.प्राचीन प्राकृत अथवा पालि (५०० ई.पू.-१०० ई.)।

२.मध्यकालीन प्राकृत (१०० ई.-५०० ई.)।

३.परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (५०० ई.-१००० ई.)।

3.4 प्राचीन प्राकृत अथवा पालि (प्रथम प्राकृत)

प्राचीन प्राकृत में इनका समावेश है: - तृतीय शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. तक के शिलालेख, पालि बौद्धग्रन्थ- महावंश, जातक आदि, प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकों की भाषा, जैसे- अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। इसीको 'प्रथम प्राकृत' भी कहते हैं।

3.4.1. प्राकृत की उत्पत्ति

प्राकृत भाषा की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों ने तीन मत प्रस्तुत किए हैं—

(1) संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति - प्राकृतभाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से ही स्वीकार की है। संस्कृत भाषा को ही आधार मानकर उन्होंने ध्वनि-भेद आदि का विवरण दिया है। ' प्रकृति ' का अर्थ है - मूलभाषा संस्कृत, उत्पन्न भाषा प्राकृत है। हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों का यही मत है — यथा 1. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। (हेमचन्द्र) २. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (प्राकृत-सर्वस्व) ३. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। (प्राकृत-चन्द्रिका) ४. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (षड्भाषाचन्द्रिका) ५. प्राकृतस्य तु स्वमेव संस्कृतं योनिः। (प्राकृत-संजीवनी)।

(2) प्राकृत प्राचीन जनभाषा - इस मत के प्रतिपादक पाश्चात्त्य विद्वान् हैं। इस मत के अनुसार, प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा है।जैसाकि कहा भी गया है - 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'। तात्पर्य यही है कि प्राकृत का ही परिष्कृत रूप संस्कृत भाषा है अर्थात् प्राकृत से संस्कृत का उद्भव हुआ है।

(3) प्राकृत की स्वतन्त्र परम्परा- कुछ विद्वानों ने यह मत भी प्रस्तुत किया है कि न संस्कृत की उत्पत्ति प्राकृत से हुई है और न ही प्राकृत की संस्कृत से। दोनों ही भाषाओं (संस्कृत एवं प्राकृत) की स्वतन्त्र परम्पराएँ हैं।

समीक्षा- उपर्युक्त मतों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वस्तुतः संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। इस विषय में भ्रम और विवाद का कारण केवल 'संस्कृत' शब्द है। विद्वानों ने 'संस्कृत' शब्द से अभिप्राय लिया है- पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत भाषा। यहाँ पर विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ़ और नियम-निगडित हो गई, अतः इसमें कोई परिवर्तन/परिवर्धन संभव नहीं था यही कारण है कि कुछ विद्वानों के अनुसार यह जनभाषा भी नहीं रही और किसी भाषा की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। परन्तु कई पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोकव्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे — साहित्यिक तथा जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से. प्रचलित रही तथा इसमें ध्वनि-भेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। पतंजलिकृत महाभाष्य के एक कथन से भी यही स्पष्ट होता है - 'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो वभूवुः।। महाभाष्य.आ.१।।'। यद् वा नः, तद् वा नः अर्थात्, 'हमें इससे या उससे क्या' के स्थान पर 'यर्वाणः-तर्वाणः' बोलने के कारण इन ऋषियों का नाम ही 'यर्वाण-तण' हो गया। यज्ञादि में इस प्रकार का अशुद्ध प्रयोग नहीं किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक-संस्कृत के अतिरिक्त संस्कृत का बोलचाल का भी रूप प्रचलित था। जनभाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाषा में ९ ० प्रतिशत नए शब्द विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम निर्मित या प्रयुक्त होते हैं, इनको जनभाषा में अपनाया जाता है। ५ या १० प्रतिशत देशज शब्द होते हैं। इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण सतत रूप से चलता रहता है। संस्कृत से तात्पर्य केवल पाणिनि-संगत भाषा ही नहीं समझना चाहिए। जन-व्यवहृत भाषा का साहित्यिक रूप 'संस्कृत' कहा गया और बोलचाल की संस्कृत का नाम 'प्राकृत' रहा। इसी आधार पर प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि-परिवर्तन आदि समझाए हैं। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि (चतुर्थ शताब्दी ई. पू.) ने भी यही मत प्रतिपादित किया है

कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है। एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम् 1, विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानाऽवस्थाऽन्तरात्मकम् ॥ नाट्यशास्त्र॥ भाषा विधानाध्याय.१७-२॥

3.4.2. पालि शब्द की व्युत्पत्ति

'पालि' इस नाम के विषय में अनेक मत हैं। सर्वप्रथम इस नाम का प्रयोग चतुर्थ शताब्दी में लिखित ग्रन्थ 'दीपवंस' में किया गया जिसका अर्थ 'बुद्ध वचन' था। जिस भाषा में बुद्ध ने अपने विचार जन-सामान्य के समक्ष व्यक्त किए तथा उनको धार्मिक साहित्य के रूप में सुरक्षित किया गया उस पालि भाषा को पहले क्षेत्र के नाम से मागधी, अर्धमागधी भी कहा गया है। 'पालि' नाम का अधिक प्रयोग पाश्चात्त्य विद्वानों ने ही किया है। इस 'पालि' शब्द की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित मत हैं -

१. आचार्य बृद्धघोष (चतुर्थ शताब्दी ई.) तथा आचार्य धम्मपाल (छठी शताब्दी ई.) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है। वहीं से यह शब्द 'पालि' भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा।

२. आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से पालि की उत्पत्ति मानी है उनके अनुसार, पंक्ति >पंति >पत्ति >पल्लि >पालि।

३. भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाठ >पाळ >पाळि >पालि।

४. भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (बुद्धोपदेश) शब्द से पालि को उत्पन्न माना है। परियाय >पलियाय >पालियाय >पालि।

५. डा.मैक्स वेलेसन जोकि जर्मन विद्वान् हैं ने पाटलि (पाटलिपुत्र) से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाटलि >पाडलि >पालि।

६. पल्लि (गाँव) शब्द से पालि। पल्लि >पालि।

७. भण्डारकर तथा वाकरनागल के अनुसार प्राकृत शब्द से 'पालि' शब्द बना है। । प्राकृत >पाकट >पाअड >पाअल >पालि ।

८. अभिधानप्पदीपिका (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है। पा — पालेति रक्खतीति पालि, जो रक्षा करती है या पालन करती है।

९. अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि शब्द स्वीकार किया है। पाल् + इ = पालि।

10. कुछ विद्वानों के अनुसार 'प्रालेय' अथवा 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से 'पालि' की उत्पत्ति हुयी है।

11. राजवाडे के मत से 'प्रकट' शब्द से पालि बना है। (प्रकट >पाअड >पाअल >पालि)।

उक्त सभी मतों की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ मत बौद्धिक व्यायाममात्र हैं। जैसे - पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि। आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्ध-वचन या बुद्धोपदेश के लिए 'पालि' शब्द चतुर्थ शताब्दी ई ० में प्रचलित था। यद्यपि पल्लि शब्द से 'पालि' सरलता से बन सकता है, परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परियाय (सं. पर्याय) का बुद्धोपदेश अर्थ में भनु शिलालेख में प्रयोग है- धम्मपलियायानि॥ परियाय >पलियाय पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा।

3.4.3. पालि भाषा की प्रमुख विशेषताएं

पालि की वो प्रमुख विशेषताएं जो पालि को अन्य भाषाओं से भिन्न एवं विशिष्ट बनाती हैं, निम्नलिखित हैं -

१. पालि में वैदिक संस्कृत की ५ स्वर-ध्वनियाँ लुप्त हो गई — ऋ, ऋ, ऌ, ऐ तथा औ।

२. पालि में वैदिक-संस्कृत के ५ व्यंजन लुप्त हो गए — श, ष, विसर्ग (ः), जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय।

३. पालि में दो नवीन स्वरों का आगमन हुआ — ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ओ।

४. पालि में वैदिक संस्कृत के दो व्यंजन ळ् ळह भी मिलते हैं।

५. पालि में संस्कृत के ऐ >ए, ओ >ओ हो गए हैं।

६. पालि में संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाता है जैसे - दीर्घ >दीघ। उसी प्रकार, दीर्घ स्वर को ह्रस्व हो जाता है, यदि बाद में संयुक्त-व्यन्जन हो तो। जीर्ण >जिण्ण।

७. पालि में अघोष वर्ण घोष हो जाता है। कूं >ग् — प्रतिकृत्य >पटिगच्च, च् >ज्– स्रुच् >स्रुजा, त् >द् - वितस्ति >विदत्थि।

८. पालि में ड, ढ को क्रमशः ळ, ळह हो जाता है। वडवा >बळवा।

९. संधियों में केवल तीन संधियाँ हैं - (१) स्वरसंधि, (२) व्यंजनसंधि तथा (३) निग्गहीत (अनुस्वार)-संधि।

विसर्गसंधि आदि नहीं हैं।

१०. पालि में हलन्त शब्द नहीं हैं। हलन्त शब्दों को पालि में अकारान्त बना दिया जाता है या अन्तिम व्यंजन का आत्मन् >अत्त।

११. पालि में संस्कृत की भांति द्विवचन नहीं होता है।

१२. पालि में तीनों लिंग हैं। वहाँ

हलन्त शब्दों को धनवत् >घनवन्त, लोप कर देते हैं।

१३. पालि के शब्दरूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं।

१४. स्त्री-प्रत्यय सात हैं- आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति।

अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोरू, युवति।

१५. पालि में ५०० से अधिक धातुएँ हैं, ९ गण हैं। वहाँ अदादि और जुहोत्यादि नहीं हैं। क्र्यादि के दो भेद हैं — ना, णा वाले।

१६. पालि में लेट् लकार वाले भी रूप मिलते हैं — हनासि, दहासि।

१७. पालि में णिच्, सन्, यङ्, नामधातु प्रत्यय वाले रूप प्राप्त होते हैं।

१८. पालि में वैदिक संस्कृत के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय प्राप्त होते हैं — तुम्, तवे, तये, तुये 1 जि >जिनितुम्, हा >पहातवे, गण्- गणेतुये आदि।

१९. पालि के आते-आते में आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया। पालि में केवल परस्मैपद ही शेष रहा।

२०. पालि में टर्नर आदि के अनुसार दोनों प्रकार का स्वराघात था - संगीता- त्मक और बलाघातात्मक।

२१. पालि में तद्भव शब्दों का आधिक्य है तथा तत्सम और देशज शब्द कम हैं।

22. प्राचीन पालि वैदिक संस्कृत के तथा बाद की पालि लौकिक संस्कृत के समीप है जो इसके परिवर्तित रूप को दर्शाता है।

3.4.4. शिलालेखीय प्राकृत अथवा लाट-प्राकृत

प्राचीन प्राकृत के अन्तर्गत अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती है इसीलिए अशोक के शिलालेखों की प्राकृत को 'शिलालेखी प्राकृत' कहते हैं। यही अशोकन प्राकृत अथवा लाट प्राकृत भी कहलाती है। अशोक के अभिलेख लेख किसी एक क्षेत्र की भाषा में नहीं हैं। जिन जिन क्षेत्रों में अशोक ने धर्म सम्बन्धी तथा शासन सम्बन्धी निर्देश उत्कीर्ण कराये उनमें उन उन क्षेत्रों की भाषा का प्रयोग किया गया है। इन लेखों की लिपि ब्राह्मी तथा खरोष्ठी है। लेखों से उस समय की कई बोलियों का ज्ञान होता है। इन लेखों की भाषा के ये पाँच रूप पाये जाते हैं - (१) उत्तरी पश्चिमी, (२) दक्षिणी पश्चिमी, (३) पूर्वी, (४) मध्यदेशी एवं (५) दक्षिणी। इन लेखों की भाषा में ध्वनिगत एवं रूपगत भेद पाये जाते हैं।

3.4.5. शिलालेखी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएं

१. शिलालेखी प्राकृत की ध्वनियाँ पालि के तुल्य ही हैं। पालि में केवल 'स' है, किन्तु शाहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में श ष स तीनों मिलते हैं।

२. कुछ शिलालेखों में ण्, व् नहीं हैं। र् को ल् है। प्र. १ कारक - चिह्न 'ए' है। कुछ में ण्, न् हैं। प्र ० १ में 'ओ' है।

३. शिलालेखी प्राकृत में दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण, स्वरभक्ति, वर्णलोप, गुण-परिवर्तन, व्यंजन - परिवर्तन, सरलीकरण आदि प्रकार मिलते हैं।

४. हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गएए कुछ प्राचीन हलन्त शब्दरूप शेष बचे। जैसे - मातरि, पितरि लाजिना, राजो इत्यादि।

५. इसके क्रियारूप प्रायः पालि के ही तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है। कर्मवाच्य जैसे - णिच्, सन्, तुम्, त्वा, शतृ आदि प्रत्यय हैं।

६. तीन लिंग हैं। द्विवचन नहीं है।

3.5 मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

इस भाषा को 'साहित्यिक प्राकृत' भी कहा जाता है। इस काल में प्राकृत का विकसित (साहित्यिक) रूप प्राप्त होता है। इस काल के आते-आते प्राकृत के प्रान्तीय या भौगोलिक भेद भी हो गए। विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वतन्त्र रूप प्रयुक्त होने लगे। इस समय विस्तृत साहित्य की भी रचना होने लगी। मुख्य और गौण प्राकृत भाषाएँ - प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में विचार किया है।

उनके मतानुसार ७ मुख्य प्राकृत हैं और ७ ही गौण (विभाषा)। मुख्य प्राकृत हैं — मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी (शौरसेनी), अर्धमागधी, वाह, लोक, दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री)। गौण ७ प्राकृतों के अन्तर्गत शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्राविड़ी, उद्जा, वनेचरी की गणना की जाती है।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।

बाहलीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः।। शबराभीर - चाण्डाल - सचर - द्रविडोद्रजाः वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः।।नाट्यशास्त्र.१७.४८,४९।। प्राकृत - व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं- शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची।

मागधी के दो रूप हो गए है - मागधी और अर्धमागधी। प्राकृत के मुख्यतः पाँच भेदों का ही वर्णन हमें प्राप्त होता है। प्राकृत के अन्य भेदों और उपभेदों का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता।

मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

3.5.1. शौरसेनी-प्राकृत

इस भाषा का क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आस-पास) का प्रदेश था। इसका विकास पालि-कालीन स्थानीय भाषा से हुआ। यह मध्यदेश की भाषा थी। नाटकों में प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषाओं में सर्वा-धिक प्रयोग इसी भाषा का हुआ है। स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री का प्रयोग होता था। शौरसेनी प्राकृत से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है। राजशेखर- कृत कर्पूरमंजरी का समस्त गद्य शौरसेनी प्राकृत में ही है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में भी गद्य शौरसेनी में ही है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है ।

यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों द्वारा बोली जाने वाली भाषा थी। इसमें सरलता, सरसता, श्रवण - सुखदता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं -

१. प्रथमा एक. में कारक चिह्न ओ होता है। पुत्रः >पुत्तो।

२. दो स्वरों के मध्यगत संस्कृत के त को द और थ को ध क्रमशः होता है - । पृच्छति >पुच्छदि, शत >सद। अथ >अध, कथं >कधं।

३. मध्यगत क, त को क्रमश: ग, द होते हैं। नायक: >णाअगु, अतिथि >अदिधि, कृत >किद ।
द प्रायः शेष रहता है। जलदः >जलदो।

४. मध्यगत महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, भ को ह हो जाता है। यथा - मुख >मुह, मेघ >मेह, वधू >वहू, अभिनव >अहिणव।

५. न को ण हो जाता है। नाथ >णाध, भगिनी >बहिणी।

६. मध्यगत प को व होता है। दीप >दीव, अपि >अवि ।

७. क्ष को क्ख, ध्य को झ होता है। इक्षु >इक्खु, मध्य >मज्झ।
जवान।

८. इस भाषा में मुख्य रूप से परस्मैपद ही है तथा आत्मनेपद प्रायः समाप्त-सा हो गया है।

9. लिट्, लङ्, लुङ्, विधिलिङ् प्रायः समाप्त हो गए।

१०. द्विवचन का अभाव हो गया।

3.5.2. महाराष्ट्री प्राकृत (माहाराष्ट्री)

इस भाषा का मूलस्थान महाराष्ट्र है और माहाराष्ट्री शुद्ध शब्द है। इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है। प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है ।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत में पद्य रचना महाराष्ट्री में ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं— राजा हाल कृत ' गाहा सत्तसई ' (गाथा - सप्तशती), प्रवरसेन - कृत ' रावणवहो ' (सेतुबन्धः), वाक्पति कृत ' गउडवहो ' (गौडवधः), जयवल्लभ - कृत ' वज्जालग्ग ', हेमचन्द्राचार्य - कृत ' कुमार पालचरित ' ।

ये सभी काव्यग्रन्थ हैं। कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में हैं। भरत मुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है। दण्डी ने स्वविरचित ग्रन्थ काव्यादर्श में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माना है ।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।।काव्यादर्श.१.३४।। अवन्ती और बालीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत हैं। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

१. स्वर - बाहुल्य। मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता है। अतएव संगीतात्मकता है।

२. मध्यगत अल्पप्राण (क, ग, च, ज, त, द) का लोप। लोकः >लोओ, हृदय >हिअअ, प्राकृत >पाउअ, जानाति >जाणाइ ।

३. मध्यगत य का सदा लोप होता है। प्रिय >पिअ, वियोग >विओआ।

४. मध्यगत महाप्राण स्पर्शों (ख, घ, थ, ध, फ, भ) को ह होता है। अथ >अह, कथं>कहं, मुख>मुह, लघुक>लहुअ। थ को ह महा ० की प्रमुख विशेषता है। शौरसेनी में थ को ध होता है।

५. ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को प्रायः ह हो जाता है। दश >दह, धनुष >धणुह, पाषाण >पाहाण, दिवसं >दिअहं।

६. क्ष को च्छ होता है। कुक्षि >कुच्छि, इक्षु >उच्छु।

७. कर्मवाच्य य को इज्ज होता है। पृच्छयते >पुच्छिज्जइ।

८. त्वा को ऊण हो जाता है। पृष्ट्वा >पुच्छिऊण।

9. तुम् को उं और क्त (त) को अ होता है। कर्तुम्>काउं, गृहीत>गहिअ।

१०. अनीय को अणिज्ज होता है। करणीय>करणिज्ज।

3.5.3. मागधी

मगध की भाषा होने से इसे मागधी कहा गया। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है । इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के मृच्छकटिक में मागधी का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र (अ.१७ श्लोक ५०-५६) के अनुसार यह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, क्षपणक, राक्षस, चेट आदि मागधी बोलते थे ।

लंका में पालि को ' मागधी ' कहते हैं, क्योंकि पालि मगध से वहाँ गई थी। इसके तीन प्रकार मिलते हैं- -शाकारी, चाण्डाली, शाबरी। मागधी से ही भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उड़िया, असमी भाषाएं विकसित हुई हैं। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

१. ए, स् को शहोता है। पुत्तस्स >पुत्तश्श, भविष्यति >भविश्शदि।

२. र को ल होता है। पुरुषः>पुलिशे, राज्ञः>लाआणो।

३. ज को य होता है। संस्कृत का य पूर्ववत् रहता है। जानाति >याणदि, जायते >यायदे। यथा >यथा।

४. द्य, र्ज, र्य को य्य होता है। अद्य और आर्य >अय्य, मद्य >मय्य।

५. ण्य, न्य, ज्ञ, ज को ज्ञ होता है। पुण्य >पुज्ञ, अन्य >अञ्ज, राज्ञः >राजो, अञ्जलि >अञ्जलि।

६. मध्यगत च्छ को श्च होता है। गच्छति >गश्चदि।

७. र्थ और स्थ को स्त होता है। अर्थः >अस्ते, उपस्थित >उवस्तिद।

८. ष्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है। शुष्क >शुस्क, कष्ट >कस्ट।

9. प्रथमा एक ० में विसर्ग को ए होता है। देवः >देवे, एषः >एशे।

3.5.4. अर्धमागधी

इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है। यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी। इसमें मागधी के गुण अधिक हैं। साथ ही शौरसेनी के गुण भी हैं, अतः इसे

अर्धमागधी कहा जाता है। इसको ऋषिभाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं। भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में हैं। इसमें प्रचुर मात्रा में जैन-साहित्य मिलता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे चेट, राजपुत्र एवं सेठों की भाषा बताया है ।

(चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी।।सा.द.६.१६०।। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त होता है। मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

१. दन्त्य को मूर्धन्य होता है। स्थित>ठिय।

२. श, ष को स होता है। श्रावक >सावग।

३. य को ज हो जाता है। यौवन>जोव्वण।

४. संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वरभक्ति के द्वारा विच्छेद होता है। कृष्ण >कसिन, स्नान >सिनान ।

५. संधि - स्थलों पर म् लग जाता है। अन्योन्यम् >अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम् ।

६. स्पर्श का लोप होने पर ' य ' श्रुति। सागर >सायर।

७. संधि - स्थलों पर स्वरभक्ति का प्रयोग होता है। द्वयहेन >दुयाहेण, स्वाख्यात >सुयक्खाय।

८. गद्य और पद्य में भेद है। गद्य में मागधी के तुल्य प्र ० १ में ' ए ' और पद्य में शौ ० के तुल्य ' ओ ' है।

3.5.5. पैशाची

पैशाची को पैशाचिकी, भूतभाषा, भूतभाषित आदि नामों से भी जाना जाता था। इसका क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र था। महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। गुणाढ्य की अतिप्रसिद्ध रचना ' बृहत्कथा ' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इसका साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप ' लहँदा ' भाषा है।

हेमचन्द्र - कृत कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में तथा हम्मीरमदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग प्राप्त होता है। राक्षस, पिशाच, निम्नकोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे। (रक्ष: पिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत्।।षड्भाषाचन्द्रिका) इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

१. वर्ग के तृतीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर >नकर, तडाग >तटाक।

२. वर्ग के चतुर्थ को द्वितीय वर्ण होता है। निर्झर >निच्छर, मेघः >मेखो।

३. पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।

४. र - ल का विपर्यय है। कभी र को ल, कभी ल को र होता है। रुद्र >लुद्द, कुमार >कुमाल, रुधिरं >लुधिरं।

५. ज्ञ, न्य, ण्य को ञ्ञ होता है। अन्य >अञ्ञ, पुण्य >पुञ्ञ, प्रज्ञा >पञ्ञा।

६. स्वरभक्ति अर्थात् मध्य में अ, इ, उ आ जाता है। कष्टं >कसटं, स्नानं >सिनानं, भार्या >भारिया।

7. ष को श या स होता है। तिष्ठति >चिश्तदि, विषमः >विसमो ।

८. मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुरं >मथुरं, गाढं >काठं।

3.6. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ -

१. प्राकृत भी संस्कृत के तुल्य श्लिष्ट योगात्मक भाषा है।

२. संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।
३. शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या कम हो गई।
४. शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रह गए।
५. धातुरूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे ।
६. अस्पष्टता के निवारणार्थ परसर्गों (कारक - चिह्नों आदि) की सृष्टि हुई ।
७. भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई ।
८. शब्दरूप प्राय: अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातुरूप प्रायः भ्वादिगण के तुल्य हो गए।
९. चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गए।
१०. लङ्, लिट् और लुङ् लकारों का अभाव हो गया।
११. द्विवचन का अभाव हो गया ।
१२. आत्मनेपद का भी अभाव हो गया।
१३. ध्वनि - परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर सवर्ण या पूर्व सवर्ण हुआ।
१४. कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में -- ऋ, ऋ, लु, ऐ, औ। व्यंजनों में य, श, ष, विसर्ग। मागधी में य, श हैं, स नहीं ।
१५. संस्कृत में अप्राप्त दो नए स्वर आ गए — ह्रस्व एँ और ओं।
१६. साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।
१७. ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते ।
१८. स्वर - सम्बन्धी मुख्य परिवर्तन इस प्रकार हुए —
(अ) ऋ को अ, इ या उ हो गया ।
(आ) ऐ को ए, औ को ओ ।
(इ) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर।
(ई) अनुदात्त स्वर का लोप।
(उ) संप्रसारण होकर य् को इ, व् को उ हुआ ।
१९. मध्यगत वर्णों में मुख्य परिवर्तन इस प्रकार हुए -
(अ) मध्यगत क त प का लोप होता है या उन्हें ग द ब होते हैं।
(आ) मध्यगत य का सदा लोप होता है।
(इ) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, ध आदि) को ह हो जाता है।
(ई) मध्यगत ट को ड और ठ को ढ होता है।
(उ) प को व होता है।
(ऊ) ११ से १८ संख्याओं में द को र होता है।
(ऋ) श ष स को स, मागधी में श।
२०. संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन इस प्रकार हुए -
(अ) दो स्पर्श वर्गों में परसवर्ण होता है ।
(आ) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा ।
(इ) ज्ञ को ण्ण्।
(ई) स्पर्श बाद में होने पर ल् को परसवर्ण।
(उ) क्ष को क्ख या च्छ ।

(ऊ) त्य >च्च, ध्य >झ।
(ऋ) र् को स्पर्श का सवर्ण।
२१. प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में ' ए ' होता है, अन्यत्र ' ओ '।
२२. धातुओं के अर्थों में काफी अन्तर हुआ है।
२३. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर हो गए हैं।
२४. तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम।

3.7. अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत/तृतीय प्राकृत)

'अपभ्रंश' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य व्याडि (जोकि पतंजलि के पूर्ववर्ती थे) और स्वयं पतंजलि (१५० ई.पू.) ने किया है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य में वर्णित है - एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। । आह्निक.१।। तत्पश्चात् भर्तृहरि, भामह, दण्डी आदि ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरत मुनि (४०० ई.पू.) के नाट्यशास्त्र में प्राप्त होते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ में भी अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (७वीं शताब्दी ई.) के समय से इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। अपभ्रंश में विशाल साहित्य है। इसमें प्रमुख रचनाएँ हैं— रविषेणाचार्यकृत पउमचरिउ, पुष्पदन्त कृत महापुराण और जसहर-चरिउ (यशोधरचरित), विद्यापतिकृत 'कीर्तिलता', अद्दहमाण (अब्दुर् रहमान) -कृत 'सन्देश - रासक'। अपभ्रंश को देशभाषा, देसी, अपभ्रष्ट, अवहट्ट आदि नामों से भी जाना जाता था। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में तीन अपभ्रंश माने हैं — नागर, उपनागर, ब्राचड। नागर गुजरात की अपभ्रंश, ब्राचड सिन्ध की, उपनागर दोनों के मध्य की मानी है। स्पष्टतया यह पश्चिमी प्राकृतों का ही विभाजन है। सामान्यतया विद्वानों का मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ । इनसे ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुईं । प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी अपभ्रंश भाषाएँ हैं।!

3.7.1.अपभ्रंश भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

अपभ्रंश की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं -
१. भाषा श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक होने लगी।
२. प्राकृत में प्रयुक्त ध्वनियाँ ही अपभ्रंश में भी थीं।
३. वैदिक संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघात स्वर हो गया।
४. सभी स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋको छोड़कर) अपभ्रंश में भी है।
५. अपभ्रंश में शब्दों के अन्त में उ लगाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। अंगु, जगु, पुत्तु।
६. दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे।
७. श और ष का प्रायः लोप हो गया।
८. ए को इ, ई भी होते हैं। लेख >लिह, लीह।
9. मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण को क्रमश: तृतीय और चतुर्थ वर्ण होते हैं। शपथ>सबध, कथितं>कधिहूँ।
१०. कहीं-कहीं मध्यगत म को वँ। भ्रमर>भवँरु।
११. संयुक्ताक्षरों में र् का प्रायः लोप होता है। प्रिय>पिउ, चन्द्र>चन्द।
१२. जहाँ र नहीं है, वहाँ भी र का आगम। जैसे - व्याकरण>वागरण।

१३. प्राकृत के तुल्य समीकरण, लोप, आगम आदि की प्रवृत्ति और बढ़ गई।

१४. संयुक्त व्यंजनों में एक व्यंजन का लोप और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ होता है। कस्य >कासु, तस्य >तासु।

१५. शब्दरूप और धातुरूप बहुत कम हो गए।

१६. विभक्तियों के स्थान पर कारक - चिह्न परसर्ग आने लगे। जैसे — करण - सहं, तण; संप्रदान केहि, रेसि; अपादान होन्त; सम्बन्धकेर, कर; अधिकरण मज्झ, महे।

१७. नपुंसक लिंग शब्द समाप्त हो गए।

१८. अकारान्त पुंलिंग शब्दों के तुल्य अधिकांश शब्दरूप चलने लगे।

19. शब्दरूपों में बहुत संक्षेप हो गया। सभी कारकों के स्थान पर तीन कारक समूह ही शेष रह गए— (१) कर्ता - कर्म, संबोधन, (२) करण - अधिकरण, (३) संप्रदान, अपादान, संबन्ध। अतः शब्दरूप में ६ रूप रह गए —३ कारकx२ वचन। संस्कृत में २४ रूप थे, प्राकृत में १२।

२०. द्विवचन का पूर्णतया अभाव है।

२१. धातुरूपों में आत्मनेपद का अभाव है।

२२. धातुरूपों में प्रायः लट्, लोट्, लृट् ही शेष रहे।

२३. स्वार्थ में ये तद्धित प्रत्यय होने लगे (१) उ, पुनः>पुणु, (२) एं या अ, अवश्यं>अवसें, अवस, (३) आर, तुहार, अम्हार।

२४. द्राविड एवं विदेशी भाषाओं के बहुत शब्द आ गए।

२५. वाक्यों में पद - क्रम निश्चित हो गया। इससे विभक्ति - लोप - जन्य अस्पष्टता कुछ कम हो गई।

26. धातु रूपों में लट्, लोट्, लृट् के रूप ही शेष रह गए।

27. भूतकाल के लिए 'क्त' प्रत्यय अधिक प्रयुक्त होने लगा।

28. क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'अण्' प्रत्यय अधिक प्रयुक्त होने लगा।

3.8 सारांश

पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के अन्तर्गत आती हैं। इनमें प्राकृत भाषा की उत्पत्ति किससे हुई है इसको लेकर यद्यपि विभिन्न मत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं। पुनरपि उनकी समीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से ही हुई है। संस्कृत जन-भाषा में परिवर्तन होते रहे और उसी से प्राकृत निकली। कालान्तर में प्राकृत के भी विभिन्न रूप हो गए जिनका अध्ययन आपने मध्य-प्राकृत के अन्तर्गत किया। इनमें प्रमुख रूप से शौरसेनी-प्राकृत, मागधी-प्राकृत, माहाराष्ट्री-प्राकृत, अर्धमागधी-प्राकृत तथा पैशाची हैं। प्राकृत भी संस्कृत की ही भांति श्लिष्ट-योगात्मक भाषा है जिसमें व्याकरण को सरल बनाया गया है। जैसे - प्राकृत के आते-आते धातुओं की संख्या भी कम हो गई थीउसी प्रकार कुछ प्राकृत भाषाओं में विभक्ति चिह्न बी भिन्न हो गए। इसके अतिरिक्त, स्वरभक्ति भी कई प्राकृतों में हमें दृष्टिगत होती है। अपभ्रंश वो भाषाएं थीं जिनसे आधुनिक भारतीय भाषाओं (हिन्दी आदि) का विकास हुआ। अपभ्रंश की चर्चा यों तो नाट्यशास्त्र में भी प्राप्त होती है किन्तु व्यापक स्तर पर इस भाषा में साहित्यिक-रचना दण्डी के समय से ही प्रारम्भ हुई। अपभ्रंश भाषाओं की ऐसी कई विशेषताएं हैं जो इस भाषा को भिन्न एवं विशिष्ट बनाती हैं। इसी भाषा को देशज अवहट्ट आदि नामों से भी जाना गया।

3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं उपयोगी पुस्तकें

1. भाषाशास्त्र एवं भाषा-विज्ञान, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016।

2. संस्कृत भाषा विज्ञान, प्रो. शिवबालक द्विवेदी एवं प्रो. अवधेशकुमार चतुर्वेदी, ग्रन्थम, कानपुर, 1978।

3.10. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. प्राचीन-प्राकृत अथवा पालि का काल बताइये।

उत्तर 1. ५०० ई.पू.-१०० ई.2.

2. प्राकृत भाषा की उत्पत्ति विषयक मुख्य रूप से कितने मत प्राप्त होते हैं?

उत्तर 2. तीन मत।

3. पैशाची-प्राकृत किस क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा थी?

उत्तर 3. पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान के क्षेत्र में।

4. किस भाषा में शब्दों के अन्त में 'उ' लगाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई?

उत्तर 4. अपभ्रंश में।

5. किस भाषा को देशज भी कहा जाता है।

उत्तर 5. अपभ्रंश को।

3.11. निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति विषयक विभिन्न मतों की समीक्षा कीजिये।
2. विभिन्न मध्य प्राकृत भाषाओं में परस्पर क्या अन्तर है?
3. प्राकृत भाषा की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
4. अपभ्रंश भाषा प्राकृत से किस प्रकार भिन्न है? वर्णन कीजिये।
5. माहाराष्ट्री-प्राकृत की विभिन्न विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

इकाई. 4 भारतीय लिपियाँ

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2. उद्देश्य
4.3 लिपि का उद्भव
4.4 लिपि का विकास
4.4.1चित्र लिपि
4.4.2 भाव लिपि
4.4.3 ध्वनि लिपि एवं उसके भेद
4.5 भाषा और लिपि में अन्तर
4.6 भारत में लिपि विज्ञान एवं लेखन कला का साक्ष्य
4.6.1 वेदों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य
4.6.2 ग्रन्थों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य
4.6.3 विदेशी लेखों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य
4.6.4 अभिलेखों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य
4.7 भारत की प्रमुख लिपियाँ
4.7.1 ब्राह्मी लिपि
4.7.1.1 ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला
4.7.1.2 ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ
4.7.2 खरोष्ठी लिपि
4.7.2.1 खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला
4.7.2.2 खरोष्ठी लिपि की विशेषताएँ
4.7.3 देवनागरी लिपि
4.7.3.1 देवनागरी लिपि की वर्णमाला
4.7.3.2 देवनागरी लिपि की विशेषताएँ
4.7.4 शारदा लिपिं
4.7.4.1 शारदा लिपि की वर्णमाला
4.7.4.2 शारदा लिपि की विशेषताएँ
4.7.5 सिन्धु लिपि
4.8 सारांश
4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.10लघु उत्तरीय प्रश्न
4.11दीर्घोत्तरीय प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने कार्यों और विचारों को स्थायित्व प्रदान करना चाहता है। इसके लिए वह ऐसे साधनों का उपयोग करता है, जिससे उसके विचार आगे की पीढ़ी तक पहुँच सकें। इन्हीं गूढ़ विचारों ने लिपि को जन्म दिया। क्योंकि भाषा का सम्बन्ध ध्वनियों से है। ध्वन्यात्मक भाषा वक्ता के मुख से निकल कर श्रोता के कान तक पहुँचकर अपना प्रभाव प्रकट करती है। यह वाचिक भाषा है। वक्ता के मुख से निकलने के कुछ क्षणों बाद इसका स्वरूप नष्ट हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि इसका प्रारम्भिक रूप क्या था? यह आज बताना संभव नहीं है, परन्तु अनुमान है कि अपने भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम चित्रात्मक लिपि का प्रयोग हुआ, तत्पश्चात् भावलिपि और अन्ततः ध्वनिलिपि। भाषाओं को लिखने के लिए लिपियों का प्रयोग किया जाता है। भारत देश की प्रमुख लिपियों में ब्राह्मी, खरोष्ठी, देवनागरी, शारदा एवं अपठित सिन्धु लिपि को रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त नेवारी, ग्रंथी, शारदा, कन्नड, तेलुग, मलायलम, तमिल गुरुमुखी, बंगाली, आसामी, उड़िया आदि लिपियां भी क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश भाषा की दृष्टि से संस्कृत तथा लिपि की दृष्टि से देवनागरी से प्रभावित है।

4.2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- लिपि के उद्भव एवं विकास के बारें में जान सकेंगे।
- लिपि के विकास चरणों-चित्रात्मक लिपि, भावलिपि एवं ध्वनिलिपि के बारें में जान सकेंगे।
- ध्वनिलिपि के अन्तर्गत अक्षरात्मक, वर्णात्मक एवं रेखाक्षरात्मक के बारें में जान सकेंगे।
- भारत में लिपि विज्ञान एवं लेखन कला के साक्ष्य के बारें में जान सकेंगे।
- भारत की प्रमुख लिपियाँ- ब्राह्मी, खरोष्ठी, देवनागरी, शारदा एवं सिन्धु लिपि के बारें में जान सकेंगे।
- इन प्रमुख लिपियों की वर्णमाला एवं विशेषताओं के बारें में जान सकेंगे।

4.3 लिपि का उद्भव

लिपि और भाषा की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? यह विषय प्रायः विवादास्पद है। भाषा और लिपि की उत्पत्ति के विषय में अन्ततः अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। भाषा सूक्ष्म है, अतः उसकी उत्पत्ति बताना अधिक कठिन है। लिपि की उत्पत्ति भी बताना प्रायः उतना ही कठिन है, क्योंकि प्रारम्भ में जिन वस्तुओं पर ये लिपियाँ लिखीं गई, वे काल कवलित हो गई हैं। पाषाण, स्तम्भ, ताम्र आदि पर जो कुछ चीजें लिखीं गई, वे 6 हजार वर्ष तक का इतिहास बताती हैं। इनमें भी एकरूपता नहीं है। कहीं कुछ लकीरें, कहीं पशु आदि की आकृति, कहीं भावमुद्रा और कहीं लिपि है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लिपि के विकास की मुख्यतया तीन अवस्थाएँ रहीं हैं- 1. चित्रलिपि 2. भावलिपि 3. ध्वनिलिपि।

अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार विश्व के विभिन्न देशवासियों ने अपनी भाषा का जनक किसी देवता को माना है। भारतीयों ने ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी में ब्राह्मी लिपि का जन्मदाता ब्रह्मा को माना है। इसी प्रकार मिस्री लोगों ने हायरोग्लिफिस लिपि को थॉठ, बेबिलोनिया वालों

ने कीलाक्षरा लिपि को नेबो को, प्राचीन यहूदियों ने मूसा को और यूनानियों ने ग्रीस लिपि का हर्मेस को, चीन वालों ने चीनी लिपि का बेनचोंग को, इजराइल ने हिब्रू लिपि का जेहोवा को, फिनिश्या ने उत्तरी सेमेटिक लिपि का कैडमस को तथा रोम ने रोमन लिपि का मर्करी को तथा अरब ने अरबी लिपि का अल्लाह /आदम को एवं भारत में खरोष्ठी लिपि का ऋषभदेव को अपनी-अपनी लिपि का जन्मदाता माना है।आज तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपलब्ध सामग्री 4000ई. पू. तक की है। इस प्रकार प्राचीनतम लिपि चिन्ह 6हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं।

4.4 लिपि का विकास

लिपि विकास के मुख्यतया तीन चरण हैं-1. चित्रलिपि 2. भावलिपि और 3. ध्वनिलिपि। इनके अतिरिक्त भी तीन भेद और माने जाते हैं परन्तु ये गौण भेद हैं। इनका उल्लेखमात्र पर्याप्त है।

4.4.1 चित्र लिपि

यह लिपि का प्राचीनतम रूप था। जिस वस्तु का वर्णन करना होता था, उसका चित्र बना देते थे। आदमी, स्त्री, आँख आदि के लिए उस जैसा छोटा चित्र बना देते थे।इससे संबद्ध व्यक्ति भाव समझ जाता था। ऐसे प्राचीन चित्र फ्रांस, स्पेन, यूनान, इटली, मिस्त्र आदि से मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, हाथी दाँत, सींग, छाल, मिट्टी के पात्रों आदि पर होते थे।

1. गुण

- वस्तु का तुरन्त बोध,
- सर्वजन सुबोधता,
- शिक्षण की अनावश्यकता

2. दोष

- संकेत अनन्त बनाने पडते थे। प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक् संकेत होता था। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का बोध नहीं हो सकता था।
- अमूर्त भाव एवं विचार प्रकट नहीं हो सकते थे।
- चित्र बनाना श्रमसाध्य कार्य था। शीघ्रता में चित्र नहीं बन सकता था।
- अधिक समय की अपेक्षा होती थी।
- ध्वनिलिपि की अपेक्षा स्थान अधिक होता था।
- स्थान समय आदि का बोध स्पष्ट रूप से नहीं हो सकता था।

4.4.2 भाव लिपि

यह लिपि विकास का द्वितीय चरण था। चित्रलिपि अधिक श्रम साध्य थी, अतः लघुतर उपाय सोचने की प्रक्रिया भी जारी रही। फलस्वरूप भावलिपि का प्रादुर्भाव हुआ।चित्रलिपि और भावलिपि में अन्तर यह है कि चित्रलिपि में केवल वस्तु का चित्र बनाया जाता था। भावलिपि में चित्रों को सरल बनाया गया और साथ ही उनसे संबद्ध अर्थ भी लिए गए। जैसे सूर्य के लिए एक गोला बनाना, उससे गर्मी, धूप, प्रकाश, दिन आदि का अर्थ बताना। रोने के लिए आँख का चित्र बनाकर उससे आँसू टपकती बूँदे दिखाना। इस प्रकार की लिपि के उदाहरण उत्तरी अमेरिका, चीन, अफ्रीका आदि में मिलते हैं। चीनी लिपि में आज भी अनेक ऐसे शब्द है, जो भावलिपि

मूलक है। जैसे मनुष्य के लिए जेन में ऊपर खड़ी लकीर, नीचे दो तिरछी लकीरें। ऊपर धड़ हो गया, नीचे दो पैर।

यह चित्र लिपि का विकसित रूप है। चित्र बनाने की क्लिष्टता कुछ कम हुई। एक चित्र से अनेक अर्थ प्रकट होने लगे। यह चित्राभास लिपि हुई। इसमें भी पूर्ववत् दोष विद्यमान रहे। सूक्ष्म भावों को व्यक्त नहीं किया जा सकता था। किस चित्र से क्या भाव लिए जाऐंगे, इसमें समरूपता नहीं थी।

वर्तमान काल में उपलब्ध सिन्धु घाटी की लिपि भावात्मक लिपि का एक उदाहरण है। इससे भारतीय अक्षरात्मक लिपि की उत्पत्ति की संभावना व्यक्त की जाती है। सिन्धु घाटी की भाषा के ज्ञात न होने तथा भाषा के साथ पूर्वाग्रह होने के कारण इसकी लिपि को विभिन्न दावों के बावजूद जाना नहीं जा सका है।

4.4.3 ध्वनि लिपि एवं उसके भेद

यह लिपि विकास का तृतीय चरण था। यह मानव की लिपि सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि थी। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए कुछ संकेत निर्धारित किए गए। इनसेमुखोच्चरित प्रत्येक ध्वनि को लिपि बद्ध किया जा सकता था। देश-काल के भेद से ये ध्वनिलिपियाँ अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग विकसित हुई। इस प्रकार की लिपियाँ है-देवनागरी, रोमन, अरबी आदि।

समय तथा स्थान के भेद से कुछ विद्वानों ने ध्वनिलिपि के तीन भेद किए है-1. अक्षरात्मक 2. वर्णात्मक 3. रेखात्मक।

- **अक्षरात्मक**: अक्षरात्मक में चिन्ह किसी अक्षर को व्यक्त करता है। इसमें देवनागरी को अक्षरात्मक में रखा जाता है। देवनागरी पूर्णतया वर्णात्मक लिपि है। प्रत्येक वर्ण के लिए स्वतन्त्र क् आदि चिन्ह हैं। केवल लेखन की सुविधा के लिए वर्णमाला में व्यंजनों को हलन्त (क् ख् ग्) न लिखकर अकारान्त (क, ख. ग) आदिलिखा जाता है।
- **वर्णात्मक**: वर्णात्मक में चिन्ह वर्ण को व्यक्त करता है। रोमन को वर्णात्मक में रखा जाता है। रोमन लिपि की उत्कृष्टता सिद्ध की गई है। रोमन में यान्त्रिक सुविधा अवश्य है, क को Ka लिखा जाएगा, अ को अलग दिखाया जा सकता है, परन्तु सांकेतिक निर्देशो के बिना अ-आ, इ-ई आदि स्वरों का भेद नहीं दिखाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए उसकी उपयोगिता अवश्य है, परन्तु देवनागरी या भारतीय लिपियों से उसे अधिक वैज्ञानिक या उत्कृष्ट कहना केवलप्रलाप है, रोमन में वैज्ञानिकता का नाम भी नहीं है।
- **रेखाक्षरात्मक**: प्रत्येक शब्द के लिए प्रत्येक ध्वनि के सम्मिलन के लिए रेखाचित्रों को निर्धारित करके बनी लिपियां रेखाक्षरात्मक लिपियां कहलाती हैं। चीन तथा जापान की लिपियां रेखाक्षरात्मक हैं। जापान ने वर्णों की संरचना करके अपनी लिपि को अपेक्षाकृत सरल बना लिया है।

4.5 भाषा और लिपि में अन्तर

मानव के संवेदनात्मक भावों को भाषा पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं कर पाती है। हर्ष, शोक, मिठास, कड़वापन आदि भाव भाषा से पूर्णतया व्यक्त नहीं हो पाते हैं। किन्तु लिपि भाषा का स्थूल रूप है। इसलिए यह मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त भाषा

सूक्ष्म है, लिपि स्थूल है। भाषा की ध्वनियों में अस्थायित्व है, लिपि में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व है। भाषा में सुर, ताल आदि के द्वारा बहुत कुछ मनोभावों को व्यक्त किया जा सकता है, लिपि में नहीं। भाषा श्रव्य है, लिपि दृश्य एवं पाठ्य। भाषा सद्यः प्रभावकारी है, लिपि विलम्ब से। दोनों में साम्य यह है कि दोनों मानव की भावाभिव्यक्ति के साधन है। दोनों से भावाभिव्यक्ति अपूर्ण होती है। दोनों देश-कालादि भेद से भिन्न हैं। दोनों सांस्कृतिक उन्नति की प्रतीक हैं। दोनों का ज्ञान शिक्षण से प्राप्त होता है।

4.6 भारत में लिपि विज्ञान एवं लेखन कला का साक्ष्य

यह प्रश्न उतना ही विवादास्पद है, जितना कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न या आर्यों के मूल निवास स्थान का प्रश्न। कल्पना, अनुमान तथा पूर्वाग्रहों के कारण यह प्रश्न ही उलझ गया है। उदाहरण के लिये, कुछ विद्वानयदि ग्रीक लिपि से फिनीशी लिपि का उद्भव मानते हैं तो कुछ दूसरे, फिनीशी लिपि से ग्रीक लिपि का विकास स्वीकार करतें हैं। यह एक उदाहरण ही लिपि सम्बन्धी विभिन्न देशीय विद्वानों की विचारधाराको समझने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि को भी विदेशी, विशेषतः सामी लिपि से उद्भूत प्रतिपादित करने का असफल प्रयास किया है।

लिपियों के उद्गम के सम्बन्ध में डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा का मत है कि आज की प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनका स्वतंत्र उद्‌गम मानना अधिक उचित होगा। यदि सभ्यता का विकास स्वतंत्र रूपसे हो सकता है तो लिपि का विकास क्यों नहीं हो सकता? आज संसार में प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनके चार स्वतंत्र उद्गम मानना अधिक अच्छा है। वे चार लिपियों है-भारतीय, यूरोपीय, सामी, चीनी। इन चारों में इतना स्पष्ट पार्थक्य है कि इन्हें एक स्रोत से सम्बद्ध मानना असंगत है। सम्भव है, किसी लिपि के एक दो संकेत किसी दूसरी लिपि में भी आ गये हों, परन्तु इतने से ही उनमें जन्य-जनक भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। ब्राह्मी लिपि से भारत की सभी लिपियों निकली हैं, यह इतिहास सिद्ध है।

4.6.1 वेदों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य

भारत में प्राचीन समय में लेखनकला प्रचलित थी। ऋग्वेद में लिख धातु के कई रूपों का प्रयोग है। अथर्ववेद में चार स्थानों पर लिखने की कला का उल्लेख है। इसमें सुलेख, ऋण सम्बन्धी लेख और आकृतिमूलक लेख का उल्लेख है।

- **अजैषं त्वा संलिखितम्। (अथर्ववेद 7/50/5) (सुलेख)**
- **यद्यद द्युत्तं लिखितमर्पणेन। (अथर्ववेद 12/3/22) (लेन-देन का लेख)**
- **अप शीर्षण्यं लिखात्। (अथर्ववेद 14/2/68) (ऊपर की रेखाएँ)**
- **क एषां कर्करी लिखत्। (अथर्ववेद 20/132/8) (चित्रात्मक लेख)**

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिख धातु के ये प्रयोग मिलते हैं-लिखति-लिखते, लिलेख, अलीलिखत्, लेखीः, लिखित, लिख्य। इनसे यह स्पष्ट है कि लेखनकला का क्या स्वरूप था ? लिपि क्या थी ? लिख धातु से इतना स्पष्ट है कि लिखने का काम होता था और किसी नुकीली धातु से अक्षर लिखे या खोदे जाते थे।

ऋग्वेद में अष्टकर्णी हजार गायों के दान देने का उल्लेख है-**सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः । (ऋग्वेद 10/62/7)**

इसमें अष्टकर्णी से यह स्पष्ट है कि गायों के कान पर 8 अंक लिखा होता था। यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और अथर्ववेद में 1 से 100 तक की गिनती, पहाड़ा, एक से दश शंख तक की संख्याओं के नाम एक, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध, दश, शंख मिलते हैं। इन संख्याओं का ज्ञान लेखन कला के बिना संभव नहीं है।

अथर्ववेद में अक्षर शब्द का छोटी इकाई के रूप में उल्लेख है। इससे ही विभिन्न छन्दों की मात्राएँ और वर्ण गिने जाते थे **'अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः' (अथर्ववेद 9/10/2) सहस्रत्राक्षर (अथर्ववेद 9/10/21)**से ज्ञात होता है कि 1 हजार वर्षों वाले मन्त्रादि होते थे। अथर्ववेद 19/21/1 में 7 छन्दों का उल्लेख है। यजुर्वेद में 11, 14 और 22 छन्दों तक का उल्लेख है। साथ ही उनके पादों आदि का भी उल्लेख है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं में छन्दों के पाद और अक्षरों की गणना भी दी गई है।

4.6.2 ग्रन्थों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य

1. बौद्ध ग्रन्थ 'ब्रह्मजाल सुत्त' (6ठी सदी ई. पू.) में अक्खरिका (अक्षरिका) का उल्लेख है। इसमें बच्चों को पीठ पर लिखे अक्षरों को पहचानना होता था।

2. सुत्तान्त (सूत्रान्त 6ठी सदी ई. पू.) में भिक्षुओं को अक्खरिको खेल न खेलने का आदेश है।

3. विनयपिटक (400 ई. पू. से पूर्व) में लेखन कला की प्रशंसा की गई है।

4. महावग्ग और जातकों में लेखन-कला के अध्यापन और लेखन सामग्री का उल्लेख है।

5. ललितविस्तर में उल्लेख है कि गुरु विश्वामित्र ने गौतम बुद्ध को तख्ती पर स्वर्ण कलम से लिखना सिखाया।

6. जातकों में नियमों को सुवर्णपत्रों पर खुदवाने, सरकारी लेख एवं ऋणपत्रों को लिखवाने का उल्लेख है।

7. रामायण (600 ई. पू.) महाभारत (500 ई. पू.) अर्थशास्त्र (4 सदी ई. पू.) में अनेक स्थलों पर लेखन कला का उल्लेख है। लेख, लेखक, लेखन आदि शब्दों का प्रयोग है।

8. आचार्य पाणिनी (5वीं सदी ई. पू.) ने स्पष्ट रूप से लिपि, लिबि, लिपिकर, ग्रन्थ, यवनानी (यूनानी लिपि), स्वरित चिह्न आदि का उल्लेख किया है-दिवाविभा... लिपिलिबि. (अष्टाध्यायी 3/2/21)

9. पशुओं के कानों पर पहचान के लिए 5, 8 आदि अंक लिखने का उल्लेख पाणिनि ने किया है- (डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. 306/307)

10. लिपि को लिबि भी कहते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र (1-5) में लिपि का उल्लेख है। कौटिल्य ने (अथर्ववेद 1/12) सांकेतिक लिपि के लिए संज्ञालिपि नाम दिया है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक लिपियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में 64 लिपियों के नाम हैं। जैन ग्रन्थ पन्नवणा सूत्र तथा समवायांग सूत्र में 18 लिपियों के नाम है। इनमें विशेष महत्वपूर्ण लिपियों हैं। 1. बंभी, ब्राह्मी (ब्राह्मी) 2. खरोट्ठी(खरोष्ठी) 3. जवणाणिया (यवनानी) 4. अंकलिवि (अंकलिपि) 5. गणितलिवि(गणितलिपि) 6. माहेसरी (माहेश्वरी) 7. हूण लिपि 8. चीनलिपि 9. दरदलिपि 10. द्राविडी लिपि।

4.6.3 विदेशी लेखों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य

1. सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (326 ई. पू.) ने भारत का वृतान्त लिखा था। एरिअन ने अपनी पुस्तक इंडिका में इसका सारांश दिया है। इससे भारत में कागज आदि के उपयोग का ज्ञान होता है।

2. मेगस्थनीज (305 ई. पू.) ने अपने ग्रन्थ इण्डिका में भारत में सड़कों पर मील के पत्थर गड़े होने का उल्लेख किया है। जन्मकुण्डली का भी उल्लेख किया है।

3. चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपि ज्ञान की प्राचीनता का उल्लेख किया है।

4. चीनी विश्वकोष फा युआन चु लिन्' (668 ई.) में ब्राह्मी का उल्लेख है। इसका आविष्कार ब्रह्मा को माना जाता है।

4.6.4 अभिलेखों में लिपि विज्ञान एवं लेखनकला का साक्ष्य

प्राचीन शिलालेखों आदि से भारत में प्राचीन समय से लेखनकला का ज्ञान होता है।

1. ईरानी सम्राट् दारा प्रथम (581-485 ई. पू.) के बहिस्तून (सं. भगस्थान) अभिलेख में उत्कीर्ण लेखन को दिपि (लिपि) कहा हैं।

2. मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अभिलेखों का समय 4 हजार ई. पू. के लगभग माना जाता है।

3. अशोक के शिलालेखों से पूर्व के 2 छोटे अभिलेख मिले हैं-(क) अजमेर जिले के बड़ली गाँव से (ख) नेपाल की तराई में पिपरावा स्थान से। बडली वाला अभिलेख एक स्तम्भ के टुकड़े पर है। इसमें प्रथम पंक्ति में वीराय भगवते द्वितीय पंक्ति में चतुरासिति वस अर्थात् वीरस्य भगवतः चतुरशीतिवर्षे (भगवान् वीर या महावीर के निर्वाण के 84 वें वर्ष में) । इससे इसका समय (527 ई. पू. 84) 443 ई. पू होगा। पिपरावा वाले लेख का समय श्री गौरी ही. रामचन्द्र ओझा ने प्राचीन लिपिमाला (पृ. 2-3) में 487 ई. पू. के कुछ बाद का माना है।

इससे स्पष्ट होता है कि ई. पू. 6वीं या 7वीं सदी में भारत में लेखनकला एवं लिपि का विस्तृत प्रचार था। स्थायी लेख के लिए शिला, स्तम्भ, सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि के पत्र, पकी मिट्टी के सिक्के आदि प्रयुक्त होते थे। प्रारम्भ में ग्रन्थों आदि के लेखन के लिए पर्ण (ताड़पत्र आदि) का प्रयोग होता था। बाद में भूर्ज (भोजपत्र), लकड़ी, वस्त्र, चमड़ा आदि का प्रयोग हुआ। कागज का प्रयोग बहुत बाद में हुआ।

पाश्चात्य विद्वानों ने श्रुति (श्रवण परम्परा, वेद) शब्द को लेकर बहुत वितण्डा खड़ाकिया है और निर्णय दिया है कि भारत में केवल मौखिक परम्परा श्रवण-श्रावण (श्रुति) की थी। वे लेखनकला से अनभिज्ञ थे। यह बात सर्वथा असंगत है। आज भी वेद आदि के लिए श्रवण परम्परा को ही महत्व दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आज भी लिपि, लेखन, कागज आदि नहीं है। यह केवल प्राथमिकता की बात थी। गुरु शिष्य परम्परा से श्रवण पठन अधिक प्रामाणिक होता था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिन्धुघाटी लिपि लगभग 4 हजार वर्ष ई. पू. से तथा अन्य लिपियों 7वीं या 6वीं सदी ई. पू. से पहले से ही प्रचलित थी।

4.7 भारत की प्रमुख लिपियाँ

भारत एक ऐसा देश है जिसमें अनेकों भाषाएं बोली जातीं हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी लिपि होती है। भारत देश की प्रमुख लिपियों में हम ब्राह्मी, खरोष्ठी, देवनागरी, शारदा एवं सिन्धु लिपि को रख सकते हैं। इनके अतिरिक्त यद्यपि भारत में नेवारी, ग्रंथी, शारदा, कन्नड़, तेलुग, मलयालम, तमिल, गुरुमुखी, बंगाली, आसामी, उड़िया आदि लिपियां भी क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं। तथापि इनमें से अधिकांश लिपियां भाषा की दृष्टि से संस्कृत तथा लिपि की दृष्टि से देवनागरी से प्रभावित है। ब्राह्मी लिपि- सबसे प्राचीन मानी जाती है। हमें अनेकों शिलालेखों में इसके साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। यह बॉए से दॉए लिखी जाती है। खरोष्ठी लिपि- गधे के ओष्ट की तरह टेढी-मेढी होती है। इसलिए इसे खरोष्ठी कहा गया। यह लिपि फारसी की तरह दॉए से बॉए लिखी

जाती है। देवनागरी लिपि- वर्तमान में हम प्रयोग कर रहे हैं। जिसमें संस्कृत, हिंदी, गुजराती एवं मराठी आदि भाषाओं को लिखा जाता है। शारदा लिपि- कश्मीरी भाषाओं को लिखने के लिए शारदा लिपि को प्रयोग किया गया है। यह देवनागरी लिपि से मिलती जुलती है।

4.7.1 ब्राह्मी लिपि

प्राचीन काल में संस्कृत भाषा ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। यह हमें अशोक के शिलालेखों तथा गुहालेखों में इसके उत्कीर्ण होने से पता चलता है। अशोक के शिलालेखों एवं जोगीमारा की गुहा में जो लिपि प्राप्त हुई हैं उसे ही ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। यह लिपि समस्त उतरवर्ती लिपियों की जननी भी कही जाती है। सर्वप्रथम इस लिपि का परिचय विद्वानों को एलोरा तथा जोगीमारा की गुफाओं में उत्कीर्ण लिपि लेखों के आधार पर 1795 ईस्वी में हुआ किंतु प्रारंभ में शोधकर्ताओं को ग्रीक तथा रोमन अक्षरों के साथ आंशिक समानता दिखाई दी। अतः इसके पृथक् अस्तित्व को लेकर भाषाविदों को संदेह बना रहा। 1795 में सर चार्ल्स मैलेट ने एलोरा गुफाओं के इन ब्राह्मी लिपिलेखों को पढ़वाने का प्रयत्न कराया किंतु सफलता प्राप्त नहीं हुई । इसके 38 साल बाद 1833 ईस्वी में सर्वप्रथम ब्राह्मी लिपि को पढ़ने का श्रेय जेम्स प्रिंसेपको जाता है। इसके अनंतर ही विद्वानों को इस लिपि के यथार्थ स्वरूप का बोध हो सका । ब्राह्मी लिपि को दाँए से बॉए लिखा जाता है किंतु अपवाद स्वरूप अशोक के येरगुडी (मद्रास) के लिपिलेख के आधार पर व्यूहलर महोदय ने इसके दाएं से बाएं लिखे जाने का मत प्रदर्शित किया है। ऐसे ही कनिंघम ने जबलपुर से प्राप्त एक सिक्के में इसके दॉए से बॉए लिखे जाने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। किंतु अपवादों के आधार पर सिद्धांतों की स्थापना नहीं होती। अतः बहुतायतमें प्राप्त अभिलेख और शिलालेखों पर यह लिपि बॉए से दाँए ही लिखी प्राप्त होती है। जैसा कि जोगीमारा की गुफाओं में उत्कीर्ण यह श्लोक दॉए से बॉए लिखा हुआ प्राप्त होता है।

आदिपयन्ति हृदयं सभावगरुका कवयो एतितियं ।
दुले वसन्तिया हि सावानुभूए कुन्दस्ततं एवमालंगति ।।

4.7.1.1 ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला

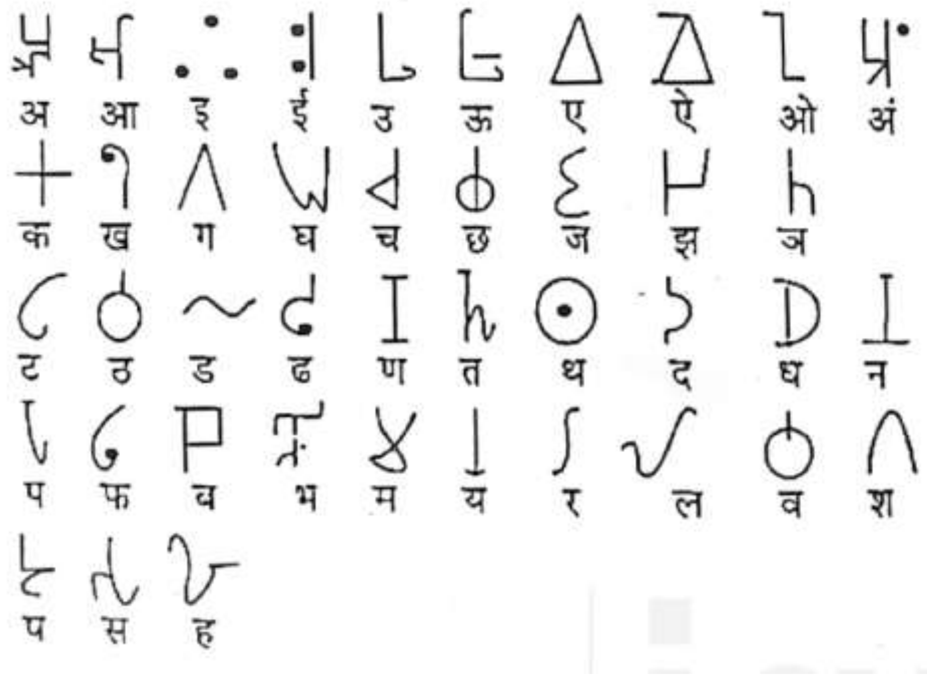

4.7.1.2 ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ

- ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की सबसे प्राचीन लिपि है।
- भारतीय उपखंड की अधिकांश लिपियां इसी से उत्पन्न हुई हैं।
- जिस प्रकार संस्कृत भाषा सभी भाषाओं की जननी है, उसी प्रकार ब्राह्मी लिपि भी सभी लिपियों की जननी कही जाती है।
- ब्राह्मी लिपि में शिरोरेखा नहीं होती जैसे देवनागरी एवं शारदा आदि लिपियों में होती है।
- इसमें विसर्ग अनुस्वार एवं अनुनासिक हेतु स्वतंत्रचिन्हों काप्रयोग प्राप्त होता है। जो की आधुनिक लिपियों में भी मिलता है।
- वर्णों का ध्वन्यात्मक विभाजन उनके उच्चारण स्थान के आधार पर हुआ है।
- इस लिपि का प्रत्येक वर्ण अपनी उच्चारण ध्वनि को प्रकट करता है, जिससे यह समझने में सरल एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती है।
- इसके अक्षरों का आकार समान है। शलाका से अंकित होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं ।
- संपूर्ण अक्षरों की बनावट आतीव सरल है जो की सरल ज्यामितिक चिह्नों के आधार परबने हुए हैं।
- इसमें मात्राओं के लिए अलग-अलग चिह्नों का प्रयोग किया गया है जो की वर्णों के ऊपर अथवा नीचे दाएं या बाएं लगाए गए हैं।
- इसमें दीर्घ मात्राओं का प्रयोग बहुत कम हुआ है।
- संयुक्त अक्षरों का प्रयोग भी अत्यल्प मात्रा में हुआ है ।
- संयुक्त अक्षर को लिखते समय जो अक्षर पहले बोला जाता है उसे ऊपर और जो बाद में बोला जाता है उसे नीचे लिखा जाता है। इस प्रकार संयुक्त अक्षर एक दूसरे के नीचे लिखे जाते हैं।
- इस लिपि में समस्त अक्षरों हेतु स्वतंत्र तथा असंदिग्ध चिन्ह विद्यमान हैं । इसलिए यह पूर्णतः वैज्ञानिक कहलाती है।

4.7.2 खरोष्ठी लिपि

खर (गधा) ओष्ठ (होंठ) कतिपय विद्वानों का मानना है की गधे के होंठ के समान टेढी-मेढी होने के कारण ही इस लिपि को खरोष्ठी लिपि कहा गया। इस लिपि का प्रचलन हमें ई.पू. तीसरी चौथी सदी में भारत के पश्चिमोत्तर भाग अफगानिस्तान में प्राप्त होता है। सम्राट अशोक ने इस लिपि का प्रयोग शाहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा अभिलेखों में किया है। इसके अतिरिक्त शक् क्षत्रपों तथा कुशाणवंशीय राजाओं की मुद्राओं में भी इस लिपि में लेख प्राप्त हुए हैं। पार्थियन बैक्ट्रीयन ग्रीक राजाओं की मुद्राओं तथा अनेक बौद्ध लेखों में भी खरोष्ठी का प्रयोग प्राप्त हुआ है।

खरोष्ठी लिपि को पहचानने के लिए प्रयत्न करने वाले विद्वान सर्वप्रथम करनाल टॉड ने पार्थियन ग्रीक बैक्ट्रीयन शक एवं कुशाण शासकों की मुद्राओं का संग्रह किया। जिनमें पाया कि एक तरफ ग्रीक अक्षर तथा दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि अंकित थी। ग्रीक वर्णों की पहचान तो सरलता से हो

गई किंतु खरोष्ठी लिपि के बारे में संदेह बना रहा। 1824 ईस्वी में कर्नल टॉड ने सम्राट कैडफिशस् के सिक्कों पर उत्कीर्ण खरोष्ठी अक्षरों को सेसेनियन अक्षर कहा तथा 1833 में प्रिंसेप महोदय ने सम्राट अपोलोडोटस् के सिक्कों पर उत्कीर्ण खरोष्ठी अक्षरों को पहलवी अक्षरबतलाया।

जनरल वेंटुरां महोदय ने 1830 में मानिआल स्तूप का उत्खनन कराया तो उसमें खरोष्ठी लिपि से अंकित प्रभूत मात्रा में सिक्के एवं दो लेख प्राप्त हुए। अलेक्जेंडर कनिंघम तथा बंन्स आदि विद्वानों को भी ऐसे अनेक सिक्के मिले जिनमें एक तरफ तो सुपाठ्य ग्रीक अक्षर थे परंतु दूसरी ओर एक अपरिचित लिपि थी ।इस प्रकार लंबे समय तक खरोष्ठी की पहचान को लेकर विद्वानों में सन्देह का वातावरण बना रहा तथा इसकी पहचान को लेकर भी प्रयत्न चलता रहा।1838 ईस्वी में प्रिंसेप, कनिंघम एवं नाटिस् के सामूहिक प्रयत्न से खरोष्ठी के समस्त वर्षों की पहचान की तथा निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किए गए :-

- खरोष्ठी लिपि फारसी की तरह दाएं से बाएं लिखी जाती है, यह लिपि आर्यतर परिवार की है।
- यह सेमेटिक परिवार से संबद्ध आर्मेइक लिपि की उपज है।
- भारत में प्राप्त खरोष्ठी के लिपि लेखों में प्रयोग की गई भाषा प्राकृत है पहलवी नहीं। इसमें लिखे लेख पाली भाषा में हैं।

4.7.2.1 खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला

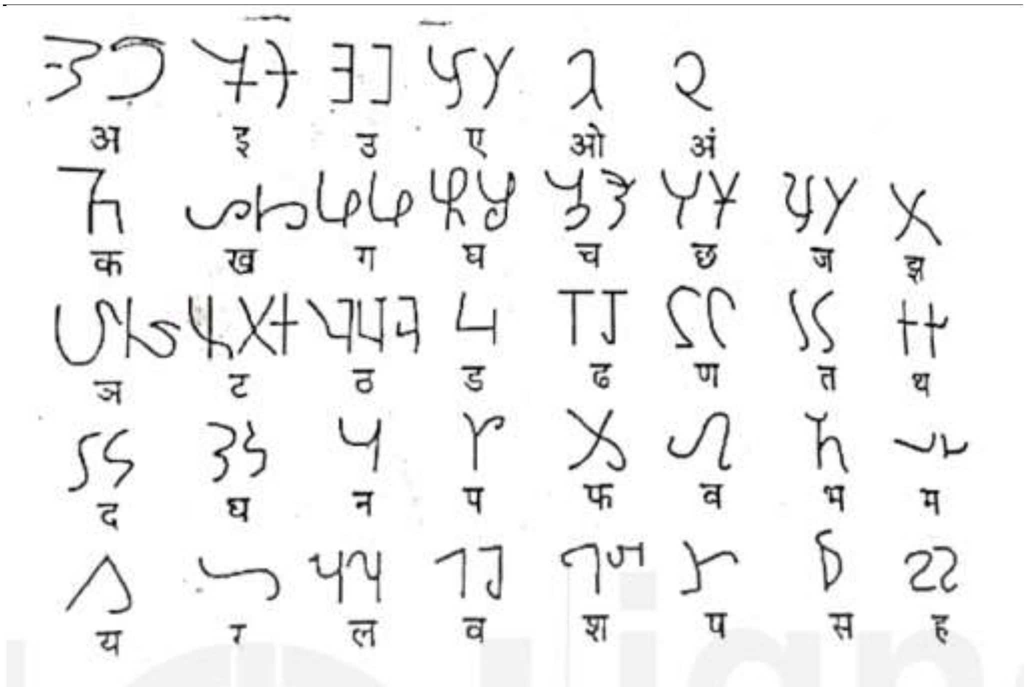

4.7.2.2 खरोष्ठी लिपि की विशेषताएँ

- इस लिपि में दीर्घ स्वरों का प्रयोग नहीं किया गया है।
- यह दाएं से बाएं लिखी जाती है।
- द्वित्व किए हुए अल्पप्राण व्यंजन के स्थान पर अकेले व्यंजन का प्रयोग होता है जैसे 'क्क ' के स्थान पर 'क'।

- अल्प प्राण और महाप्राण व्यंजनों के संयोग वर्णों के स्थान पर आगे आने वाले वर्ण का प्रयोग होता है जैसे क्ख' के स्थान पर 'ख'।
- इसमें 38 वर्ण हैं।
- इस लिपि में 6 स्वर हैं।

4.7.3 देवनागरी लिपि

भारत के अधिकांश प्रांन्तों में बोले जाने वाली भाषाओं की लिपि देवनागरी है। इस लिपि का प्रभूत साहित्य संस्कृत भाषा में निबंध है। संस्कृत को देव भाषा भी कहा जाता है अतः इस लिपि को देवनागरी कहा गया है।

4.7.3.1 देवनागरी लिपि की वर्णमाला

देवनागरी लिपि की वर्णमाला में मुख्य रूप से निम्नलिखित 52 वर्ण प्रचलित है :-

- स्वर: अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ।
- स्पर्श व्यंजन: क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म ।
- अंतस्थ व्यंजन:य, र, ल, व ।
- ऊष्म व्यंजन:श, ष, स, ह।
- संयुक्ताक्षर व्यंजन:क्ष, त्र, ज्ञ ।

4.7.3.2 देवनागरी लिपि की विशेषताएँ

- यह दाएं से बाएं लिखी जाती है। यह जैसी लिखी जाती है वैसी ही पढ़ी जाती है।
- इसके वर्षो का निश्चित उच्चारण स्थान और प्रयत्न है।
- पहले स्वर आते हैं बाद में व्यंजन वर्ण ।
- व्यंजनों में भी पहले अल्पप्राण तथा बाद में महाप्राण वर्ण आते हैं।
- अनुस्वार को वर्ण के ऊपर लगाया जाता है।
- इस लिपि में सर्वाधिक साहित्य प्राप्त होता है
- इस लिपि में किसी भी भाषा को शुद्ध लिखा जा सकता है।
- इस लिपि में गुजराती, मराठी, हिंदी, संस्कृत आदि भाषाएं लिखी जातीं हैं।
- इसमें तीन संयुक्ताक्षर है- क्षत्रज्ञ।
- क्ष संयुक्ताक्षर क्+ ष् +अ के मिलने से बना है।
- त्र संयुक्ताक्षर त्+ र्+अ के मिलने से बना है।
- ज्ञ संयुक्ताक्षर ज्+ ञ्+अ के मिलने से बना है।

4.7.4 शारदा लिपि

शारदा लिपि का प्रयोग क्षेत्र कश्मीर रहा है। कतिपय लिपियों का नामकरण उनके प्रयोगक्षेत्र अथवा उद्भवक्षेत्र के आधार पर देखा जाता है। जैसे नेवार (नेपाल) देश विशेष की लिपि को नेवारीलिपि कहते हैं। सिंधु क्षेत्र की लिपि को सिंधुलिपि कहते है। पल्लव क्षेत्र की

लिपि को पल्लवी कहते हैं, वैसे ही शारदा लिपि का नामकरण उसकेउद्भव क्षेत्र के आधार पर रखा गया है क्योंकि प्राचीन ग्रंथो में कश्मीर को शारदा देश कहा गया है। अतः शारदा देश में होने वाली लिपि को शारदा लिपि कहते हैं। कश्मीर देश के निवासी महाकवि बिल्हण ने एक महाकाव्य लिखा जिसका नाम है - विक्रमांकदेवचरितम्। उसके प्रथम सर्ग में इन्होंने इस तथ्य का उद्घाटन किया है:-

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ।।

विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है, जिन्हें शारदा भी कहा जाता है। कश्मीर देश में शारदापीठम् था जो वर्तमान के पाक अधिकृत कश्मीर के मुजफ्फराबाद में जीर्ण शीर्ण अवस्था में विद्यमान है। शारदापीठ की ख्याति विद्या और वैदुष्य की परीक्षा के लिए दूर-दूर तक फैली हुई थी।

4.7.4.1 शारदा लिपि की वर्णमाला

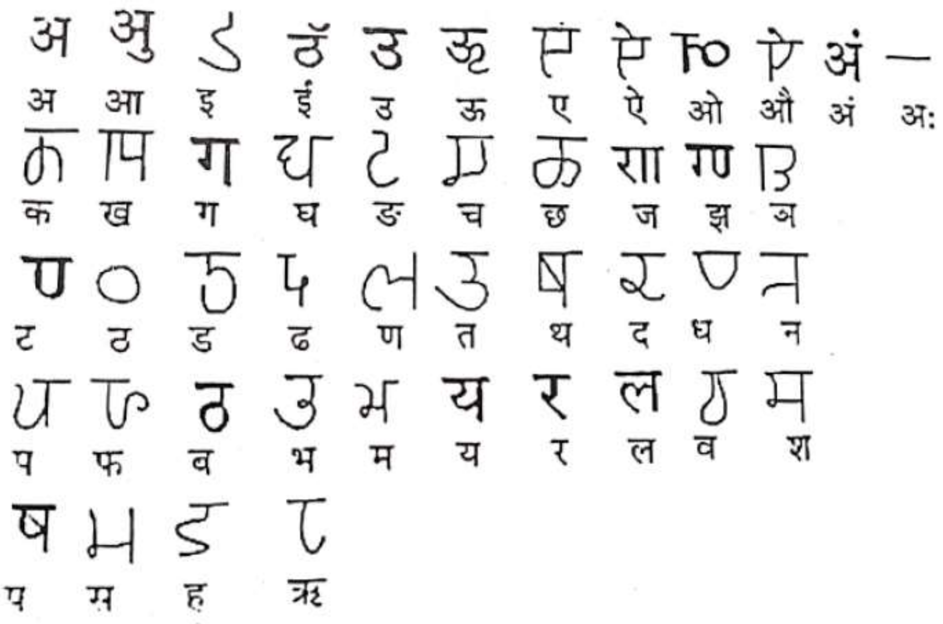

4.7.4.2 शारदा लिपि की विशेषताएँ

- इसमें 12 स्वर और 33 व्यंजन हैं।
- जम्मू कश्मीर के अधिकांश प्राचीन पांडुलिपियाँ शारदा लिपि में ही लिखी प्राप्त होती हैं।
- इस लिपि का नामकरण इसके उद्भव क्षेत्र के आधार पर शारदा लिपि रखा गया।
- यह कश्मीरी भाषाओं की मूल लिपि है।
- यह लिपि देवनागरी लिपि से मिलती-जुलती है।
- यह बाएं से दाएं लिखी जाती है।
- इस लिपि का प्रयोग संस्कृत भाषा को लिखने के लिए भी किया गया।
- इस लिपि में वर्ण के ऊपर शिरोरेखा होती है।
- यह लिपि कश्मीर तथा पंजाब के कार्यालयों में प्रयुक्त होती रही है।

- इस लिपि में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं को भी शुद्ध लिखा जा सकता है।
- यह लिपि लेखन और वाचन की दृष्टि से सरल एवं सुगम है।
- इस लिपि का प्रत्येक वर्ण स्वतंत्र रूप से एक ही ध्वनि का उच्चारण करता है।
- इसमें अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग के लिए स्वतंत्र लिपि चिन्ह विद्यमान है।
- इसमें संयुक्ताक्षरों को ऊपर नीचे लिखने का विधान है। जिस अक्षर कों आधा लिखना होता है वह ऊपर तथा दूसरे अक्षर को उसके नीचे लिखा जाता है।

इन चार प्रमुख लिपियों के अतिरिक्त भारत देश में नेवारी ग्रंथि, शारदा, कन्नड, तेलुगू मलयालम, तमिल, गुरुमुखी बंगाली, आसामी उडिया आदि लिपियों का भी क्षेत्र विशेष में प्रचलन है। इनमें से अधिकांश लिपियां भाषा की दृष्टि से संस्कृत तथा लिपि की दृष्टि से देवनागरी से प्रभावित हैं।

4.7.5 सिन्धु लिपि

सिंधु घाटी के क्षेत्र में जो लिपि प्राप्त हुई उसे सिंधुलिपि के नाम से जाना जाता है। यह लिपि चित्रात्मक है। चित्रात्मक होने के कारण आज तक देसी अथवा विदेशी विद्वान इसको पढने में समर्थ नहीं हो सके हैं। इस लिपि में लगभग 400 से अधिक चित्रों का प्रयोग किया गया है। इसमें प्रयुक्त चित्र मछली, हिरण, वृक्ष तथा चिडिया आदि के हैं। विदेशी विद्वान मैरिंगी ने इसे भाव लिपि माना है।

4.8 सारांश

विचारों की अभिव्यक्ति के लिये ध्वनि सबसे अनिवार्य तत्व है। अतः यह भाषा की रीढ़ है। मानव को विभिन्न जानकारियों को लम्बे समय तक स्थायी रखने की आवश्यकता महसूस हुई जिससे लिपि का विकास हुआ। इस हेतु उसने मुख से निकलने वाली ध्वनियों के संकेतों अर्थात् चिन्हों को बनाना सीखा। इस प्रकार ध्वनियों के लिये बनाये गये संकेत समानता के आधार पर धीरे-धीरे लिपि का रूप धारण किये। भाषाओं को लिखने के लिए लिपियों का प्रयोग किया जाता है। इस इकाई में भारत देश की प्रमुख लिपियों में ब्राह्मी, खरोष्ठी, देवनागरी, शारदा एवं अपठित सिन्धु लिपि को रखा गया है। इनके अतिरिक्त नेवारी, ग्रंथी, शारदा, कन्नड़, तेलुग, मलयालम, तमिल, गुरुमुखी, बंगाली, आसामी, उड़िया आदि लिपियां भी क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से अधिकाशं भाषा की दृष्टि से संस्कृत तथा लिपि की दृष्टि से देवनागरी से प्रभावित हैं।

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अभिलेखमंजूषा, रणजीत सिंह सैनी, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन दिल्ली-2000
2. उत्कीर्णलेखपंचकम्, झा बन्धु, वाराणसी, 1968
3. उत्कीर्णलेखस्तबकम्, जियालाल कम्बोज, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
4. भारतीय अभिलेख, एस.एस. राणा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1978
5. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, अजमेर, 1918
6. प्राचीन भारतीय लिपिशास्त्र और अभिलेखिकी, नारायण, अवध किशोर एवं ठाकुरप्रसाद वर्मा, वाराणसी 1970

7. भारतीय पुरालिपि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, राजबली पाण्डेय, 1978
8. भारतीय पुरालिपि शास्त्र, ब्यूलर जार्ज, (हिन्दी अनु.) मंगलनाथ सिंह, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1966
9. अक्षरकथा, मुले गुणाकर, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली 2003

4.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भाषा और लिपि में अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
2. शारदा लिपि को स्पष्ट कीजिए।
3. ब्राह्मी लिपि को स्पष्ट कीजिए।

4.11 दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. लिपि के उद्भव एवं विकास को स्पष्ट कीजिए।
2. भारत की प्रमुख लिपियों पर एक निबन्ध लिखिए।

खण्ड- दो (Section-B)
व्याकरण परिचय

इकाई-1 भाषा विज्ञान का मौलिक स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 भाषा विज्ञान की परिभाषा

1.4 भाषा विज्ञान कला है या विज्ञान

1.5 भाषा-विज्ञान के प्रकार

1.6 भाषा-विज्ञान के अंग

1.7 भाषा-विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

1.7.1 भाषा-विज्ञान और व्याकरण

1.7.2 भाषा-विज्ञान और साहित्य

1.7.3 भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान

1.7.4 भाषा-विज्ञान और भौतिक विज्ञान

1.7.5 भाषा-विज्ञान और भूगोल

1.7.6 भाषा-विज्ञान और इतिहास

1.7.7 भाषा-विज्ञान और दर्शन

1.7.8 भाषा-विज्ञान और मानव विज्ञान

1.7.9 भाषा-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान

1.7.10 भाषा विज्ञान और शरीर विज्ञान

1.8 भाषा विज्ञान की उपयोगिता या अध्ययन से लाभ

1.9 सारांश

1.10 शब्दावली

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.13 उपयोगी पुस्तकें

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष' धातु व्यक्त वाक् (व्यक्तायां वाचि) से बना है, तथा विज्ञान शब्द 'वि' उपसर्ग 'ज्ञा' धातु से ल्युट् प्रत्यय लगने पर बनता है। इस प्रकार यदि देखें तो भाषा-विज्ञान दो शब्दों के योग से बना है भाषा और विज्ञान। यदि हम सामान्य रूप से इसका अर्थ निकालें तो भाषा का अर्थ है बोलचाल की भाषा व विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान।

जैसा कि नाम से प्रकट होता है **"भाषाया:विज्ञानम्"** अर्थात् भाषा का विज्ञान। मानव की प्रगति पर भाषा विशेष रूप से सहायक होती है, भाषा के द्वारा ही हमारे पूर्वजों के सारे अनुभव हमें प्राप्त हुए। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने कारण अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है।देखा जाय तो मनुष्य के विकास के साथ-साथ भाषा का भी विकास होता रहा है। महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है-

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।।

इस संसार में शब्द स्वरूप ज्योति का प्रकाश न होता तो यह सम्पूर्ण संसार अंधकारमय हो जाता। भाषा ज्ञान को प्रकाशित करती है उसके बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। भाषा ही एक वह साधन है जिसके माध्यम से हम अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- विभिन्न विद्वानों के मतानुसार भाषा-विज्ञान की परिभाषा को जान सकेंगे।
- भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- भाषा-विज्ञान के अंगों से परिचित हो सकेंगे।
- इसके साथ ही साथ यह भी जान पायेंगे कि भाषा-विज्ञान का अन्य शास्त्रों के साथ क्या सम्बन्ध है।

1.3 भाषा विज्ञान की परिभाषा

जिस शब्द में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं उसे भाषा-विज्ञान कहते हैं। भाषा-विज्ञान की परिभाषा के विषय में विद्वानों में मतभेद है-

कपिलदेव द्विवदी के अनुसार- भाषा विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन किया जाता है।

मंगलदेव शास्त्री के अनुसार-भाषा विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार-भाषा विज्ञान का सीधा अर्थ है-भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषा-विज्ञान कहलायेगा।

डॉ0 देवीशंकर द्विवेदी के अनुसार-भाषा-विज्ञान को अर्थात् भाषा के विज्ञान को भाषिकी कहते हैं।भाषिकी में भाषा का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है।

डॉ0 भोलानाथ तिवारी के अनुसार-

(क) भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं।वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास आदि के अध्ययन से है।

(ख) भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा-विशिष्ट, कई और सामान्य-का समकालिक , ऐतिहासिक,तुलनात्मक और प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

डॉ0 श्यामसुन्दर दास के अनुसार-भाषा-विज्ञान, भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट,उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।

डॉ0 बाबूराम सक्सेना के अनुसार-भाषा विज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है।

डॉ0 रामेश्वर दयालु के अनुसार- भाषा-विज्ञान भाषा सम्बन्धी समस्त तथ्यों एवं व्यापारों से सम्बन्ध रखता है। उसमें संसार की भाषाओं के गठन, इतिहास, परिवर्तन, भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध, उनके पार्थक्य, पार्थक्य के कारणों एवं नियमों आदि समस्त विषयों पर विचार होता है।

डॉ0 अम्बाप्रसाद सुमन के अनुसार-भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें भाषाओं का सामान्य रूप से या किसी एक भाषा का विशिष्ट रूप से प्रकृति,संरचना, इतिहास, तुलना, प्रयोग आदि की दृष्टि से सिद्धान्त निश्चित करते हुए वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार- भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है,जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार- विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।

डॉ0 मनमोहन गौतम के अनुसार- भाषा-विज्ञान वह शास्त्र है, जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।

डॉ0 देवेन्द्र प्रसाद सिंह के अनुसार-भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सामग्री-संकलन वर्णनात्मक,विकासात्मक,तुलनात्मक,प्रायोगिक या इसमें से किसी भी विधि से विश्लेषण के द्वारा निरूपित सिद्धान्त के आधार पर अध्ययन होता है।

1.4 भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला

भाषा-विज्ञान कला है या विज्ञान यह प्रश्न कई विद्वानों ने उठाया है। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं कि जिस विषय में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है वही विज्ञान है या हम कह सकते हैं विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान । कुछ विद्वानों ने इसे भाषा शास्त्र भी कहा है लेकिन इस कारण से इसे विज्ञान स्वीकार करना पर्याप्त नहीं होगा इसके लिए हमें विज्ञान शब्द पर विचार करना होगा।प्राचीनतम ग्रंथों में तो कहीं ब्रह्म विद्या को भी विज्ञान माना जाता था। इस प्रकार यदि हम देखें तो किसी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है।

इसके विपरीत यदि कला को देखें तो कला में विकल्पात्मक प्रतीति होती है। मानव में दो प्रकार का अनुभव होता है ब्राह्य जगत या बाहरी संसार व मानसिक अवस्थाएं। विज्ञान ब्राह्य जगत से सम्बन्धित है कला को देखें तो यह आवश्यक नहीं कि उसका रूप वास्तविक हो। यदि कला का रूप वास्तविक भी होता तो उसका निर्धारण मन के आन्तरिक भावों को जाग्रत करने

की क्षमता से किया जायेगा।संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रस बोध से रहित ज्ञान विज्ञान की श्रेणी में आता है व परिवर्तित व रस बोध से युक्त ज्ञान कला की श्रेणी में आता है। यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो भाषा विज्ञान कला की श्रेणी में कम व विज्ञान की श्रेणी में अधिक आता है। क्योंकि भाषा विज्ञान का सम्बन्ध भाषा की ध्वनियों का विश्लेषण व विवेचन करने से है, इसका रसबोध से कोई सम्बन्ध नहीं है । साहित्यिक अनुभूति एवं मनोरंजन आदि इसके लक्ष्य न होकर किसी ठोस तत्व के निष्कर्ष पर पहुंचना भाषा विज्ञान का लक्ष्य है। यदि देखा जाय तो भाषा विज्ञान रसायन एवं भौतिक विज्ञान की ही भाँति पूर्ण विज्ञान है।

1.5 भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रकार

भाषा-विज्ञान का अध्ययन कई दृष्टियों में किया जाता है।यदि हम देखें तो प्रत्येक दृष्टि से किया गया अध्ययन भाषा-विज्ञान के एक नए रूप व नए प्रकार को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है।

1-सामान्य भाषा-विज्ञान
2-वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान
3-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान
4-तुलनात्मक भाषा-विज्ञान
5-सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान

सामान्य भाषा-विज्ञान-

सामान्य भाषा-विज्ञान,भाषा-विज्ञान के उस प्रकार को कहते हैं जिसमें किसी एक भाषा विशेष को न लेकर सम्मिलित सभी भाषाएँ होती हैं। उनका अध्ययन भाषा विषयक सामान्य बातों तक ही सीमित रहता है। जैसे- भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, प्रारम्भ में भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा, भाषा में किस प्रकार परिवर्तन व विकास होता है इसके कौन-कौन से कारण हैं,भाषा की क्या विशेषताएं हैं,किस प्रकार से एक भाषा से अनेक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। जैसे-हमारी प्रारम्भिक भाषा संस्कृत से हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, नेपाली आदि सैकड़ों बोलियां बन गई।ये सभी बातें सामान्य भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आती हैं।

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान-

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किसी एक विशिष्ट भाषा के किसी एक ही काल के स्वरूप का वर्णन किया जाता है।इसके अन्तर्गत विभिन्न कालों की भाषाओं का अध्ययन सम्भव नहीं होता है। इसके अन्तर्गत वाक्य, रूप, ध्वनि आदि का वर्णन आता है।यदि भाषा का पुरातन साहित्य विद्यमान है तो यह भाषा भूतकाल की भी हो सकती है।यदि देखा जाय तो संस्कृत, गीक्र, अंग्रेजी का पुरातन साहित्य विद्यमान है इनका वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।यदि देखा जाय तो पाणिनी का व्याकरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है पाणिनी व्याकरण में पाणिनी ने संस्कृत का जो विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत किया है उसकी पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रशंसा की है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का इससे अच्छा उदाहरण अन्य कहीं नहीं मिल सकता है।

ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान-

ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषा के क्रमिक विकास अध्ययन किया जाता है। इसमें प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक का क्रमिक

विकास प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का प्राचीन रूप क्या था? मध्य युग की भाषा में कैसे परिवर्तन हुआ था व भाषा का वर्तमान रूप क्या है? इसमें कम से कम दो कालों का क्रमिक विकास दिखाना अति आवश्यक होता है। जैसे- वैदिक संस्कृति से लेकर पालि, प्राकृत व अपभ्रंश आदि के रूप में परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक समय में हिन्दी भाषा का क्रमिक विकास ऐतिहासिक भाषा का विषय बनता है।

किस प्रकार से ध्वनि, पद और वाक्यों में विकार आया? रूप व ध्वनि में परिवर्तन किस काल में हुआ? विकास के पश्चात् उसका वर्तमान रूप क्या बना? आदि का अध्ययन ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार से यदि हम देखें तो ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में विभिन्न कालों के रूपों का अध्ययन किया जाता है।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान-

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ मूलतः 18वीं-19वीं सदी में हुआ इसके अन्तर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। नयी और पुरानी भाषा की तुलना किसी काल विशेष के आधार पर की जाती है। जो भाषाएं लुप्त हो गयी हैं उनके अनुसंधान में भी यह सहायक होता है। इसके अन्तर्गत किसी भी भाषा की ध्वनियों,पदों और वाक्यों की सभी प्रकार से तुलना की जाती है। वर्णनात्मक और ऐतिहासिक पद्धतियों का इसमें समावेश होता है। इसके अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति भी भाषा के रूपों के स्वरूप को बतलाकर पूर्ण रूप से सहयोग करती है व भाषा की तुलना वर्णनात्मक पद्धति के आधार पर होती है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में वर्णनात्मक व ऐतिहासिक दोनों पद्धतियां पूर्ण रूप से सहयोगी हैं । देखा जाय तो संस्कृत, लैटिन व ग्रीक भाषाओं की तुलना से ही तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ।

सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान-

सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषा की प्रकृति ,संरचना,उत्पत्ति व विकास आदि का सैद्धान्तिक अध्ययन करते हैं। इसके अन्तर्गत भाषा विषयक विभिन्न सिद्धान्तों का निर्धारण होता है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो भाषा-विज्ञान भाषा के अध्ययन विश्लेषण का विज्ञान है। इसकी सहायता से भाषा की आंतरिक प्रकृति पर प्रकाश डाला जा सकता है, साथ ही साथ भाषा सम्बन्धी सिद्धान्तों का निश्चित करता है इस तरह से यह सिद्धान्त परक है।

1.6 भाषा-विज्ञान के अंग

भाषा का सर्वांगीण अध्ययन करना ही भाषा-विज्ञान का उद्देश्य है। भाषा-विज्ञान में भाषा से सम्बन्धित सभी विषय आते हैं इन्हें हम भाषा के अध्ययन के विभाग भी कह सकते हैं। मुख्य रूप से तो भाषा-विज्ञान के चार घटक हैं किन्तु भाषा-विज्ञान इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य विषयों पर भी पर भी विवेचना की गई है वे गौण अंग हैं। इस प्रकार से हम भाषा-विज्ञान के अंगों को दो भागों में बांट सकते हैं। 1-मुख्य अंग,तथा 2-गौण अंग ।

ध्वनि विज्ञान—

वाक्य की सबसे छोटी इकाई ध्वनि है। यदि शब्दों का विश्लेषण करें तो हम ध्वनि पर पहुँचते हैं। भाषा का आरम्भ ध्वनि से होता है। ध्वनि को हम स्वन (फोन) नाम से भी जानते हैं या हम कह सकते हैं कि यह ध्वनि का दूसरा नाम है।ध्वनि को मिलाकर शब्द या पद बनाये जाते हैं। ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत हम ध्वनियों का अध्ययन करते हैं। ध्वनियों के दो रूप हैं-

क- सैद्धान्तिक-सैद्धान्तिक के अर्न्तगत ध्वनियों के उच्चारण अवयवों के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है । इसके साथ ही साथ स्वर एवं व्यंजनों का वर्गीकरण एवं उनमें अन्तर आदि पर विचार किया जाता है ।

ख- भाषा-सापेक्ष-भाषा -सापेक्ष के अर्न्तगत भाषा विशेष की ध्वनियों का वर्गीकरण एवं भाषा-विशेष में प्रयुक्त ध्वनियों की व्यवस्था आदि का विवेचन किया जाता है।

पद विज्ञान—

पद-विज्ञान को रूप विज्ञान भी कहते हैं। पद-विज्ञान के अर्न्तगत पदों अर्थात रूपों का अध्ययन करते हैं। ध्वनियों के मिलने से पद बनाये जाते हैं। पद विज्ञान हमें यह बताता है कि किस प्रकार पदों का निर्माण होता है ? किस आधार पर पदों का विभाजन होता है ? पुरूष, वचन, लिंग, विभक्ति, काल, प्रत्यय आदि तत्व क्या हैं? इन सभी का विवेचन किया जाता है ।

वाक्य विज्ञान—

वाक्य विज्ञान भाषा विज्ञान की वह शाखा है जिसमें वाक्यों का अध्ययन व विश्लेषण किया जाता है। विभिन्न ध्वनियों के मिलने से जिस प्रकार पद या रूप बनता है उसी प्रकार विभिन्न पदों या रूपों के मिलने से वाक्य बनता है।इसके अर्न्तगत यह अध्ययन किया जाता है कि वाक्य की रचना किस प्रकार होती है? वाक्य के कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का क्या स्थान है? वाक्य के कितने भेद हैं ? वाक्य विज्ञान को वाक्य विचार भी कहा जाता है। वाक्य विज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया गया है ।

1-वर्णनात्मक वाक्य विज्ञान

2-ऐतिहासिक वाक्य विज्ञान

3-तुलनात्मक वाक्य विज्ञान

अर्थ विज्ञान—

अर्थ विज्ञान को अर्थ विचार भी कहते हैं। बिना अर्थ के भाषा का कोई महत्व नहीं है। जिस प्रकार से आत्मा मनुष्य का सार है उसी प्रकार भाषा की आत्मा अर्थ है।इसके अर्न्तगत इस विषय पर विचार किया जाता है कि अर्थ क्या है? अर्थ को कैसे निर्धारित करते हैं? शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है? अर्थ कितने प्रकार का होता है ? किन कारणों से अर्थ में परिवर्तन होते हैं? आदि का अध्ययन अर्थ विज्ञान के अर्न्तगत किया जाता है। अर्थ विज्ञान के चार भेद हैं-एककालिक,व्यतिरेकी, काल-क्रमिक,तथा तुलनात्मक।

गौण अंग- मुख्य अंग के अतिरिक्त भाषा के गौण अंग भी हैं इनका अपना अलग महत्व है। प्रमुख गौण अंग निम्न हैं-

भाषा की उत्पत्ति—

भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? उत्पत्ति के विषय में भाषाशास्त्रियों का क्या मत है? किस प्रकार भाषा में परिवर्तन या विकास हुआ? इन सभी बातों पर विचार किया जाता है।

कोश विज्ञान—

इस विज्ञान के अर्न्तगत कोश रचना का प्रकार बताया जाता है। कैसे शब्दों की व्युत्पत्ति हुई? किस प्रकार से शब्दों के अर्थ का निर्धारण किया जाता है ? शब्दों का किन अर्थों में प्रयोग होता है ? कोश विज्ञान के अर्न्तगत व्यत्पत्ति शास्त्र भी आता है। निघण्टु नामक ग्रंथ इसका प्राचीन उदाहरण है।

भाषिक भूगोल—

भाषिक भूगोल के अन्तर्गत भौगोलिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया जाता है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में कौन-कौन सी भाषाएं बोली जाती हैं? भाषा का क्षेत्र कितना व्याप्त है? भाषा की कितनी बोलियां व उपबोलियां हैं? इसी का अध्ययन किया जाता है।

लिपि विज्ञान—

लिपि को भी भाषा-विज्ञान का अंग माना जाता है, इसके अन्तर्गत लिपि की उत्पत्ति,उसके विकास व उसकी उपयोगिता पर विवेचन किया जाता है। किसी भी भाषा का अध्ययन लिपि के आधार पर किया जाता है।

बोध प्रश्न

1-रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये-

(क) भाषा का.............अध्ययन करना ही भाषा विज्ञान का उद्देश्य है।

(ख) भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही ....कहते हैं।

(ग) वाक्य की सबसे छोटी इकाई............है।

(घ) भाषिक भूगोल के अन्तर्गत....................दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया जाता है।

2- नीचे जो वाक्य दिये गये हैं उनमें से तथ्य की दृष्टि से कुछ सही हैं और कुछ गलत हैं। सही वाक्यों के सामने कोष्ठक में सही (✓) तथा गलत वाक्यों के सामने गलत का चिह्न लगाइये-

(क) तुलनात्मक भाषा विज्ञान का प्रारम्भ मूलतः 18वीं-19वीं शती में हुआ। ( )

(ख) पद विज्ञान को रूप विज्ञान नहीं कहते हैं। ( )

(ग) ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। ( )

(घ) लिपि को भाषा विज्ञान का अंग नहीं माना जाता है। ( )

1.7 भाषा-विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध

भाषा मानव जीवन का अभिन्न अंग है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा से है। भाषा-विज्ञान का मानव जीवन से सम्बन्धित विज्ञानों और शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। देखा जाय तो मानव ने अपने अध्ययन की सुविधा के अनुसार ज्ञान को कुछ क्षेत्रों में बाँटा है । इनको अलग-अलग शास्त्रों व विज्ञानों का नाम दिया है।

भाषा-विज्ञान सम्बन्धी तात्विक ज्ञान के लिए इन विज्ञानों और शास्त्रों की सहायता लेनी पड़ती है संक्षेप में कुछ विवेचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं।जिनका भाषा-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1.7.1 भाषा-विज्ञान और व्याकरण

सामान्य भाषा में व्याकरण का अर्थ है विवेचन। व्याकरण की उत्पत्ति व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दाः, प्रकृतिप्रत्ययो वा, येन तद् व्याकरणम् से हुई। भाषा-विज्ञान और व्याकरण में कुछ समानताओं के साथ-साथ कुछ अन्तर भी है। दोनों का ही भाषा के अध्ययन से घनिष्ट सम्बन्ध है।दोनों भाषा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश का भी प्रतिपादन करते हैं।भाषा में कहां पर कैसा प्रयोग होना चाहिए, प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध इस बात का निर्धारण व्याकरण करता है।भाषा-विज्ञान केवल इस बात को जानना चाहता है कि कब, कहां पर कैसा प्रयोग होता है।

समानताएं होने के बाद भी दोनों में कुछ अन्तर है। भाषा-विज्ञान का क्षेत्र व्यापक है व व्याकरण का क्षेत्र सीमित है। व्याकरण का सम्बन्ध केवल एक ही भाषा से होता है, इसके विपरीत भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध अनेक भाषाओं से होता है।यदि अध्ययन किया जाय तो विश्व की समस्त भाषाओं से भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है। अतः व्याकरण को अंग व भाषा-विज्ञान को अंगी माना जाता है। भाषा का नियम व्याकरण प्रस्तुत करता है और भाषा-विज्ञान उस नियम की व्याख्या करता है।

1.7.2 भाषा-विज्ञान और साहित्य

भाषा-विज्ञान और साहित्य दोनों एक दूसरे के उपकारक हैं। भाषा-विज्ञान के प्रमुख दो अंग तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान पूर्णरूपेण साहित्य पर निर्भर है। यदि देखा जाय तो भाषा विज्ञान की उत्पत्ति संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के अध्ययन के फलस्वरूप हुई। भाषा विज्ञान एक विज्ञान व साहित्य कला है। जिस प्रकार भाषा विज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है उसी प्रकार साहित्य का हृदय से है। भाषा विज्ञान के अन्तर्गत भाषाओं, बोलियों व जनसमूह में प्रचलित भाषा का ही अध्ययन होता है साहित्य में भाषाओं का सग्रह होता है इस प्र्रकार यदि देखें तो भाषा विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। साहित्य में प्राचीन भाषाओं के रूपों को सुरक्षित कर भाषा विज्ञान के अध्ययन सम्बन्धि सामग्री प्रदान की जाती है। साहित्य के बीना भाषा विज्ञान का विकास सम्भव नही है इस प्रकार भाषा विज्ञान और साहित्य एक दूसरे के सहायक हैं ।

1.7.3 भाषा विज्ञान और मनोविज्ञान

भाषा विज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा विज्ञान के अर्न्तगत भाषा का अध्ययन किया जाता है और मनोविज्ञान के अर्न्तगत मन का।भाषा विचारों या भावों का प्रकट करती है भाव या विचारों का सम्बन्ध मन से है। जैसा हम सोचते हैं वैसा ही बोलते हैं जो मन में आता है उसी को प्रकट करते हैं। इसका सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस तरह से यदि देखा जाय तो भाषा की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में मनोविज्ञान भाषा विज्ञान की सहायता करता है ।

मनोविज्ञान की आवश्यकता ध्वनि विज्ञान और अर्थविज्ञान में भी विशेष रूप से पड़ती है जैसे हमारे मन में विचार उत्पन्न होगें वैसी ही भाषा का हम उच्चारण करेंगे। इस प्रकार मनोविज्ञान ध्वनि विज्ञान में कारण रहता है। इसी प्रकार अर्थ परिवर्तन में भी मनोविज्ञान सहायक है। जैसे-एक ही शब्द के अनेकार्थक शब्द आदि। दूसरी ओर यदि हम देखें तो भाषा विज्ञान भी मनोविज्ञान का उपकारक है। मानसिक रोगों का उपचार भाषा विज्ञान के द्वारा किया जाता है।

1.7.4 भाषा-विज्ञान और भौतिक विज्ञान

भाषा विज्ञान के अध्ययन में भौतिक विज्ञान एक अत्यन्त सहायक अंग है। विज्ञान का भाषा विज्ञान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मनुष्य जब कुछ बोलता है वह ध्वनि श्रोता के तक कैसे पहुँचती है और श्रोता किस प्रकार से उस ध्वनि को अपनाता है। इन सभी बातों का अध्ययन भौतिकी के अर्न्तगत होता है।

ध्वनि-तरंग एवं कम्पन आदि का विस्तृत रूप से भौतिक विज्ञान में अध्ययन किया जाता है। ध्वनि विज्ञान जो कि भाषा विज्ञान का एक प्रमुख अंग है वह भौतिकी पर निर्भर है। वह हमें बतलाता है कि ईथर नामक तत्व जो आकाश में व्याप्त है वह ध्वनि तरंगों को एक स्थान से

दूसरे स्थान तक भेजता है। इसी के आधार पर बोलने वाले अर्थात् वक्ता के विचार श्रोता को सुनायी पड़ते हैं।

1.7.5 भाषा विज्ञान और भूगोल

भाषा विज्ञान का भूगोल से अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है सीमा के अनुसार भूगोल भाषाओं के निर्धारण में सहायक है। क्योंकि स्थानभेद के आधार पर भाषा बदल जाती है। कुछ भाषा शास्त्रियों के अनुसार स्थानीय भौगोलिक परिस्थिति का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है भौगोलिक प्रभाव के कारण ध्वनि में भी परिवर्तन होता है जिस कारण लोगों के उच्चारण में भी अन्तर पाया जाता है जिस प्रकार से ठंडे से दुर्गम स्थानों में रहने वालों का स्वर अस्पष्ट रहता है इसके विपरित गर्म स्थानों में उच्चारण स्वर में स्पष्टता दिखाई देती है।

दुर्गम व पर्वतीय क्षेत्रों की भाषा में परिवर्तन तेजी से न होकर बहुत देर से होता है, जबकि मैदानी क्षेत्रों की भाषाओं में परिवर्तन तीव्रता से होता है यह भी भौगोलिक कारण है क्योंकि मैदानी भागों में लोगों का सम्पर्क अधिक होता है जिस कारण भाषा में परिवर्तन होता है पर्वतीय क्षेत्रों में दूर-दूर होने के कारण लोगों का सम्पर्क कम होता है जिस कारण भाषा में परिवर्तन बहुत देर से होता है। किसी भी भाषा का कम या अधिक विस्तार भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। भूगोल अर्थविचार में भी भाषा-विज्ञान की सहायता करता है। जैसे-प्राचीन समय में उष्ट्र का अर्थ जंगली भैंसे से था। तदन्तर उष्ट्र को ही लोगों ने ऊँट कहना कैसे प्रारम्भ कर दिया, सैंधव का अर्थ नमक व घोड़ा ही क्यों हुआ, संस्कृत भाषा में कश्मीर का केसर अर्थ कैसे निकला आदि बातों का समाधान करने में भूगोल ही भाषा-विज्ञान की सहायता करता है।

1.7.6 भाषा-विज्ञान और इतिहास

भाषा-विज्ञान और इतिहास का निकटतम सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन में इतिहास सहायता करता है व इतिहास की सामग्री प्रस्तुत कर भाषा-विज्ञान इतिहास की सहायता करता है। भाषा-विज्ञान की सहायता से ही शिलालेखों, अभिलेखों, सिक्कों, धातुओं की बनी लिपियों आदि का अध्ययन किया जाता है। किस प्रकार से शब्द और अर्थ में परिवर्तन हुआ इस बात की जानकारी भी हमें इतिहास के माध्यम से प्राप्त होती है।

राजनीतिक इतिहास हमें यह बताता है कि विदेशी शब्दों का प्रचलन कहाँ से हुआ। भारत में अंग्रेजी,अरबी,फारसी,तुर्की व पुर्तगाली शब्दों का आगमन कब हुआ यह भी हमें इतिहास ही बताता है।

धार्मिक इतिहास धर्म पर आधारित भाषा से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को सुलझाता है।धर्म के रूप परिवर्तन का भी भाषा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। धार्मिक इतिहास हमारे इस प्रश्न का उत्तर भी देता है कि किस प्रकार मराठी तथा बंगाली में ब्रज भाषा के कुछ अंश आ गये, हिन्दुओं की भाषा संस्कृत युक्त क्यों है, भारत में हिन्दी व उर्दू की समस्या कैसे उत्पन्न हुई।भाषा-विज्ञान के अध्ययन से ही प्राचीन धार्मिक रूप ज्ञात होता है। समाजिक इतिहास के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि समाज में प्रचलित प्रथाएँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं। यदि देखा जाय तो भारतीय भाषाओं में माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची के अलावा जीजा-साली, मौसा-मौसी,नाना- नानी आदि शब्दों की बहुलता है। इसके विपरीत विदेशी भाषाओं में इनके

लिए अलग-अलग शब्दों का अभाव है।इस प्रकार से यदि देखा जाय तो इतिहास भाषा-विज्ञान का उपकारक है

1.7.7 भाषा-विज्ञान और दर्शन

भाषा-विज्ञान और दर्शन का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, जीव आदि का अध्ययन होता है।अर्थ विज्ञान जो कि भाषा-विज्ञान का प्रमुख अंग है उसका दर्शन शास्त्र से विशेष सम्बन्ध है। सर्वप्रथम मींमासकों व दार्शनिकों ने ही शब्द और अर्थ पर चिन्तन अर्थात् विचार किया।उनके अनुसार शब्द क्या है? उसका स्वरूप क्या है? शब्द की कितनी शक्तियां हैं?शब्द व अर्थ का सम्बन्ध है भी या नहीं आदि बातों पर पाश्चात्य व भारतीय दार्शनिकों ने ही सर्वप्रथम विचार किया।

भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय में इसका विकास देखने को मिलता है। अभिहितान्वयवाद, स्फोटवाद व मीमांसकों का शब्द नित्यतावाद दार्शनिक के ही अन्दर आते हैं। अर्थ विज्ञान जो कि भाषा विज्ञान का प्रमुख अंग है कुछ भाषा शास्त्री उसे दर्शन शास्त्र के ही अन्तर्गत मानते हैं।

1.7.9 भाषा-विज्ञान और मानव विज्ञान

भाषा मनुष्य के विकास का प्रतीक है। इस तरह से भाषा विज्ञान व मानव विज्ञान का सम्बन्ध है दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन सम्बन्धी सामग्री को प्रस्तुत करते हैं। सभ्यता, विज्ञान व संस्कृति आदि के आधार पर किस प्रकार विकास हुआ इसका विवेचन मानव विज्ञान करता है।

भाषा की उत्पत्ति व उसके प्राचीन रूप आदि के अध्ययन के लिए भाषा को मानव विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। मानव विज्ञान की सहायता के द्वारा ही भाषा विज्ञान को यह जानकारी प्राप्त होती है कि अशोक के शिलालेख में लिखे देवानां प्रिय का अर्थ अनन्तर में मूर्ख कैसे हो गया ? इसी तरह ऋग्वेद में असुर शब्द देव के लिए प्रयुक्त होता था परवर्ती संस्कृत साहित्य में वह राक्षस अर्थ में कैसे प्रयुक्त हुआ। इस प्रकार भाषा विज्ञान व मानव विज्ञान एक दूसरे के सहायक है

1.7.10 भाषा-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान

भाषा विज्ञान व सामाजिक विज्ञान दोनों का सापेक्ष होने के कारण परस्पर सम्बन्ध है। सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत समाज में रहने वाले मानव के आहार व्यवहार, आचार विचार व रीति परम्पराओं का अध्ययन होता है। भाषा सामाजिक वस्तु होने के कारण समाजशास्त्रियों के अध्ययन का विषय बन जाती है। भाषा विज्ञान में सैकड़ों शब्द आचार विचार व रीति रिवाजों के हैं समाज विज्ञान की सहायता से इनकी व्याख्या में सरलता हो जाती है। समाजिक विज्ञान हमें यह बताता है कि किस प्रकार भाषा में विकास और पतन के कारण रूप परिवर्तन होने से अर्थ परिवर्तन हुआ। जैसे- शुक्ल से शुक्ला, द्विवेदी से दुबे त्रिवेदी से तिवारी आदि शब्द। यदि हम दोनों की तुलना करें तो भाषा विज्ञान का क्षेत्र सीमित व सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत है क्योंकि भाषा विज्ञान सामाजिक विज्ञान के नियंत्रण में रहता है।

1.7.11 भाषा-विज्ञान और शरीर विज्ञान

भाषा विज्ञान का आधार ही भाषा है। भाषा मनुष्य के अर्थात् वक्ता के मुख से निकली वह ध्वनि है जो श्रोता के द्वारा ग्रहण की जाती है।इस बात पर विचार करने से यह ज्ञात होता है

कि वाग्रिन्द्रिय की सहायता से वक्ता ने जो कुछ भी कहा वह ध्वनि तरंगों की सहायता से श्रोता तक पहुँचती है। उच्चारण करते समय वायु शरीर के भीतर कैसे चलती है, कैसे स्वर यंत्र प्रभावित होता है आदि के अध्ययन में शरीर विज्ञान भाषा विज्ञान की सहायता करता है।

1.8 भाषा-विज्ञान की उपयोगिता या अध्ययन से लाभ

भाषा विज्ञान एक विज्ञान है। विभिन्न विद्वानों ने इस पर विचार भी किया है। यहाँ पर हम विद्वानों के मतों को आधार बनाते हुए उसकी उपयोगिता अर्थात् अध्ययन से लाभ पर विचार करेंगे-

(1) ज्ञान पिपासा की शान्तिः- भाषा विज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जो हमारी भाषा विषयक जिज्ञासाओं की तृप्ति करता है। मानव का यही स्वभाव होता है कि वह अपने ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करता रहे यही उसका कर्तव्य भी है। भाषा हमारे जीवन का अभिन्न अंग होने के कारण हमें उसके विषय में पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान पिपासा की शान्ति के द्वारा मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

(2) प्राचीन संस्कृति का ज्ञानः- प्राचीन सभ्यता व संस्कृति का ज्ञान हमारे लिए अति आवश्यक है। प्राचीन संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने में भाषा विज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान है। सभी जातियों की संस्कृतियों का बोध हमें भाषा विज्ञान के द्वारा ही होता है।

(3) विश्व बन्धुत्व की भावनाः-भाषा विज्ञान हमें विश्व की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान कराता है व हमारे मन में व्याप्त संकीर्णता की भावना को दूर करता है। अनेक भाषाओं के आपस में सम्बन्ध का ज्ञान होने से हमारे मन में आत्मीयता की अनुभूति होती है। इस प्रकार विश्व बन्धुत्व की भावना समस्त विश्व में फैलती है।

(4) भाषा के अध्ययन में सहायकः- भाषा के अध्ययन का विज्ञान ही भाषा विज्ञान है। ध्वनियों, प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण आदि का ज्ञान हमें इसी के द्वारा होता है इसके साथ ही साथ उच्चारण की शुद्धता का बोध भी यह कराता है।

(5) साहित्य के ज्ञान में सहायकः-यदि देखा जाय तो साहित्य के आधार ही भाषा विज्ञान हैं। यह किसी भी भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों की विवेचना करता है। यह भाषा के अर्थ विज्ञान व अर्थ विकास को जानने में सहायक होता है।

(6) वेदार्थ ज्ञान में सहायकः- भाषा विज्ञान वेदों के अर्थ ज्ञान में सहायता करता है। लैटिन, ग्रीक, आदि भाषाओं के अध्ययन में वैदिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए भाषा विज्ञान कीतुलनात्मक पद्धति की सहायता ली जाती है।

(7) अनुवाद व पाठ संशोधन आदि में संशोधनः-भाषा विज्ञान विभिन्न भाषाओं अर्थात् एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करने में सहायता करता है।इसके साथ ही साथ यह प्राचीन ग्रंथों के पाठ निर्णय व अर्थ निर्णय में सहायक सिद्ध होता है।

बोध-प्रश्न

3- निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखिये-

(1) भाषा विज्ञान क्या है?

(क) व्याकरण (ग) विज्ञान

(ख) साहित्य (घ) कला

(2) मनोविज्ञान का सम्बन्ध है।

(क) भावों से (ग) बोलियों से
(ख) मस्तिष्क से (घ) हृदय से

(3) भाषा विज्ञान का क्षेत्र है।
(क) सीमित (ग) व्यापक
(ख) विपरीत (घ) शुद्ध

4- नीचे जो वाक्य दिये गये हैं उनमें से तथ्य की दृष्टि से कुछ सही हैं और कुछ गलत हैं सही वाक्यों के सामने कोष्ठक में (✓) तथा गलत वाक्यों के सामने (✗) का चिह्न लगाइये-

(क) भाषाविज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जो हमारी भाषाविषयक जिज्ञासाओं की तृप्ति करता है ( )

(ख) दुर्गम व पर्वतीय क्षेत्रों की भाषा में परिवर्तन तेजी से होता है। ( )

(ग) प्राचीन सभ्यता का ज्ञान हमारे लिए अति आवश्यक है। ( )

(घ) भौगोलिक परिस्थिति का भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । ( )

1.9 सारांश

मनुष्य इस संसार का सर्वोत्तम प्राणी माना जाता है, वह अपने ज्ञान विज्ञान के द्वारा ही सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। भाषा मनुष्य की प्रगति में विशेष रूप से सहायक होती है।इस इकाई में आप विभिन्न विद्वानों के द्वारा दी गई परिभाषाओं से परिचित हुए, व साथ ही साथ आपने भाषा विज्ञान के अध्ययन के प्रकारों व उसके अंगों के विषय में जानकारी प्राप्त की। इससे तो आप परिचित हैं कि भाषा विज्ञान एक विज्ञान है किन्तु भाषा विज्ञान का किसी न किसी रूप में अन्य विज्ञानों व शास्त्रों से सम्बन्ध है।भाषा विज्ञान को इन विज्ञानों की सहायता लेनी पड़ती है। मनुष्य अपने ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करना चाहता है, क्योंकि भाषा हमारे जीवन का अभिन्न अंग है उसके विषय में पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है इसमें भाषा विज्ञान हमारी सहायता करता है और साथ ही साथ भाषा विषयक जिज्ञासाओं की तृप्ति करता है।

1.10 शब्दावली

विशिष्ट - विशेष प्रकार
पुरातन - पुराना(प्राचीन)
लुप्त - समाप्त होना
सर्वांगीण - सम्पूर्ण विकास
सूक्ष्माति सूक्ष्म - छोटे से छोटा
घनिष्ठ - गहरा
ईथर - ऐसा पदार्थ जो ध्वनि तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजता है।
श्रोता - सुनने वाला
वक्ता - बोलने वाला

1.11 बोध-प्रश्नों के उत्तर

1- (क) सर्वांगीण (ख) भाषा विज्ञान
(ग) ध्वनि (घ) भौगोलिक

2- (क) (ख) (ग) (ख)

3- (1) गः- विज्ञान (2) खः- मस्तिष्क (3) गः- व्यापक

4- (क) □ (ख) (ग) □ (ख) □

1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

(1) डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी- भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी।

(2) डॉ0 जितेन्द्र वत्स-भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, निर्मल पब्लिकेशन्स, शाहदरा दिल्ली।

(3) डॉ0 भोलानाथ तिवारी - भाषा विज्ञान, किताब महल, सरोजनी नायडू मार्ग,इलाहाबाद।

(4) डॉ0 कर्णसिंह-भाषा विज्ञान,प्रकाशक, रतिराम शास्त्री,अध्यक्ष,साहित्य भण्डार,सुभाष बाजार, मेरठ।

1.13 उपयोगी पुस्तकें

(1) आधुनिक भाषा विज्ञान	-	डॉ0 राममणि शर्मा
(2) भाषा विज्ञान	-	डॉ0 श्याम सुन्दर दास
(3) भाषा और भाषाविज्ञान	-	प्रो0 रामाश्रय मिश्र

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1-विद्वानों के मतों के अनुसार भाषा विज्ञान की परिभाषा को समझाते हुए,यह बताइये कि भाषा विज्ञान विज्ञान है या कला।

2- भाषा विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध समझाइये।

3- भाषा विज्ञान के अंगों का वर्णन कीजिये।

इकाई–2 संस्कृत व्याकरण का प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 संस्कृत व्याकरण का परिचय
2.4 संस्कृत व्याकरण के प्रयोजन
2.5 मुख्य प्रयोजन एवं गौंण प्रयोजन
  2.5.1 रक्षा
  2.5.2 ऊह
  2.5.3 आगम
  2.5.4 लघु
  2.5.5 असन्देह
2.6 संस्कृत व्याकरण के आनुषंगिक प्रयोजन
2.6.1 ते सुराः
2.6.2 दुष्टः शब्दः
2.6.3 यदधीतम्
2.6.4 यस्तु प्रयुङ्क्ते
2.6.5 अविद्वांसः
2.6.6 विभक्तिं कुर्वन्ति
2.6.7 यो वा इमाम्
2.6.8 चत्वारि
2.6.9 उत त्वः
2.6.10 सक्तुमिव
2.6.11 सारस्वतीम्
2.6.12 दशम्यां पुत्रस्य
2.6.13 सुदेवो असि
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 बोध/अभ्यास प्रश्न
2.10 उपयोगी पुस्तकें

2.1 प्रस्तावना

संस्कृत को विश्व की प्राचीनतम भाषा होने का गौरव प्राप्त है। संस्कृत वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध होने से अतिव्यापक और विशाल साहित्य का भाण्डागार भी है। हमारे ऋषि–महर्षियों ने अपने अगाध तपोबल से इस महान वि। ा को साक्षात् परमेश्वर से प्राप्त किया था, इसीलिए इसे देववाणी भी कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण को परिपुष्ट बनाने में अनेकानेक ऋषि महर्षियों ने अपना योगदान दिया, इसे प्रामाणिक और परिपुष्ट करने में आचार्य पाणिनि का नाम सर्वोपरि आता है। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इस परम्परा में अपना अभिन्न योगदान दिया था, आज भी पूववर्ती आचार्यों को स्मरण किया जाता है, उनके नाम हैं–

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्।।

महर्षि पाणिनि के पूर्व अनेक वैयाकरण हुए, जिन्होंने शब्द साधुत्व पर नियम बनाये, उनमें विशेष आठ वैयाकरण रहे, इन्होंने संस्कृत व्याकरण को बनाने में अपना विशिष्ट योगदान प्रदान किया, परन्तु पाणिनि ने न केवल पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों को आत्मसात किया अपितु उनमें आने वाली कठिनाइयों को दूर करते हुए अष्टाध्यायी का निर्माण किया। अष्टाध्यायी अतिशय प्रसिद्धि को प्राप्त हुई।

व्याकरण के अध्ययन से कठिनतम वेद भी ग्राह्य हो जाता है। दुरूह से दुरूह ग्रन्थ भी व्याकरण के आत्मसात होने से सरल प्रतीत होता है। अतः व्याकरण को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है।

2.2 उद्देश्य

संस्कृत भाषा का व्याकरण एकदम परिपूर्ण, परिशुद्ध एवं व्यवस्थित होने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय है। संस्कृत के अध्ययन से न केवल भाषा सम्बन्धी दुरूहता दूर होती है, अपितु संस्कृत के वैज्ञानिक पक्ष का भी वि। ार्थियों को सहज ज्ञान होता है। **प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।** अर्थात मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता है। अतः व्याकरण के प्रयोजन को इस इकाई के माध्यम से बोध कराना प्रमुख उद्देश्य है।

2.3 संस्कृत व्याकरण का परिचय

प्रिय विद्यार्थियों! इस प्रकरण में हम व्याकरण की व्युत्पत्ति, व्याकरण परम्परा एवं व्याकरण के महत्व के बारे में जानेंगे। व्याकरण की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–

व्याक्रियन्ते व्युत्पा। न्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्।

व्याक्रियन्तेऽसाधुशब्देभ्यः साधुशब्दाः पृथक् क्रियन्ते येन तद् व्याकरणम्।
असाधुशब्दावधिकसाधुशब्दकर्मकपृथक्कृतिपूर्वक साधुशब्दविषयकज्ञानकरणं व्याकरणम्।

वि आङ कृ ल्युट् इस प्रकार व्याकरण शब्द निष्पन्न होता है। व्याकरण को शब्दानुशासन भी कहा जाता है।

महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में 3995 सूत्र हैं। यह आठ अध्यायों में विभक्त है, प्रत्येक अध्याय में तीन पाद हैं।

त्रिमुनि व्याकरण का आशय पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि से है। तीनों मुनियों का योगदान व्याकरण को उन्नत स्तर पर ले जाता है। कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों पर 4295 वार्तिक लिखे हैं। वार्तिकों में अनेक लोक में प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है। महर्षि पतंजलि कृत महाभाष्य एक श्रेष्ठ रचना है। महाभाष्य में दार्शनिक चिन्तन के बीज विद्यमान हैं, महाभाष्य पर कई टीका ग्रन्थ हैं, जिनमें कैयट का प्रदीप, भर्तृहरि की त्रिपदी, शेषनारायण का सूक्तिरत्नाकर प्रसिद्ध है।

मुनित्रय से आगे भर्तृहरि, कैयट, हरदत्त, वामन, जयादित्य, रामचन्द्र, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागोजिभट्ट आदि विद्वानों ने व्याकरण को और अधिक समुन्नत किया।

व्याकरण की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य दण्डी कहते हैं–

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दात्मकं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

भर्तृहरि कहते हैं–

अर्थप्रवृत्तितत्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।

वेदांगों में व्याकरण का स्थान–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पा. शिक्षा 41/42

व्याकरण के ज्ञान के बिना वेद वेदान्त, स्मृति पुराण, इतिहास काव्य आदि किसी भी शास्त्रान्तर में प्रवेश नहीं हो सकता, भाष्कराचार्य कहते हैं–

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी।।

व्याकरणशास्त्र लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का साधुत्व का अनुशासन करता है, अखण्ड और नित्य स्फोटरूप शब्दब्रह्म की संसिद्धि वैयाकरणों को अभीष्ट है। वह नित्य तत्व जो ध्वनि से व्यक्त होता है तथा उच्चरित होने पर तत्तत् अर्थ का बोध करवाता है, वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द है, इसे ही स्फोट का नाम दिया गया है।

अभ्यास प्रश्न–

1 **संस्कृत व्याकरण को समृद्ध बनाने वाले आचार्यों के नाम लिखिये?**
2 **वेदांग कितने हैं? उनके नाम लिखिये ?**
3 **व्याकरण की परिभाषा लिखिये?**
4 **व्याकरण की व्युत्पत्ति सिद्ध कीजिये ?**
5 **अष्टाध्यायी में सूत्र संख्या लिखिये?**
6 **मुनित्रय का संस्कृत को दिये गये योगदान को व्यक्त कीजिये?**

महाभाष्यकार पतंजलि–

संस्कृत जगत में महर्षि पतंजलि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। व्याकरण के इतिहास में इनके अन्य नाम भी प्रचलित हैं यथा– गोनर्दीय नरदीय, गोणिका पुत्र, नागनाथ, अहिपति फणिभृत, चूर्णिकार, पदकार आदि। इनमें से अधिकांश नामों में विद्वानों का मतैक्य दिखाई देता है, परन्तु पदकार के विषय में मतभेद है।

मुनित्रय में प्रतिष्ठित पतंजलि अपने अभूतपूर्व ग्रन्थ ''महाभाष्यम्'' के कारण विश्वविश्रुत हैं। पतंजलि ने आचार्य पाणिनि एवं कात्यायन के सूत्रों एवं वार्तिकों पर वैदुष्यपूर्ण चिन्तन किया है, महाभाष्य में दो प्रकार की शैली का प्रयोग हुआ है। चूर्णिका और तण्डक।

चूर्णिका वह शैली है, जिसमें विषय का प्रतिपादन अत्यन्त मौलिक और सरल रूप से प्रस्तुत होता है। तण्डक वह शैली है जिसके अन्तर्गत पतंजलि विषय का प्रतिपादन आक्षेप एवं समाधान रीति से करते हैं। पतंजलि के महाभाष्य में भाषागत जटिल समास नहीं हैं भाषा सरल, प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। महाभाष्य अष्टाध्यायी का व्याख्यान रूप है, महाभाष्य में पद विभाग की योजना भी अष्टाध्यायी के अनुसार ही है।

महाभाष्य में अंकों का विभाजन आह्निक के रूपों में हुआ है, आह्निक का अर्थ है ''अह्ना निर्वृत्तम्, अर्थात एक दिन में पढाये गये पाठ अथवा एक दिन में किया गया कार्य। महाभाष्य में कुल 85 आह्निक हैं, प्रथम आह्निक पस्पशाह्निक के नाम से प्रसिद्ध है। स्पश् धातु का अर्थ गोपनीय तथ्य की प्राप्ति से है। पस्पशाह्निक में भाष्यकार ने शब्दस्वरूप, व्याकरण अध्ययन के प्रयोजन, शब्दों का नित्य–अनित्यत्वविवेचन, जाति, व्यक्ति , व्याकरण शिक्षा का उद्देश्य जैसे विशद विषयों पर चिन्तन किया है।

पतंजलि ने ''व्याकरण'' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है– ''लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्, अर्थात् शब्द का अर्थ लक्ष्य अर्थात् शब्द एवं लक्षण अर्थात् वह शास्त्र जिसमें सूत्रों या अन्य नियमों के द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति अथवा नियम विषयक ज्ञान बताया जाये, वह शास्त्र व्याकरण शास्त्र कहलाता है।

पतंजलि की योग्यता को देखकर पुण्यराज कहते हैं– पतंजलि ने अपने ग्रन्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों एवं बीजों का समावेश किया है। अनेक विद्वानों द्वारा भी कहा गया है कि 'महाभाष्य व्याकरण और व्याकरण दर्शन का आकर ग्रन्थ है। व्याडि के 'संग्रह ग्रन्थ का महाभाष्य प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

महाभाष्य का रचनाकाल– यद्यपि प्राचीन समय की काल गणना करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, फिर भी अनेक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर 140 से 120 ई. पू. का समय महाभाष्य की रचना का काल माना जाता है।

परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुदर्शनविषये लङ्वक्तव्यः।

अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्।। महाभाष्य 3/2/111

आदि उद्धरणों से इनके काल में पुष्यमित्र का होना और यवनो का आक्रमण करना सिद्ध होता है।

महाभाष्य की टीकायें– महाभाष्य की लोकप्रसिद्धि को देखते हुए कालान्तर में कई टीकाओं का निर्माण हुआ, जिनमे कुछ नाम उल्लिखित हैं–

महाभाष्य दीपिका– आचार्य भर्तृहरि द्वारा विरचित 'महाभाष्य दीपिका एक प्रौढ टीका है, इस टीका के वर्तमान में सात आह्निक ही उपलब्ध हैं, इस टीका को त्रिपदी नाम से भी जाना जाता है।

शब्दकौस्तुभ – भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ अपनी अनूठी व्याख्यानशैली से जाना जाता है, व्याख्या के लिए त्रिपदी एवं वाक्यपदीयम् की भी सहायता इस टीका में ली गयी है। वर्तमान में अपूर्ण रूप में यह टीका उपलब्ध है।

नागेश भट्ट कृत प्रदीपोद्योत टीका भी अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है, इसके अतिरिक्त दयानन्द सरस्वती कृत 'अष्टाध्यायीभाष्यम्, पुरुषोत्तमदेव कृत 'प्राणपणा', पं. धनेश्वर कृत 'चिन्तामणी', शेषवंशावतंस नारायण कृत 'सूक्तिरत्नाकर', विष्णुमिश्र कृत 'क्षीरोद' टीका, नीलकण्ठ वाजपेयी कृत 'भाष्यतत्त्वविवेक, शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत 'सिद्धान्तरत्नप्रकाश', प्रयागवेंकटाद्रि कृत 'विद्वन्मुखभूषण टीका, मैत्रेय कृत 'अज्ञातनामा', सदाशिव कृत महाभाष्य गूढार्थ दीपिनी, छलारी नरसिंहाचार्य कृत शाब्दिक कण्ठमणि, शेषविष्णु कृत महाभाष्य प्रकाशिका, गोपालकृष्ण शास्त्री कृत 'शाब्दिकचिन्तामणि' तिरुमलयज्वाकृत अनुपमा, राजनसिंहकृत शब्दबृहती टीका प्रसिद्ध हैं।

अनुशासन एवं शब्दानुशासन– शासनम् अनु अर्थात् शासन के पश्चात। ऋषि परम्परा में अनेक ऋषियों एवं आचार्यों ने व्याकरण शास्त्र को समृद्ध करने का कार्य किया है। सर्वप्रथम शब्दोपदेश करने वाले ब्रह्मा जी आदि कर्ता हैं। अतः प्रथम निर्देश के रूप में ब्रह्मा जी के उपदेश का ग्रहण किया जाता है।

ग्रन्थ के आरम्भ में पतंजलि लिखते हैं– **अथेत्येयं शब्दः अधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।** शब्दानुशासन शब्द से दो प्रकार के अर्थ अभिव्यक्त होते हैं प्रथम– शब्दों का अनुशासन करना व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन है। द्वितीय– इस व्याकरण शास्त्र का नाम ही शब्दानुशासन है।

2.4 संस्कृत व्याकरण के प्रयोजन

महाभाष्य में महर्षि पतंजलि का विराट चिन्तन दिखाई देता है। महाभाष्य दार्शनिक पृष्ठभूमि में रचा गया अद्भुद् ग्रन्थ है।

मानव जीवन को सही प्रकार से जीने के लिए कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन त्रिविध दोषों का निवारण अत्यन्त आवश्यक व महत्वपूर्ण है, इन तीनों के उपाय महान वैयाकरण भाष्यकार महर्षि पतंजलि ने समाज को दिया है। कहा भी गया है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

अर्थात् योगसूत्र से चित्त का मल, व्याकरणमहाभाष्य से वाणी की अशुद्धि का और चरक संहिता से शरीर के रोगों का निराकरण होता है। प्रयोजन के सन्दर्भ में आचार्य ने दो प्रकार के प्रयोजनों पर विचार किया है।

2.5 मुख्य प्रयोजन एवं गौंण प्रयोजन

महाभाष्य में महर्षि पतंजलि प्रश्नोत्तर शैली में स्वयं ही प्रश्न करते हुए कहते हैं– **कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि?** इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं–

''रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्''

व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन हैं। रक्षा, ऊह, आगम, लघु एवं असन्देह। प्रस्तुत पाठ में इन पांचों प्रयोजनों के विषय में बताया जायेगा, एवं तेरह गौंण अथवा आनुषंगिक प्रयोजनों पर भी बताया जायेगा।

2.5.1 रक्षा

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति।

वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन परम आवश्यक है। व्याकरण के ज्ञान से ही लोप, आगम आदि वर्ण विकारों को जानने वाला ही वेदों की समुचित रक्षा कर सकेगा। अतः व्याकरण का अध्ययन वेद के निहित अर्थ को जानने के लिए अनिवार्य हेतु है।

वेदों को विकृति से बचाने हेतु व्याकरण का अध्ययन परम आवश्यक है। यदि व्याकरण का अध्ययन सम्यक् नहीं है तो वर्ण विकार, लोप, आगम के ज्ञान के अभाव में अन्य अर्थ का ग्रहण हो जायेगा, और अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। उदाहरण के लिए–. ऋग्वेद के मन्त्र 7/7/1 में आत्मना देवेषु में आत्मन् शब्द के आकार का लोप हुआ है, लोप से यहां अदर्शनमात्र विवक्षित है। एक वैयाकरण ही ठीक ठीक अर्थ प्राप्त कर सकता है। इसी तरह ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः मन्त्र में ब्राह्मण और सोम्य शब्दों से जस् प्रत्यय को आज्जसरेसुक् सूत्र से असुक् आगम हुआ है। इसीलिए व्याकरण को न जानने वाला व्यक्ति मन्त्र में निर्दिष्ट ब्राह्मणासः पद को ब्राह्मण से भिन्न समझ सकता है, ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए व्याकरण का अध्ययन अत्यावश्यक है।

2.5.2 ऊह

ऊहः खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तन्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

वेद में जो मन्त्र हैं, मन्त्रों के साथ उनमें प्रयुक्त लिंगों एवं विभक्तियों का निर्देश नहीं है। यज्ञकर्ता को चाहिए कि मन्त्र सम्यक् प्रकार से विपरिणमित हों। एक वैयाकरण ही उन्हें सही अर्थों में विपरिणमित कर सकता है। अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

ऊहो नाम प्रकृतावन्यथादृष्टस्य विकृतावन्यथाभावः।

प्रकृति के रूप का विकृति में अन्यथा रूप में देखा जाना ऊह कहलाता है। आपस्तम्भ सूत्र 49 में आचार्य ने कहा है– विकृतौ यथार्थमूहोऽर्थवादवर्णम् । उदाहरणस्वरूप– अग्नये जुष्टं निर्वपामि तै.सं.1/1/4 में अग्नि को सम्बोधित किया है, परन्तु सौर्येष्टि में सूर्य को अर्पण करने सम्बन्धी निर्देश पृथक् नहीं दिया गया है, वहां अग्नये के स्थान पर सूर्याय का पाठ किया जाता है, इसीलिए पतंजलि का उपर्युक्त कथन न सर्वै..... निगदिताः का आशय है कि कि वेद में मन्त्र सभी लिंगों और सभी विभक्तियों में नहीं पढे गये हैं, यज्ञकर्ता आचार्य के द्वारा यज्ञ के अनुरूप विपरिणाम कर लेना चाहिए।

2.5.3 आगम

आगमः खल्वपि, ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।

व्याकरणाध्ययन का प्रयोजक आगम शास्त्र भी है। ब्राह्मण के द्वारा निष्कारण वेदांगों का अध्ययन करना चाहिए। वेदांगों में व्याकरण की प्रधानता है और प्रधान को अभीष्ट किया हुआ कार्य फलदायी भी होता है।

आगम का अर्थ है– आगम्यते बोध्यतेऽर्थो येन स आगमः, अर्थात् जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का बोध हो, उसे आगम कहते हैं, श्रुति और स्मृत्यात्मक ज्ञान भी आगम कहलाता है। आगम के ग्रहण होने से स्मृति साहित्य का अध्ययन करना भी व्याकरण का प्रयोजन सिद्ध होता है। वेदांगों में निष्णात होना आवश्यक है, इस विषय में भाष्यकार ने उपर्युक्त वचन कहे हैं। ब्राह्मणेन निष्कारणो.....। अर्थात् ब्राह्मण को शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिषशास्त्र में निष्णात होना चाहिए तभी वह वेदाधिकारी हो सकता है। इन छह अंगो में भी व्याकरण की प्रधानता है। कहा भी गया है– प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्। अन्य अंगो की यत्किंचित् न्यूनता हो सकती है परन्तु व्याकरण के बिना कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। वेदाधिगम में यद्यपि अन्य अंग सहायक अंग के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु प्रधानरूप में व्याकरण ही है।

2.5.4 लघु

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दाः ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्।

लघुता के लिए भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। कहा भी गया है– अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। ब्राह्मण के द्वारा शब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। अतः शब्दज्ञान के लिए व्याकरण का अध्ययन अत्यावश्यक है।

इस संसार में दो प्रकार के शब्द हैं– साधु शब्द एवं असाधु शब्द, इनके परिज्ञान के लिए दो प्रकार की प्रविधि उपयोग में लाई जाती है, पहली प्रविधि है– प्रतिपद पाठ करना, प्रतिपद पाठ करके साध्वसाधु का ज्ञान किया जाय। दूसरी विधि है उत्सर्ग अपवाद न्याय से शब्दों को जाना जाय। शब्द अनन्त हैं, इसके विषय में कहा भी गया है– एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। अतः द्वितीय विधि ही उपयुक्त है। उत्सर्ग अपवाद न्याय से विशाल शब्द समूह का ज्ञान आसानी से हो जाता है। लघुता से विशाल शब्द समूह के साधुत्व का ज्ञान व्याकरण से ही सम्भव है, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

नागेश भट्ट ने भी उद्योत में लिखा है– **लाघवं च प्रतिपदपाठापेक्षया प्रकत्यादि– विभागेन अन्वाख्यानस्य विवक्षितम्।**

2.5.5 असन्देह

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति ''स्थूलपृषतीमग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेति। तस्यां सन्देहः स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति।

सन्देह को दूर करने के लिए भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। याज्ञिक कहते हैं कि ''स्थूलपृषती गाय का अग्नि तथा वरुण देवताओं के लिए आलम्भन करे। इसमें सन्देह है– स्थूल और पृषती अर्थात धब्बों वाली, दूसरा अर्थ निकलता है मोटे हैं धब्बे जिसके। अवैयाकरण इस विषय में स्वर से निश्चय नहीं कर सकता यदि पूर्वपद का अपना ही स्वर है तो यह बहुव्रीहि है यदि समासान्तोदात्त तो तत्पुरुष। एक ही स्थल में कर्मधारय समास तो दूसरा विग्रह बहुव्रीहि समास से युक्त है, इस तरह स्थल प्राप्त होने पर स्वर का ज्ञान ही सही अर्थ को दे सकता है, और स्वर का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं प्राप्त हो सकता, अतः सन्देह को दूर करने में व्याकरण ही एकमात्र उपाय है।

अभ्यास प्रश्न–

1 **मुख्य प्रयोजनों की संख्या बताइये ?**
2 **प्रयोजन ''रक्षा'' का आशय स्पष्ट कीजिये ?**
3 **लघ्वर्थं चाध्येयं का अर्थ बताइये?**
4 **महर्षि पतंजलि के योगदान को वर्णित कीजिये ?**
5 **असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरण को परिभाषित कीजिये ?**

2.6 संस्कृत व्याकरण के आनुषांगिक प्रयोजन

प्रिय विद्यार्थियो इस प्रकरण में अब हम व्याकरण के आनुषंगिक अथवा गौंण प्रयोजनों को जानेंगे।

महाभाष्य में भाष्यकार लिखते हैं– इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि– ऐसा कहकर आनुषंगिक प्रयोजनों को व्यक्त किया है। वस्तुतः इन तेरह गौंण प्रयोजनों का समावेश पांच मुख्य प्रयोजनों में ही हो सकता था, परन्तु विषय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से भाष्यकार ने इनका पृथक परिगणन करना उचित समझा।

2.6.1 तेऽसुराः

तेऽसुराः हेलय हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

देव और असुरों का संग्राम चल रहा था, देवगणों की विजय हो रही थी। चूंकि देवता मन्त्रों के ज्ञाता थे, और सही प्रयोग करने में निपुण थे। यह देखते हुए असुरों ने भी मन्त्रों का उच्चारण करना शुरू कर दिया, परन्तु अशुद्ध/अपशब्द का उच्चारण करने के कारण असुर पराजय को प्राप्त हुए।

वे असुर 'हेलयो हेलय ऐसा कहते हुए पराजित हो गये, जबकि हे हरय हे हरय का उच्चारण करना था, इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छन नहीं करना चाहिए। यह जो अपशब्द है, वह म्लेच्छ ही है, म्लेच्छ न हों, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.2 दुष्टः शब्दः

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।

स्वर अथवा वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त, दूषित शब्द (अपशब्द) उस विवक्षित अर्थ को नहीं कहता। वह वाणी रूप वज्र यजमान को मार देता है, जैसे इन्द्रशर्त्रुवर्धस्व मन्त्र में वृत्रासुर कामना करता है कि उसका शत्रु इन्द्र मारा जाय, इसके निमित्त वह इन्द्रशर्त्रुवर्धस्व मन्त्र का उच्चारण बार बार करता है, परन्तु अशुद्ध स्वर के उच्चारण के कारण वृत्रासुर स्वयं मारा गया। हम दूषित शब्दों का प्रयोग न करें इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.3 यदधीतम्

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्य ते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।

विषय का पाठ मात्र करने से फल की प्राप्ति नहीं होती, अपितु उसे अर्थशः जानना चाहिए। जैसे सूखा काष्ठ जलने की क्षमता रखता है, परन्तु अग्नि के संस्कार के बिना दाहकता नहीं आ सकती, इसी प्रकार मन्त्रों के उच्चारण के साथ ही उसका अर्थ भी स्मरण होता रहे। हम सार्थक अध्ययन करें, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.4 यस्तु प्रयुङ्क्ते

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः

इस संसार में साधु और असाधु प्रकार के दो शब्द हैं, जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है, साधुशब्दों के ज्ञान में धर्म है, उसी तरह असाधु शब्द के ज्ञान में अधर्म भी है। अपशब्द अधिक हैं साधु शब्द कम। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं।

वाग्योगवित् साधु शब्दों के ज्ञानपूर्वक प्रयोग से विजय को प्राप्त करता है। अवाग्योगवित् असाधु शब्दों के प्रयोग से दूषित होता है।

2.6.5 अविद्वांसः

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।
अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

नियम है, कि नामों में प्लुत करके उच्चारण करना चाहिए। जो अविद्वान् प्रत्यभिवादन में नाम को प्लुत करना नहीं जानता, बाहर से आने पर भले ही उनके प्रति स्त्रियों की तरह अयमहम् इस प्रकार से कहे।

पुरुष, स्त्री, बाल, वृद्ध या अन्य व्यक्ति के प्रति अभिवादन में शिष्टाचार के नियम समान न होकर अलग अलग हैं, जो विद्वान हैं वे इन नियमों को आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर अभिवादन कुशल हो जाते हैं वहीं व्याकरण गत इन नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति नियमों का उल्लंघन करते हैं, इसलिए विद्वानों सदृश आचरण हमारा हो, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

अभिवादन में हम स्त्रियों के समान व्यवहृत न किये जायें, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.6 विभक्तिं कुर्वन्ति

याज्ञिकाः पठन्ति "प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः इति, न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्।

मीमांसक कहते हैं– प्रयाज मन्त्रों का उच्चारण विभक्तियुक्त करके होना चाहिए। और व्याकरण के ज्ञान के बिना प्रयाजों को सविभक्तिक नहीं किया जा सकता। अतः व्याकरणाध्ययन अवश्य हो।

2.6.7 यो वा इमाम्

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति। आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।

जो इस वाणी का पद, स्वर और अक्षर का निश्चय और संस्कार के साथ यथायुक्त विधान करता है, वह निश्चय ही आर्त्विजीन (यजमान और याचक) होता है, वैदिक मन्त्र का पद पाठ, प्रत्येक पद का स्वर ज्ञान हमें व्याकरण के ज्ञान से ही हो सकता हैं, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.8 चत्वारि

चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

इस वेदरूप वाणी के चार सींग हैं, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं, तीन स्थानों से बंधा हुआ वृषभ शब्द करता है। ऐसे महान् शब्द रूप देव ने मृत्युलोक के मनुष्यों में प्रवेश किया है।

चार सींग पदराशियां हैं– सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग एवं निपात। तीन पैरों का अर्थ – तीन काल हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यत्। दो सिर नित्य और कार्यरूप दो शब्द हैं। सात विभक्तियां–प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियां हैं। त्रिधा बद्धः का अर्थ है तीन स्थानों छाती, कण्ठ और सिर से बंधा हुआ। वृष्टि करने के कारण वह वृषभ है। जैसे बादल जल की वृष्टि करता है वैसे ही यह वेद रूप वाणी सब फलों को देने वाली है।

व्याकरण का उद्‌देश्य स्वयं का ब्रह्म (शब्दब्रह्म) के साथ सायुज्य स्थापित करना है। इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.9 उत त्वः

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच
मुत त्वःश्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

अर्थात् कोई अवैयाकरण वाणी को देखता हुआ भी वाणी को नहीं देख पाता, कोई एक सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता। किसी अन्य एक के लिए वाणी पति के सम्मुख शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए कामयमाना पत्नी के समान अपने आप को अनावृत कर देती है।

अर्थात् वैयाकरण के समक्ष कोई भी विषय कठिन रूप में नहीं रह सकता, वह कितना ही गूढ विषय हो, एक वैयाकरण उसका निहितार्थ निकालने में सक्षम हो जाता है, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.10 सक्तुमिव

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

पवित्र से सत्तु के समान जहां धीर लोग मन से सुनकर वाणी का व्याकरण करते हैं, वहां समान ख्याति वाले मनुष्य सायुज्य का अनुभव करते हैं। कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी में निहित होती है।

चालनी में जिस प्रकार सत्व अलग हो जाता है, और अपशिष्ट को दूर कर दिया जाता है। उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र भी साधु और असाधु शब्दों में भेद करा देता है। हम सत्व को ग्रहण करें इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.11 सारस्वतीम्

याज्ञिकाः पठन्ति– आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद् इति। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

मीमांसक पढ़ते हैं कि अग्न्याधान करके अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त स्वरूप सरस्वती इष्टि का सम्पादन करें। अपशब्द का उच्चारण तभी होगा जब व्याकरण का ज्ञान नहीं होगा, अतः प्रायश्चित्त न करना पड़े इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.12 दशम्यां पुत्रस्य

याज्ञिकाः पठन्ति – दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदा। न्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। न चान्तरेण व्याकरणं कृतास्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।

मीमांसक कहते हैं – उत्पन्न सन्तति का दस दिनों के अनन्तर नामकरण करना चाहिए, नाम में आदि में घोष वर्ण वाला हो, बीच में अन्तःस्थ वर्ण वाला हो, वृद्ध स्वरों से युक्त न हो, जो तीन पूर्वपुरुषों के नाम का स्मरण कराता हो तथा जो शत्रु में प्रसिद्ध न हो। दो अक्षरों वाला अथवा चार अक्षरों वाला कृदन्त नाम करना चाहिए, तद्धित नहीं। व्याकरणाध्ययन के बिना कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

2.6.13 सुदेवो असि

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।।

वरुण व्याकरणज्ञान से युक्त होने के कारण सत्यदेव हैं। अग्नि सुन्दर लौह प्रतिमा में जिस प्रकार प्रविष्ट होकर उसे प्रतिभासित करती है, उसी प्रकार से व्याकरण की सात विभक्तियां उसके तालु प्रदेश में प्रवाहित होती हुई उसे सत्यदेव बनाती हैं। व्याकरण के ज्ञान से शब्दब्रह्म का प्रकाश प्राप्त कर

साधक सांसारिक पापों से विमुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है। व्याकरण का ज्ञान हमें सत्यदेव अर्थात सर्वदा सत्य बोलने वाला बनाता है। हम सर्वदा सत्य बोलें इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न–

1 **पतञ्जलि महाभाष्य में आनुषंगिक या गौंण प्रयोजनों की कितनी संख्या है?**

2 **प्रयोजन– यदधीतम् की व्याख्या कीजिये?**

3 **नाम में प्लुत उच्चारण करना चाहिए, ऐसा निर्देश किस प्रयोजन में कहा गया है?**

4 **''चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा'' का अर्थ स्पष्ट कीजिये?**

2.7 सारांश

व्याकरण शास्त्र नितान्त उपयोगी और शब्दशास्त्र के द्वारा मोक्ष प्रदाता ग्रन्थ है। अत्यन्त समृद्ध परम्परा का दिग्दर्शन हमें व्याकरण का प्राप्त होता है। शब्द के सही ज्ञान से परम् पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। कहा भी गया है– एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स फलवान् भवति। उपरोक्त पाठ में संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजनों पर विचार किया गया। व्याकरण के अध्ययन से साधु और असाधु शब्दों में अन्तर करना आसान हो जाता है। शब्द का विपरिणाम किस अर्थ को लेकर होता है, इसका भी ज्ञान व्याकरण शास्त्र ही करवाता है। कहां लोप,आगम और परिवर्तन होता है, इसकी भी जानकारी व्याकरण शास्त्र ही प्रदान करता है। वेद हमारे शिरोधार्य हैं, एक वैयाकरण ही वेद के ठीक ठीक अर्थ को जानने में समर्थ होता है। अतः वेद की रक्षा हेतु व्याकरण का अध्ययन परम आवश्यक है। इस तरह से पांच मुख्य एवं तेरह गौंण प्रयोजनों पर चिन्तन किया गया है। और व्याकरण की उपयोगिता को विभिन्न दृष्टान्तों एवं उदाहरणों से समझाया गया है। व्याकरण सभी पढें, सीखें और अन्यों को प्रेरित करें, यही भाष्यकार चाहते हैं।

2.8 शब्दावली

1–वाग्वज्र–वाणी रूपी वज्र

2–आर्त्विजीन– यजमान

3–सक्तु– सत्तू (जौं/चने का चूर्ण विशेष)

4–काकुद–मुंह का ऊपरी भाग, जो मुख और नासिका को अलग करता है।

2.9 बोध/अभ्यास प्रश्न

1– व्याकरण शास्त्र की परम्परा का परिचय दीजिये?

2– व्याकरण की व्युत्पत्ति परक अर्थ कीजिये?

3– महर्षि पतंजलि के व्याकरण को दिये योगदान का उल्लेख कीजिये?

4– व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजनों को लिखिये?

5– व्याकरण के आनुसंगिक प्रयोजन कितने हैं?

7– दशम्यां पुत्रस्य का आशय स्पष्ट कीजिये?

2.10 उपयोगी पुस्तकें

1– अष्टाध्यायी– महर्षि पाणिनि

2– महाभाष्यम् – महर्षि पतंजलि

3– पाणिनीय शिक्षा– महर्षि पाणिनि
4– वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी– श्रीभट्टोजिदीक्षित

इकाई-3 संस्कृत व्याकरण के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 संस्कृत व्याकरण का परिचय

3.3.1 पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा

3.3.2 पाणिनि से उत्तरवर्त्ति आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा

3.4 सारांश

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 अन्य उपयोगी ग्रंथ

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) भाषा एवं साहित्य (Indian Language and Literature) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह तृतीय इकाई है। इस खण्ड में संस्कृत व्याकरण के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ परम्परा का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में पाणिनि से पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्त्ति आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा का अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- संस्कृत व्याकरण के विषय में जान सकेंगे।
- पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों के योगदान के विषय में जान सकेंगे।
- पाणिनि से उत्तरवर्त्ति आचार्यों का परिचय जान सकेंगे।
- संस्कृत व्याकरण की ग्रन्थ परम्परा से अवगत हो सकेंगे।

3.3 संस्कृत व्याकरण का परिचय

संस्कृत व्याकरण की परम्परा अत्यन्त सुदीर्घ है। वैदिक काल में ही संस्कृत व्याकरण एक स्वतंत्र वेदाङ्ग के रूप में स्थापित हो चुका था। वेदों की रचना और भाषा सौष्ठव के आधार पर यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि वेदमन्त्रों के रचनाकाल में अवश्य ही व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट ही व्याकरण सम्बन्धी अनेक शब्दों का उल्लेख हुआ है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी व्याकरण सम्बन्धी अध्ययन की ही देन हैं। अनेक सूत्र जो पाणिनि के व्याकरण में आज उपलब्ध हैं यथावत प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हैं। प्रातिशाख्यों के कुछ सूत्र पाणिनि के व्याकरण में कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं।

यास्क के निरुक्त में भी अनेक वैयाकरणों के नामों का उल्लेख है। अनेक स्थलों पर वैयाकरणों के मत को उद्धृत किया गया है जिससे स्पष्ट है कि यास्क के काल से पहले ही व्याकरणशास्त्र का प्रारम्भ हो चुका था।

3.3.1 पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों में प्रारम्भिक नाम देवताओं के हैं। 'ऋक्तन्त्र' के अनुसार व्याकरणशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा थे। ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरण का ज्ञान दिया। बृहस्पति ने इन्द्र को तथा इन्द्र ने भारद्वाज को व्याकरण शास्त्र का उपदेश किया। भारद्वाज ने अन्य ऋषियों को और ऋषियों ने अन्य ब्राह्मणों को व्याकरण का ज्ञान दिया। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी उल्लेख किया है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक एक पद का उपदेश करके शब्दपारायण नामक ग्रन्थ को पढ़ाया था परन्तु वह उसे पूरा नहीं पढ़ा सके थे। इन्द्र के विषय में भी 'तैत्तिरीय संहिता' में उल्लेख आता है कि उसने शब्दों को पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित करके देवताओं को समझाया था— **वाग्वै परावागव्याकृतावदत्। ते देवा इदमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोब्रऽवीत्-वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यातां इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्याते।**

इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्याते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। ... तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते। (तै. सं. 6.4.7.3)।

पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रंथ में ऐन्द्र व्याकरण के निम्नलिखित तीन सूत्रों का संकलन किया है—

१.अथ वर्णसमूहः २.अर्थः पदम् ३.अन्त्यवर्ण समुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

इन्द्र का व्याकरण बहुत बड़ा था इसकी सूचना हमें महाभारत के टीकाकार देवबोध के इस श्लोक से मिलती है—

यान्युज्जहार माहेन्द्रात् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।।

अर्थात् व्यासमुनि ने जिन पदों का प्रयोग किया है वे ऐन्द्र व्याकरण में हैं। वे पाणिनि के व्याकरण में नहीं है। इसमें ऐन्द्र व्याकरण को समुद्र कहा है तो उसकी तुलना में पाणिनि व्याकरण को एक गाय के खुर के समान छोटा बताया है। देवबोध की यह अत्युक्ति हो सकती है परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व ऐन्द्र व्याकरण था जो विशालकाय था। दिव्य वैयाकरणों में महेश्वर का नाम भी आता है। महेश्वर शिव का ही नाम है। महेश्वर द्वारा व्याकरण निर्माण का संकेत महाभारत में शान्तिवर्ष के 'शिवसहस्रनाम' स्तोत्र में मिलता है। पाणिनीय शिक्षा में महेश्वर का वैयाकरण के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पाणिनि को नमस्कार करते समय ग्रन्थकार ने सूचना दी है कि पाणिनि ने अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहार सूत्रों) को महेश्वर से प्राप्त किया—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।

अर्थात् जिस पाणिनि ने महेश्वर से अक्षरसमाम्नाय को ग्रहण करके सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र लिखा उस पाणिनि को नमस्कार है। नन्दिकेश्वरकृत काशिका नामक ग्रन्थ में भी इसी बात को कहा गया है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

इस श्लोक के अनुसार सनकादि मुनियों के उद्धार के लिए नटराज शिव ने 14 बार डमरू बजाया जिससे ये 14 माहेश्वर सूत्र निकले। पाणिनि के 14 प्रत्याहार सूत्र माहेश्वर सूत्र नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र तथा महेश्वर से अतिरिक्त वायु, भारद्वाज, चन्द्र (ये वर्तमान चन्द्रगोमी से भिन्न हैं), यम, रुद्र, वरुण, सोम तथा विष्णु द्वारा भी व्याकरण शास्त्र के प्रणयन का संकेत मिलता है। आज के वैज्ञानिक युग के लोगों के लिए यह विश्वसनीय नहीं है कि उपर्युक्त देवलोकवासी आचार्यों द्वारा व्याकरणशास्त्र- ऐहलौकिक व्याकरण शास्त्र- का प्रणयन किया गया था। किन्तु प्राचीन ग्रंथों के प्रमाण तो उक्त आचार्यों की पारलौकिकता का ही समर्थन करते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में जब उक्त आचार्यों के व्यक्तित्व का भी निर्धारण कठिन है तो फिर उनके काल आदि का निर्णय करना कैसे सम्भव हो सकेगा ? इस सन्देह के समर्थन में पाणिनि जैसे सर्वतोभद्र वैयाकरण का ब्रह्मा, बृहस्पति आदि के विषय में मौनावलम्बन का भी योगदान उपेक्षणीय नहीं है। इतना होने पर भी इन्द्र के ऐतिहासिकत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। जो आचार्य निस्सन्दिग्ध रूप में ऐतिहासिक हैं उन्हें हम प्रथमतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

1. पाणिनि से पूर्ववर्ती 2. पाणिनि से उत्तरवर्त्ती

प्रथम वर्ग के आचार्यों को भी पाणिनि के संकेत के आधार पर दो उपवर्गों में बाँटा जा सकता है— 1.पाणिनि द्वारा अनुल्लिखित। 2. पाणिनि द्वारा उल्लिखित।

प्रथम वर्ग के प्रथम उपवर्ग में निम्नलिखित आचार्यों का समावेश हैः (1) इन्द्र, (2) भागुरि, (3) पौष्करसादि, (4) चारायण, (5) काशकृत्स्न, (6) वैयाघ्रपद, (7) माध्यन्दिनि, (8) रौढि, (9) शौनक, (10) गौतम (11) व्याडि। इस वर्ग के द्वितीय उपवर्ग में निम्न-निर्दिष्ट आचार्यों की गणना है- (1) आपिशलि, (2) काश्यप, (3) गार्ग्य, (4) गालव, (5) चाक्रवर्मण, (6) भारद्वाज, (7) शाकटायन, (8) शाकल्य, (9) सेनक तथा(10) स्फोटायन। 'अष्टाध्यायी' में कुछ सर्वनामों- उदीचाम्, आचार्याणाम्, एकेषाम्, प्राचाम्- का भी प्रयोग मिलता है। किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि पाणिनि ने इन सर्वनाम शब्दों द्वारा उन्हीं उल्लिखित आचार्यों के मत को रखा है या अन्य आचार्यों के मत को।

3.3.2 पाणिनि से उत्तरवर्त्ति आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा

महर्षि पाणिनि—

पाणिनि के नामः 'अष्टाध्यायी' के निर्माता महर्षि पाणिनि के निम्नलिखित नाम उपलब्ध होते हैं- (1) पाणिन, (2) पाणिनि, (3) दाक्षीपुत्र, (4) शालङ्कि, (5) शालातुरीय अथवा सालातुरीय तथा (6) आहिक। इनसे अतिरिक्त पं. शिवदत्त शर्मा जी द्वारा 'महाभाष्य के प्रथम भाग की प्रस्तावना में उद्धृत केशवीय 'नानार्थार्णवसंक्षेप के वाक्य से मातुरीय तथा दाक्षेय नाम भी पाणिनि के प्रतीत होते हैं। 'पाणिनीय शिक्षा' के याजुष पाठ में पाणिनेय तथा सोमेश्वर तथा सोमेश्वर के 'यशस्तिलकचम्पू' में पणिपुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

पाणिनि का वंश— पाणिनि के वंश के विषय में बहुत वाद-विवाद चिरकाल से प्रचलित हैं। किन्तु उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर निम्नलिखित वंशावली का संकेत मिलता है।

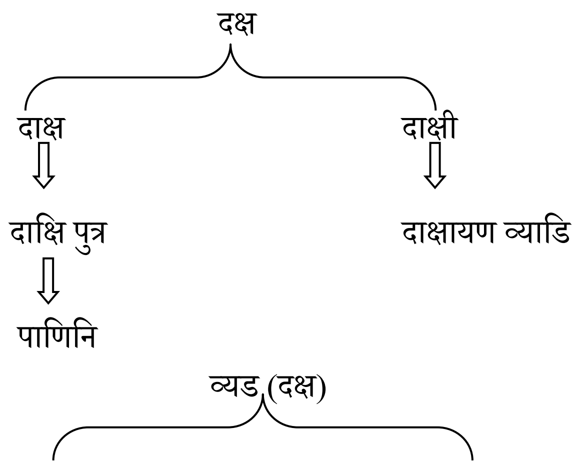

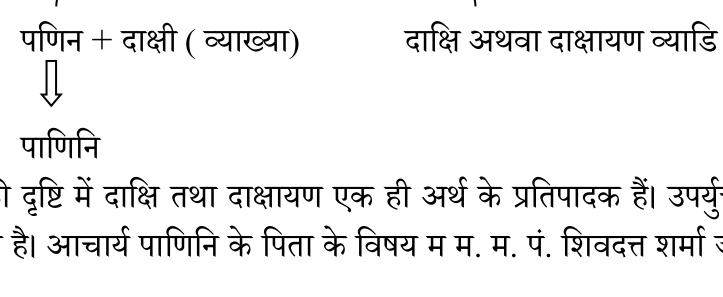

मीमांसक जी की दृष्टि में दाक्षि तथा दाक्षायण एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं। उपर्युक्त वंशावली तो मातृपक्ष की है। आचार्य पाणिनि के पिता के विषय म म. म. पं. शिवदत्त शर्मा जी

का मत है कि पाणिनि शलङ्क के पुत्र थे। इसका आधार पाणिनि के नामान्तर 'शालङ्कि' शब्द की व्युत्पत्ति है- 'शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः'। कैयट, हरदत्त तथा गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान भी शालङ्कि शब्द को शलङ्क शब्द से ही निष्पन्न मानते हैं। मीमांसक जी ने अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के प्रथम भाग में शलङ्क को माना है, परन्तु प्रायः इसका कारण दृष्टिदोष है, क्योंकि 'महाभाष्य' की प्रस्तावना में शलङ्क शब्द का ही उल्लेख मिलता है। अन्यत्र पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बतलाया गया है।

पाणिनि का निवासस्थान—

अष्टाधायी के 'उदक् च विपाशः तथा 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' सूत्रों के 'महाभाष्य' के प्रामाण्य पर ऐसा सिद्ध होता है कि पाणिनि वाहीक देश से विशेष परिचित थे। इस जाति का देश वर्तमान बलख है। ऐसा कहा जाता है कि 'वाहीक' लोक पंजाब के उस प्रदेश में रहते थे जिसे सिन्धु नदी तथा पंजाब (पंचनद) की अन्य पाँच नदियाँ सींचती थी। परन्तु यह क्षेत्र भारत के पुण्यक्षेत्र से बाहर था। घोड़ों तथा हींग के लिए इसकी प्रसिद्धि थी। अतः 'वाहीकग्राम' शब्दों में षष्ठीतत्पुरुष समास माना चाहिए। 'वाहीक' देश से विशेष परिचित होने के कारण पाणिनि के देश के विषय में यह सम्भावना है कि 'वाहीक' देश या तत्समीपस्थ कोई प्रदेश पाणिनि का जन्मस्थान रहा होगा। यद्यपि पाणिनि का नाम 'शालातुरीय' अथवा 'सालातुरीय' भी होने के कारण यह प्रतीत होता है कि पाणिनि का देश शलातुर या सलातुर था। यह 'शलातुर' या 'सलातुर' अटक के समीपस्थ वर्तमान लाहौर ही है- ऐसा पुरातत्ववेत्ताओं का मत है। किन्तु पाणिनि ने 'तूदीशलातुरवर्मती.' सूत्र में शलातुर शब्द का पाठ किया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि 'शालातुरीय' उसे ही कहा जा सकता है जिसका अभिजन, अर्थात् पूर्वजों का निवासस्थान, 'शलातुर' हो। अतः पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' को मानना उचित नहीं है।

पाणिनि के आचार्य—

पाणिनि के आचार्य के विषय में परम्परागत मत तो यही है कि पाणिनि ने गोपर्वत पर तपस्या करके साक्षात् महेश्वर शिव से ही अक्षरसमाम्नाय का उपदेश प्राप्त किया था। इसी अक्षरसमाम्नाय को आधार बनाकर पाणिनि ने 'अष्टाधयायी' का निर्माण किया था। 'कथासरित्सागर' में उपवर्ष के अग्रज वर्ष उपाध्याय को पाणिनि का गुरु माना गया है। जयरथ के 'हरचरितचिन्तामणि' के अवलोकन से भी यही ज्ञात होता है। कि प्रारम्भ में वर्षोपाध्याय के शिष्य होने पर भी जब पाणिनि अपनी जड़ता के कारण उनसे कुछ सीख न सके तब उन्होंने अपनी जड़ता को दूर करने के लिए हिमालय पर्वत पर जाकर भगवान शंकर की तपस्या की और वहीं भगवान् शंकर ने उन्हें व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया। परन्तु इसमें भी पूर्वोक्त 'स्कन्दपुराण' के कथन - गोपवर्त पर पाणिनि ने शङ्कर की आराधना की थी- से कुछ भिन्नता अवश्य है। गोपवर्त तथा हिमालय की एकता में कोई प्रमाण नहीं मिल रहा है।

पाणिनि की शिष्यपरम्परा—

पाणिनि के शिष्यों में सर्वप्रथम कात्यायन वररुचि का नाम आता है। यह तथ्य 'संख्या वंश्येन' सूत्र के ऊपर लघुशब्देन्दुशेखरकार नागेश की व्याख्या से ध्वनित होता है- ऐसा मीमांसक जी भी मानते हैं। 'हरचरितचिन्तामणि' का मत कुछ भिन्न ही है वहाँ कहा गया है कि

जब पाणिनि शंकर की कृपा से व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्य पाकर लौटे तो उन्होंने वररुचि आदि अपने सतीर्थ्यों का उपहास करना शुरू कर दिया उस पर क्रुद्ध वररुचि का सात दिनों तक पाणिनि से शास्त्रार्थ चलता रहा और अन्त मे आठवें दिन पाणिनि परास्तप्रायः हो गए थे। वैसा देख कर भगवान् शङ्क ने हुंकार की आकाशवाणी की और उसके बल से पाणिनि ने पुनः वररुचि के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् खिन्न होकर वररुचि हिमालय की गुफा में शङ्कर की आराधना के लिए चले गए और वहाँ शङ्कर को प्रसन्न कर उनसे पुनः पाणिनि के लिए प्राप्त व्याकरण शास्त्र का अधिगम किया। 'महाभाष्य' में एक उदाहरण मिलता है- 'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्' 'काशिका' में भी अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्' आदि उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के शिष्यों में कौत्स भी अन्यतम थे। भारतीय वाङ्मय में अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित कौत्स से भेद या अभेद का निर्णय करना कुछ कठिन है। किन्तु 'निरुक्त' तथा 'रघुवंश' में उल्लेखित कौत्स को पाणिनिशिष्य कौत्स से भिन्न मानना ही उचित प्रतीत होता है। यद्यपि 'महाभाष्य' 1.4.41 के उल्लेख से तथा 'काशिका' 6.2.104 के उदाहरण से पाणिनि के अनेक शिष्यों का निश्चय करना ही पड़ता है तथापि कौत्स से अतिरिक्त किसी शिष्य का नाम अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

पाणिनि का काल—

पाणिनि के काल के विषय में चिरकाल से प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में वैमत्य बना हुआ है। गैरोला महाशय ने कुछ प्रसिद्ध प्राच्य एवम् पाश्चात्य विद्वानों के मतों का संकलन निम्नलिखित रूप में किया है।

पं. सत्यव्रत सामाश्रमी	2400 ई. पूर्व
राजवाडे तथा वैद्य	900-800ई. पूर्व
वेलवेलकर	700-900 ई. पूर्व
भाण्डारकर	700 ई. पूर्व
उपाध्याय	500 ई. पूर्व
मकेडानॅल	500 ई. पूर्व
मक्समूलर	350 ई. पूर्व
कीथ	300 ई. पूर्व

पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी ने अनेक अन्तरङ्ग बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर यह निर्णय किया है कि पाणिनि का समय स्थूलतया विक्रम से 2100 वर्ष प्राचीन है। पाणिनि का काल 700 ई. पूर्व से 600 ई. पू. के मध्य में अधिकांश विद्वान मानते हैं। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल पाँचवीं शताब्दी ई. पू. का मध्य भाग मानते हैं।

अष्टाध्यायी का परिचय—

पाणिनिप्रणीत व्याकरणशास्त्र के आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसका विशेष अभिधान 'अष्टाध्यायी' शब्द से होता है। अष्टाध्यायी के समान 'अष्टक' शब्द का प्रयोग भी पाणिनि व्याकरण के लिए उपलब्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र का एक नाम 'शब्दानुशासन' भी है। किन्तु 'शब्दानुशासन' शब्द का अर्थ भी व्याकरण-सामान्य मानना ही युक्तियुक्त है। 'महाभाष्य' तथा चीनी यात्री इत्सिंङ्ग के यात्राविवरण में पाणिनि सूत्र को

'वृत्तिसूत्र' कहा गया है। नागेश भट्ट का कहना है कि ऋषिप्रणीत होने तथा अनेक अर्थों की सूचक होने के कारण योग- 'अष्टाध्यायी' का एक-एक सार्थक अंश-तथा प्रत्येक वार्त्तिक के भी अथवा समस्त अष्टाध्यायी एवं वार्त्तिकों की समष्टि के भी 'सूत्र' कहलाने योग्य होने से पाणिनीय सूत्र तथा वार्त्तिकारीय वार्त्तिकापरपर्याय सूत्र में भिन्नता के प्रतिपादन के लिए ही भाष्यकार ने पाणिनि-वचन को 'वृत्तिसूत्र' कहा है। यतः पाणिनिसूत्र पर वृत्तियों का निर्माण हुआ है, वार्त्तिकात्मक सूत्र पर नहीं, अतः विशेषण की सार्थकता स्पष्ट है। वार्तिकात्मक सूत्र भाष्यविशिष्ट हैं जब कि पाणिनीयसूत्र वृत्तिविशिष्ट हैं- यही तात्पर्य है। 'वृत्तिसूत्र' शब्द की अन्यान्य व्याख्याएँ भी मीमांसक जी ने प्रस्तुत की हैं, परन्तु उनका औचित्य इस प्रसङ्ग में बहुत स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है।

'अष्टाध्यायी' का स्वरूप—

'अष्टाध्यायी' इस नाम से ही स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं समस्त 'अष्टाध्यायी' की सूत्रसंख्या या पादगत सूत्रसंख्या में एकमत्य नहीं है, क्योंकि 'काशिका' आदि ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी सूत्र मान लिए गए हैं जो अन्य वैयाकरणों की दृष्टि में वार्त्तिक या वार्त्तिकात्मक सूत्र हैं, पाणिनीय सूत्र नहीं। प्रत्यक्ष निदर्शन तो प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की सूत्रसंख्या ही है जो 'अथ शब्दानुशासनम्' तथा प्रत्याहार सूत्रों में अन्यतर या उभय के पाणिनिसूत्रत्व एवम् तदभाव के वैमत्य के अनुसार परस्पर-भिन्न हो जाती है। इससे अतिरिक्त भी कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनके 'वृत्तिसूत्र' या 'भाष्यसूत्र' होने में सन्देह है। 'महाभाष्य' सभी सूत्रों (के वार्त्तिकों) पर तो है ही नहीं, अतः इसके आधार पर सूत्रसंख्या का निर्धारण भी कुछ कठिन कार्य है। काशिका के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की संख्या 3983 है और सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार 3976 है।

'अष्टाध्यायी' का महत्व—

सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् 'अष्टाध्यायी' के महत्व को एक-स्वर से स्वीकार करते हैं। सभी ग्रन्थों में पाणिनीय व्याकरण को सर्वाधिक उत्कृष्ट माना गया है। अत एव इसके महत्व के विषय में अधिक कहने की अपेक्षा नहीं है। निम्नलिखित तर्क ही संक्षेप में पर्याप्त होगा किसी भी शास्त्र के विलोप का कारण है जनप्रियता का अभाव। आक्रमण आदि से ग्रन्थों का विनाश हो सकता है, सम्प्रदाय का नहीं- इसका साक्ष्य इतिहास में उपलब्ध है। जनप्रियता के अभाव के दो कारण होते हैः- अनुपयोगिता तथा अनावश्यक क्लिष्टता। द्वितीय कारण का तात्पर्य यह है कि यदि एक क्लिष्ट तथा अन्य सरल उपाय एक ही लक्ष्य पर पहुंचाने में समर्थ होते हैं जनमानस सरल उपाय को ही पसन्द करता है। अतः पाणिनीय व्याकरण से पूर्व तथा उत्तरकाल में विनिर्मित अनेकानेक व्याकरणशास्त्र का विनाश या विरल प्रचार ही चिरकाल से विकासमान पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के महत्व का प्रख्यापन करता है। दूसरी बात यह है कि शास्त्र का प्रयोजन लोक-व्युत्पादन है। अतः लोक-स्थिति का उल्लंघन कर कोई भी शास्त्र लोक में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। आचार्य पाणिनि की दृष्टि में यह बात अवश्य थी। तभी तो उन्होंने 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्', 'लुब्योगाऽप्रख्यानात्', 'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्', प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' तथा 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' आदि सूत्र लिखे हैं।

इस दृष्टि से भी पाणिनीय शास्त्र की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रही है। मुख्यत: पाणिनीय परम्परा के तीन युग इस प्रकार हैं।

1. प्रथम युग - मुनित्रय आचार्य

आचार्य पाणिनि—

पाणिनि के विषय में पहले ही बताया जा चुका है। पाणिनि की रचनाओं में अष्टाध्यायी या पाणिनीयाष्टक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का अनुपम रत्न है। भाषा में इसके जोड़ का व्याकरण नहीं बना। पाणिनि ने इस लघुकाय ग्रन्थ में संस्कृत जैसी विस्तृत भाषा का पूर्णतया विश्लेषण करने का प्रयास किया है। उनकी विवेचना वैज्ञानिक है, शैली संक्षिप्त, सांकेतिक तथा संयत है। इस ग्रन्थ का क्रम भी अनूठा है। प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा और परिभाषा प्रकरण हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा विभक्तिप्रकरण, तृतीय में कृदन्तप्रकरण, चतुर्थ तथा पचंम में स्त्रीप्रत्यय और तद्धितप्रकरण है। षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में सन्धि, आदेश तथा स्वरप्रक्रिया आदि के विविध प्रकरण हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ तथा गणपाठ भी आचार्य पाणिनि की कृतियाँ हैं। उणादिसूत्र को भी पाणिनिकृत बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् 3/3/1 सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना विवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने पाताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कात्यायन (500 ई0 पू0 से 300 ई0 पू0 के मध्य) —

कात्यायन मुनि व्याकरण शास्त्र में वार्त्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें वररुचि नाम से भी जाना जाता है। उनके समय का निर्धारण भी विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। प्रायः आधुनिक विद्वानों ने उनका समय 500 ई0 पू0 तथा 300 ई0 पू0 के मध्य माना है। पं0 युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि उनका समय विक्रम पूर्व 2700 वर्ष है। एक वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं। ‘प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः’। इस कथन से यह अनुमान किया जाता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे। कात्यायन का भाषाविषयक ज्ञान अगाध था। उनकी दृष्टि एक समीक्षक की दृष्टि थी। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करके उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है तथा अष्टाध्यायी के लगभग 1500 सूत्रों पर लगभग 4000 वार्त्तिक लिखे हैं। पाणिनि-व्याकरण के विकास और पारिष्कार में कात्यायन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को अधिक तथ्यानुकूल एवं समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है तथा इसकी अपूर्णता को दूर किया है। वार्त्तिककार के वचनों में भाषा के विकास की झलक देखी जा सकती है। उनकी आलोचना में अनुसंधान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वार्त्तिककार की इस प्रवृत्ति में किसी दुर्भावना की खोज करना उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ0 वेलवल्कर का यह मन्तव्य नितान्त सत्य है कि ‘कात्यायन के वार्त्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है।’

आचार्य पतंजलि (200 ई0 पू0 तथा प्रथम ई0 शती के मध्य) —

पतजंलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अतः वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डॉ0 वेलवल्कर ने उनका समय 150 ई0 पू0 माना है। इस मत का आधार यह है-महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतजंलि ने पुष्पमित्र को यज्ञ कराया था। फलतः वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय 150 ई0 पू0 माना है। अतः पतंजलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय 1200 ई0 पू0 के लगभग होना चाहिए। इसलिए पतंजलि का समय भी वही होगा। पतजंलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः कहीं-कहीं उनके लिए फणिभृत्, अहिपति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपने मत प्रकट करते हुए 'गोनर्दीय' शब्द का प्रयोग किया है-'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय-बैल अधिक हृष्ट-पुष्ट होते हैं अतः विशेष रूप से नाद करते हैं (आधुनिक पंजाब और हरयाणा आदि) सम्भवतः यही प्रदेश पतंजलि का निवास स्थान रहा होगा। पतजंलि ने पाणिनि के मुख्य-मुख्य सूत्रों तथा कात्यायन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतजंलि के मतानुसार जिस भगवान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष-दर्शन का दुस्साहस कैसे किया जा सकता है ? वार्त्तिककार के वार्त्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है। साथ ही सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों से भी अधिक पतजंलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतंजलि का ही कार्य है।

द्वितीय युग—

महाभाष्य के साथ-साथ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरल टीका-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यही से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे गये। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमजंरी' नामक व्याख्या की। इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन का प्रारम्भ होगया। भर्तृहरि (650 ई0) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया। इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है।

भर्तृहरि (सप्तम शताब्दी) —

भतृहरि का संस्कृत-व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है। व्याकरण के मुनित्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है। फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है। अनेक विद्वान् इत्सिंग नामक चीनी-यात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तमी शती ई0 का उत्तरार्ध मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिंग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिए।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तृहरि के गुरु वसुराज थे। ‘प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागम-संग्रहः’ इस श्लोक की अवतरणिका में पुण्यराज ने लिखा है-‘तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।’ इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तृहरि बौद्ध था उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि वैदिक मत के अनुयायी थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है-वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्’ इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में भी उनकी वेद के प्रति आस्था दिखलायी देती है।

भर्तृहरि की रचनाएँ—

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे महाभीष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त ‘वेदान्तसूत्रवृत्ति’ आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तृहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के रचयिता एक ही भर्तृहरि हैं, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न हैं, किंच भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तृहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तृहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका—

महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण 25000 श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है-‘संहितासूत्र-भाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्’। आधुनिक युग में डॉ0 कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं0 ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय—

यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं-ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दृष्टि से

विवेचन किया गया है {वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।} इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं है। उनका विशिष्ट महत्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण-दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण-दर्शन के मन्तव्य यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप में तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वज्ञैानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

तृतीययुग—

तृतीय युग में पाणिनि के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषय-विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव में इस युग में शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास विमल सरस्वती (1350 ई0) का था जिन्होंने ‘रूपमाला’ लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (15 वीं शती) ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी। प्रक्रिया-युग में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजिदीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में ‘वैयाकरण-भूषण’ उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजिदीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजिदीक्षित (16 वीं शताब्दी ई0 के लगभग)—

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण-भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ़-मनोरमा की टीका ‘शब्दरत्न’ के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे। पण्डितराज जगन्नाथ कृत ‘प्रौढ़मनोरमा-खण्डन’ नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंह के पुत्रशेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने ‘शब्दकौस्तुभ’ में शेषकृष्ण के लिए गुरुशब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थान पर इन्होंने अप्पय दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या0 शा0 का इतिहास पृ0 447)। वेलवल्कर ने भट्टोजिदीक्षित का समय 1600-1650 ई0 माना है। कुछ विद्वान् इनका समय 1580 ई0 (1637 वि सं0) के लगभग मानते हैं। पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म-काल वि0 सं0 की सोलहवीं शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिए।

भट्टोजिदीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजिदीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर ‘शब्दकौस्तुभ’ नामक एक वृत्ति लिखी थी। आज इस वृत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसलिए इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई थी। सम्भवतः पण्डितराज जगन्नाथ ने ‘कौस्तुभ-खण्डन’ नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी—

भट्टोजिदीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह ‘शब्द कौस्तुभ’ के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं ही इस पर प्रौढ़मनोरमा नाम की टीका लिखी है। सिद्धान्त-कौमुदी को प्रक्रिया-पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व जो प्रक्रिया

गन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है, इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरण का विश्लेषण करके वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमजंरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिभाषाओं, वार्त्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामजंस्य दिखाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गई । कालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्तकौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे न छोड़ सके। इनके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजिदीक्षित की 34 कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठ-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है। पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि-व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित हैः-

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।।

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में नव्य-न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट (17 वीं तथा 18 वीं शती ई0) —

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन-वृत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनश्रुति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। नागेश भट्ट का समय 17 वीं शताब्दी ई0 के अन्त तथा 18 वीं शताब्दी ई0 के आरम्भ में है। (विशेष द्रष्टव्य सं0 व्या0 का इतिहास)। नागेश भट्ट की व्याकरण-सम्बन्धी रचनाएँ हैं-महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघु शब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमंजूषा, परमलघुमंजूषा और स्फोटवाद। सिद्धान्तकौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गईं। उनमें परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है।

वरदराज-लघुसिद्धान्त कौमुदी—

पाणिनि-व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिए भट्टोजी के शिष्य वरदाजाचार्य ने लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया है। लघुकौमुदी मे व्याकरण-प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है, यह सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कृति है। यहाँ पर लघुकौमुदी का ही अधिकांश भाग दिया जा रहा है। जहाँ सिद्धान्तकौमुदी में पाणिनि के लगभग सभी सूत्रों को लिया गया है, वहाँ लघुकौमुदी में केवल उन्हीं सूत्रों को लिया गया है जो व्यावहारिक ज्ञान के लिए उपयोगी हैं। वैदिकी प्रक्रिया और स्वर प्रक्रिया को सर्वथा छोड़ दिया गया है।

3.4 सारांश

इस इकाई में व्याकरणशास्त्र के प्रमुख आचार्यों एवं उनकी ग्रन्थ परम्परा का वर्णन किया गया है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र के विषय में अनेक वैयाकरणों के नाम तथा उनके सिद्धान्त 700 ई० पू० के आसपास रचे गये निरुक्त में मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवों की प्रार्थना मानकर इन्द्र ने अव्याकृत वाणी का विश्लेषण करके प्रथम वैयाकरण होने का श्रेय प्राप्त किया। वाक्य से पदों का अपोद्धार और पद में प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना व्याकृत वाणी का लक्षण हुई। आरम्भिक वैयाकरण निश्चित रूप से वैदिक भाषा का व्याख्या किया गया है क्रमशः लौकिक (संस्कृत) और वैदिक दोनों भाषाओं के अन्वाख्यान में वे सन्नद्ध हुए और अन्ततः उनका लक्ष्य केवल संस्कृत भाषा की व्याख्या में ही परिमित हो गया। इस इकाई में व्याकरणशास्त्र के प्रमुख आचार्यों एवं उनकी ग्रन्थ परम्परा के विषय में सम्यग रूप से वर्णन किया गया है।

बोध प्रश्न—

क- भट्टोजीदीक्षित गुरु के नाम है

1 भर्तृहरि

2 नृसिंहाश्रम

3 आचार्य पाल्यकृति

4 महाराज भोज

ख- नारायण भट्ट किसके समकालिक थे।

1 पाणिनि

2 कौटिल्य

3 भट्टोजीदिक्षीत

4 जैनशाकटायन

ग- सूत्र किसके आधार पर रचे गये हैं।

1 भट्टो जी दीक्षित के

2 नृसिंहाश्रम के

3 पाणिनि के

4 कौटिल्य

घ- परिभाषेन्दु शेखर के रचनाकार है

1 भर्तृहरि

2 नागेशभट्ट

3 आचार्य पाल्यकृति

4 महाराज भोज

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
सर्वशब्दा	सभी शब्द
हि	निश्चय
दर्शित	दिखाया गया

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

क-2

ख-3

ग-3

घ-4

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी- भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी।

(2) डॉ0 जितेन्द्र वत्स-भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा, निर्मल पब्लिकेशन्स, शाहदरा दिल्ली।

(3) डॉ0 भोलानाथ तिवारी - भाषा विज्ञान, किताब महल, सरोजनी नायडू मार्ग,इलाहाबाद।

(4) डॉ0 कर्णसिंह-भाषा विज्ञान,प्रकाशक, रतिराम शास्त्री,अध्यक्ष,साहित्य भण्डार,सुभाष बाजार, मेरठ।

3.8 अन्य उपयोगी ग्रंथ

(1) आधुनिक भाषा विज्ञान - डॉ0 राममणि शर्मा

(2) भाषा विज्ञान - डॉ0 श्याम सुन्दर दास

(3) भाषा और भाषाविज्ञान - प्रो0 रामाश्रय मिश्र

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1- संस्कृत व्याकरण का परिचय दीजिये।

2- पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्था परम्परा का वर्णन कीजिये।

3- पाणिनि से उत्तरवर्त्ति आचार्यों का परिचय एवं ग्रन्थ परम्परा का वर्णन कीजिये।

इकाई–4 संस्कृत व्याकरण का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 व्याकरण का परिचय
4.3.1 व्याकरण की परम्परा, आचार्य एवं ग्रन्थ
4.3.2 व्याकरण का प्राचीन रूप – प्रातिशाख्य
4.3.3 पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय
4.3.4 वैदिक परम्परा के वैयाकरण– आचार्य यास्क
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 बोध पश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत का अधिकांश साहित्य संस्कृत भाषा में ही निबद्ध है। संस्कृत वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य की भाषा रही है। यद्यपि वैदिक भाषा लौकिक संस्कृत से कई रूपों में भिन्न है, यह भिन्नता वैदिक भाषा में रूपों की विविधता के कारण और परवर्ती रचनाकारों द्वारा अनेक वैदिक संज्ञाओं के स्थान पर नई संज्ञाओं को अपनाने के कारण रही। केवल भारत में ही नहीं, अपितु संस्कृत का प्रभाव श्रीलंका, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, थाईलैण्ड, जावा, सुमात्रा और यूरोपीय देशों तक स्पष्ट दिखाई देता है। भाषा वैज्ञानिक मतानुसार भारोपीय भाषा परिवार की समस्त भाषायें संस्कृत से ही उत्पन्न हुई हैं। विश्व की अन्य भाषाओं में भी संस्कृत भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। संस्कृत को देववाणी, गीर्वाणवाणी, सुरवाणी, सुरभाषा आदि नामों से भी जाना जाता है।

संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति– संस्कृत शब्द सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से क्त प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है– परिष्कृत अथवा शुद्ध किया हुआ।

वैदिक वांङ्मय से लेकर आर्षकाव्यों एवं पुराणों में व्याकरण का महत्व अनेक स्थानों में वर्णित है। अग्निपुराण में 349वें अध्याय से लेकर 361 वें अध्याय तक सन्धि, सुबन्त और तिंडन्त पद, लिंगों का विवेचन, कारक और समास निरूपण, त्रिविध तद्धित प्रत्यय, उणादि सूत्रों से निष्पन्न शब्दरूप, कृदन्त शब्द और अव्ययवर्ग का बहुत ही सुन्दर और अल्प शब्दों में निरूपण किया गया है। आदि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में भी किस्किन्धाकाण्ड के तृतीय सर्ग में जब श्रीरामचन्द्र और श्रीलक्ष्मण हनुमान जी से प्रथम बार मिलते हैं तो हनुमान अपना परिचय संस्कृत भाषा में देते हैं, जिसको सुनकर राम कहते हैं–

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतं।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्।। किस्कि. 3/29

वेदों के अध्ययन को सरल एवं सुगम बनाने के लिए ऋषियों के द्वारा छः वेदांगों का निर्माण किया गया। वेद को एक पुरुष के रूप में कल्पित करते हुए इन वेदांगों को उसके विभिन्न अंगों के रूप में वर्णन करते हुए महर्षि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ पाणिनीय शिक्षा में कहा है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पा. शिक्षा 41/42

4.2 उद्देश्य–

''संस्कृत व्याकरण का स्वरूप'' इकाई के अन्तर्गत आप निम्नलिखित बिन्दुओं के बारे में जान सकेंगे–

- व्याकरण का परिचय
- व्याकरण की परम्परा, आचार्यों एवं ग्रन्थों के विषय में
- व्याकरण की व्युत्पत्ति के बारे में

- संज्ञाओं के बारे में
- वर्णोच्चारण प्रक्रिया के बारे में।
- प्रत्याहार के बारे में।
- उपसर्गों, वाच्यों, एवं प्रत्ययों के बारे में।
  - समास परिचय
  - व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप के बारे में।

4.3 व्याकरण का परिचय

व्याकरण शास्त्र अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध शास्त्र है, इसका व्यापक स्वरूप निम्नलिखित वर्णन से पता चलता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं–

बृहस्पतिः इन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रम् अध्ययनकालः, न चान्तं जगाम।

4.3.1 व्याकरण की परम्परा, आचार्य एवं ग्रन्थ–

ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्य में वर्णन है– **ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिः इन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयः ब्राह्मणेभ्यः, तं खलु इमम् अक्षरसमाम्नायम् इत्याचक्षते।**

व्याकरण के प्रथम आचार्य ब्रह्मा, द्वितीय बृहस्पति, तृतीय इन्द्र, चतुर्थ भरद्वाज पंचम ऋषि समुदाय, तदनन्तर ऋषियों से ब्राह्मणों को व्याकरणशास्त्र का ज्ञान हुआ। शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र पदविद्या आदि व्याकरण के अन्य नाम हैं।

4.3.2 व्याकरण का प्राचीन रूप – प्रातिशाख्य

वैदिक ऋषियों ने प्रत्येक वैदिक शाखा से सम्बन्धित व्याकरण का निर्माण किया, जिससे सम्बन्धित वेद का अधिगम सुगम हो सके। प्रातिशाख्य का अर्थ है– प्रत्येक शाखा सम्बन्धी शास्त्र, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण, सन्धिनियम, पदाध्ययन और स्वररक्षण प्रातिशाख्य के मुख्य विषय हैं– वर्तमान में आठ ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं– ऋक् प्रातिशाख्य–शौनक ऋषि, वाजसनेयी प्रातिशाख्य–शौनक ऋषि, तैत्तरीय प्रातिशाख्य– ,सामवेदीय पुष्पसूत्र–गोभिल ऋषि, सामवेदीय कौथुम शाखा का ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य–आचार्य शाकटायन, अथर्ववेदीय चतुरध्यायिका – शौनक, अथर्ववेदीय प्रातिशाख्यसूत्र , अथर्व प्रातिशाख्य।

4.3.3 पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों का परिचय–

महर्षि पाणिनि के 26 पूर्ववर्ती आचार्यों ने संस्कृत व्याकरण को समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था, उनमें प्रमुख नाम इस प्रकार हैं–

इन्द्र, भागुरि, चारायण, काशकृत्स्न, माध्यन्दिनी, शौनकि, व्याडि, आपिशलि, गालव, शाकटायन, इन आचार्यों के मत/ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

1–आपिशलि – महर्षि आपिशल के पुत्र आपिशलि प्रखर वैयाकरण रहे। इन्होंने आपिशल नामक व्याकरण की रचना की। इनका समय 3000 वि.पू. माना जाता है। आपिशलि विरचित कुछ प्रमुख सूत्र हैं–

1 उभयस्योभयोऽद्विवचनटापो
2 विभक्त्यन्तं पदम्
3 मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषा प्राणिषु
4 चिरसाययोर्मश्च प्रगप्राह्वायोरेच्च

आपिशल व्याकरण और पाणिनीय व्याकरण में समानता दिखाई देती है। सूत्र रचना के साथ साथ अनेक संज्ञा, प्रत्यय और प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं।

2 काश्यप– 3000 वि.पू.

वाजसनेय प्रातिशाख्य 4/5 शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है, आचार्य पिंगल ने छन्दः शास्त्र 7/9 में काश्यप के मत को व्यक्त किया है। अन्य आचार्यों के नाम–

3 गार्ग्य 3100 वि.पू., **4** गालव 3100 वि.पू., **5** चाक्रवर्मण 3000 वि.पू. **6** भारद्वाज 3000 वि.पू., **7** शाकटायन 3000 वि.पू., **8** शाकल्य 3100 वि.पू., **9**–सेनक **10**– स्फोटायन

व्याडि – संग्रह नामक ग्रन्थ के प्रणेता व्याडि थे, भर्तृहरि के अनुसार संग्रह में चतुर्दश सहस्र विषयों पर विचार किया गया था, पतंजलि के कहा कि– शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। आचार्य व्याडि ने अपने ग्रन्थ में प्राकृतध्वनि वैकृतध्वनि, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय वर्ण, पद, वाक्य आदि पर गम्भीर विचार किया।

4.3.4 वैदिक परम्परा के वैयाकरण– आचार्य यास्क

आचार्य यास्क यद्यपि निरुक्तकार हैं, किन्तु व्याकरण के लिए उनका योगदान अविस्मरणीय है। निरुक्त और व्याकरण कई रूपों में समान विषय का विवेचन करते हैं, पाणिनि के सूत्रों में यास्क का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यास्क की अनेक संज्ञाओं को पाणिनि ने यथावत ग्रहण भी किया है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में ही नाम आख्यात उपसर्ग निपात, के रूप में चार प्रकार के पदों का उल्लेख मिलता है, जबकि पाणिनि सुबन्त और तिङ्न्त दो ही पद मानते हैं। उपसर्ग और निपात को सुबन्त के अन्तर्गत ही मानते हैं। निरुक्त की शैली का महाभाष्यकार पतंजलि ने अनुकरण किया है। दोनों में ही छोटे वाक्यों एवं अल्प समास युक्त पदों का प्रयोग हुआ है। किन्तु यास्क की भाषा में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जिनका बाद में अर्थ बदल गया।

महर्षि पाणिनि–

महर्षि पाणिनि का जन्म शालातुर ग्राम वर्तमान में लाहौर में हुआ था। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका जन्म वि. सं. से 2900 वर्ष पूर्व हुआ था। इनके पिता पणि, माता का नाम दाक्षी व गुरु उपवर्ष थे। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना अष्टाध्यायी है। इसी ग्रन्थ के कारण आज संस्कृत जगत में व्याकरण की प्रामाणिकता बनी हुई है। प्राचीन आर्ष व्याकरणों में अन्तिम और संक्षिप्ततम होने पर भी यह वैदिक और लौकिक संस्कृत को आलोकित करने वाला महान प्रकाश स्तम्भ है। यह मानव को अपशब्दों के प्रयोग से बचाने वाला और साधु शब्दों के प्रयोग हेतु प्रेरित करने वाला ग्रन्थरत्न है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अष्टाध्यायी की भूरि भूरि प्रशंसा की है। अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं।

पाणिनि के कई नाम प्रकाश में आये हैं– पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय, आहिक। इसी प्रकार उनके ग्रन्थ अष्टाध्यायी के भी कई नामों का उल्लेख है– अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन,

अष्टाध्यायी का मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ आपिशल तन्त्र है।अष्टाध्यायी पर तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। वृत्ति, वार्तिक और भाष्य। वृत्ति शब्द का पतंजलि ने शास्त्रप्रवृत्ति अर्थ किया है और वार्तिक का अर्थ वृत्ति को लक्ष्य में रखकर लिखा गया ग्रन्थ किया है। भाष्य का तात्पर्य आक्षेप करके समाधान प्रस्तुत करना है। प्रमुख वृत्तिकार हैं– शोभूति, व्याडि, कुड़ि, माथुर, वररुचि, देवनन्दी, चुल्लिभटि्ट, निर्लूर, चूर्नि, भट्टोजिदीक्षित आदि। अष्टाध्यायी पर वार्तिकग्रन्थ लिखने वाले प्रमुख आचार्य कात्यायन, सुनाग, वाडव, वैयाघ्रपद्य, भारद्वाज, क्रोष्टा, व्याघ्रभूति, आदि हैं। भाष्यकारों में पतंजलि का नाम प्रमुख है। पतंजलि विरचित भाष्य विपुलकाय होने के कारण महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। महाभाष्य अष्टाध्यायी का व्याख्या ग्रन्थ होने के साथ साथ अनेक विषयों का भण्डार है। यद्यपि इसकी भाषा अत्यन्त सरल है तथापि कहीं कहीं भावों एवं विचारों की गम्भीरता इस ग्रन्थ को दुरूह बनाती है। पाणिनी अष्टाध्यायी के अध्ययन हेतु दो व्यवस्थायें प्रयोग में लायी जाती हैं– प्रथम– सूत्रक्रम द्वितीय–प्रक्रियाक्रम।

सूत्रक्रम वह प्रक्रिया है जिस क्रम में आचार्य पाणिनि ने सूत्रों का प्रणयन किया, उसी क्रम में अध्ययन अध्यापन करना सूत्रक्रम कहलाता है।

प्रक्रियाक्रम में शब्दों के निर्माण में जिन सूत्रों की आवश्यकता होती है, उसी क्रम में सूत्रों का अध्ययन किया जाता है, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरामा, लघुशब्देन्दुशेखर, प्रौढ़मनोरमा आदि ग्रन्थ प्रक्रियाक्रम के विशिष्ट उदाहरण हैं।

पाणिनि के अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ– 1– शिक्षा, जाम्बवती विजय, एवं द्विरेफकोश

अष्टाध्यायी– महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी 8 अध्यायों में वर्गीकृत है। प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं। अष्टाध्यायी में सूत्रों की संख्या को लेकर मतभेद हैं, काशिका ग्रन्थ के अनुसार अष्टाध्यायी में 3983 सूत्र हैं, वहीं श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित कृत सिद्धान्तकौमुदी में 3976 सूत्र विहित हैं।

व्याकरण के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों के होने के बावजूद अष्टाध्यायी की लोकप्रियता सर्वाधिक रही। इसका कारण अन्य ग्रन्थों की दुरूहता एवं क्लिष्टता अधिक कारण रही है। अष्टाध्यायी में विषयों की स्पष्टता व सरलता से प्रतिपादन लोकप्रिय होने का एक मुख्य कारण रहा है।

महर्षि पतञ्जलि– संस्कृत जगत में महर्षि पतंजलि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। व्याकरण के इतिहास में इनके अन्य नाम भी प्रचलित हैं यथा– गोनर्दीय नरदीय, गोणिका पुत्र, नागनाथ, अहिपति फणिभृत, चूर्णिकार, पदकार आदि। इनमें से अधिकांश नामों में विद्वानों का मतैक्य दिखाई देता है, परन्तु पदकार के विषय में मतभेद है।

मुनित्रय में प्रतिष्ठित पतंजलि अपने अभूतपूर्व ग्रन्थ ''महाभाष्यम्'' के कारण विश्वविश्रुत हैं। पतंजलि ने आचार्य पाणिनि एवं कात्यायन के सूत्रों एवं वार्तिकों पर वैदुष्यपूर्ण चिन्तन किया है,

महाभाष्य में दो प्रकार की शैली का प्रयोग हुआ है। चूर्णिका और तण्डक।

चूर्णिका वह शैली है, जिसमें विषय का प्रतिपादन अत्यन्त मौलिक और सरल रूप से प्रस्तुत होता है। तण्डक वह शैली है जिसके अन्तर्गत पतंजलि विषय का प्रतिपादन आक्षेप एवं समाधान रीति से करते हैं। पतंजलि के महाभाष्य में भाषागत जटिल समास नहीं हैं भाषा सरल, प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। महाभाष्य अष्टाध्यायी का व्याख्यान रूप है, महाभाष्य में पद विभाग की योजना भी अष्टाध्यायी के अनुसार ही है।

महाभाष्य में अंकों का विभाजन आह्निक के रूपों में हुआ है, आह्निक का अर्थ है ‘‘अह्ना निर्वृत्तम्, अर्थात एक दिन में पढाये गये पाठ अथवा एक दिन में किया गया कार्य। महाभाष्य में कुल 85 आह्निक हैं, प्रथम आह्निक पस्पशाह्निक के नाम से प्रसिद्ध है। स्पश् धातु का अर्थ गोपनीय तथ्य की प्राप्ति से है। पस्पशाह्निक में भाष्यकार ने शब्दस्वरूप, व्याकरण अध्ययन के प्रयोजन, शब्दों का नित्य–अनित्यत्वविवेचन, जाति, व्यक्ति , व्याकरण शिक्षा का उद्देश्य जैसे विशद विषयों पर चिन्तन किया है।

कात्यायन– संस्कृत व्याकरण को समृद्ध बनाने में आचार्य कात्यायन का विशिष्ट योगदान है। पाणिनि जी के अष्टाध्यायी में सूत्रों को अधिक स्पष्ट करने एवं परिवर्धित करने हेतु कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका काल 2700 वि.पू. है। इन्होंने लगभग 4000 वार्तिकों का निर्माण किया।

कारक प्रकरण– कारक के विषय में कहा गया है– क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्, अर्थात क्रिया से जिसका सीधा सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। क्रिया के सम्पादन में छः सम्बन्ध दिखाई देते हैं–

क्रिया का सम्पादक	– कर्ता
क्रिया का कर्म	– कर्म
क्रिया का सम्पादन जिसके द्वारा हो	– करण
क्रिया जिसके लिए हो	– सम्प्रदान
क्रिया जिससे दूर हो	– अपादान
क्रिया जिस स्थान पर हो	– अधिकरण

अभ्यास प्रश्न–

1– संस्कृत व्याकरण का परिचय दीजिये?

2– प्राचीन वैयाकरणों के योगदान का उल्लेख कीजिये?

3– त्रिमुनि व्याकरणम् को परिभाषित कीजिये?

4– प्रातिशाख्य की विवेचना कीजिये?

5–पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के नाम बताइये?

व्याकरण में काल –

संस्कृत व्याकरण में 10 काल या वृत्तियां हैं–

लट्लकार– वर्तमानकाल

लङ्लकार– अनद्यतन भूत (आज का दिन छोड़कर विगत दिनों में हुए कार्यों के लिए)

लुङ्लकार– सामान्य भूत (बीता हुआ काल)

लिट्लकार– परोक्षभूत
लृट्लकार– सामान्य भविष्यत
लुट्लकार– अनद्यतन भविष्य
लोट्लकार– आज्ञार्थक
लिङ्लकार– विधिलिङ् (चाहिए के अर्थ में)
लृङ्लकार– क्रियातिपत्ति

लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोर्लिङ् लोटौ च लुट लृट् लृङ् च भविष्यति।।

व्याकरण में गण निरूपण–

गण दस हैं। प्रथम गण का नाम भ्वादिगण है। दसों गणों में पठित धातुओं की संख्या 1970 है, भ्वादिगण में 1035 धातुएं परिगणित है। गणों की नामावली इस प्रकार है– 1–भ्वादिगण, 2–अदादिगण, 3–जुहोत्यादिगण, 4–दिवादिगण, 5–स्वादिगण, 6–तुदादिगण, 7–रुधादिगण, 8–तनादिगण, 9–क्रयादिगण, 10–चुरादिगण।

उपरोक्त सभी गणों का नामकरण उन गणों में पठित प्रथम धातु के नाम के आधार पर किया गया है। यथा भ्वादिगण में पहली धातु भू धातु है। अदादिगण में पहली धातु अद् धातु है। जुहोत्यादि गण में हु धातु, दिवादिगण में दिव् धातु, स्वादिगण में सु, तुदादिगण में तुद् धातु, रुधादिगण में रुध् धातु, तनादिगण में तन् धातु, क्रयादिगण मे क्री धातु एवं चुरादिगण में सर्वप्रथम पठित धातु चुर् धातु है।

माहेश्वर सूत्र– महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में 14 माहेश्वर सूत्र पठित हैं। भगवान की शंकर की आराधना के फलस्वरूप इन सूत्रों को पाणिनि ने आत्मसात किया। ये सूत्र हैं–

1 अइउण्। 2 ऋलृक्। 3 एओङ्। 4 ऐऔच्। 5 हयवरट्। 6 लण्। 7 ञमङणनम्। 8 झभञ्। 9 घढधष्। 10 जबगडदश्। 11 खफछठथचटतव्। 12 कपय्। 13 शषसर्। 14 हल्।

इन सूत्रों के अन्त में विद्यमान वर्ण इत्संज्ञक हैं। प्रथम चार सूत्र के अन्तर्गत स्वर वर्णों का समावेश है, पांचवें सूत्र से चौदहवें सूत्र तक व्यंजन वर्ण हैं।

व्याकरण में संज्ञा– नामकरणं संज्ञा, किसी व्यक्ति या वस्तु के नाम को संज्ञा कहते हैं। व्याकरण में कम या अधिक अक्षर वाली संज्ञायें हैं। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में सर्वप्रथम संज्ञाओं का परिगणन किया गया है। वृद्धि, गुण, धातु, प्रातिपदिक आदि संज्ञायें हैं। संज्ञायें अलग अलग प्रकार की होने से भी जानी जाती हैं। लघु, विस्तृत, कृत्रिम, अकृत्रिम, अर्थ संज्ञा, शब्द संज्ञा, अन्वर्थ संज्ञा, अनन्वर्थ संज्ञा आदि।

सूत्र– सूत्र के सन्दर्भ में कहा गया है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

अर्थात् सूत्र में कम से कम अक्षर होते हैं, संदेह रहित होता है, जो अर्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं, वही प्रकट होता है, जो सूत्र का सार होता है। और एक सूत्र से अनेक स्थानों पर कार्य की सिद्धि होती है, इसलिए विश्वोमुखम् है। मन्त्रों में केवल पाद पूर्ति हेतु वर्ण विशेष प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें स्तोभ कहा जाता है, परन्तु सूत्र में कोई अनपेक्षित अथवा अतिरिक्त

वर्ण नहीं होता है, अतः अस्तोभ पाठ पढा गया है, सूत्र में किसी प्रकार की निन्दा वाचक अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता, अतः अनिन्दनीय पाठ पढा गया है।

सूत्रों के प्रकार– सूत्र छह प्रकार के हैं–

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशो अधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्।।

संज्ञा सूत्र, परिभाषा सूत्र, विधि सूत्र, नियम सूत्र, अतिदेश सूत्र, और अधिकार सूत्र इस प्रकार कुल छः प्रकार के सूत्र आचार्य पाणिनि ने निर्मित किये हैं।

संज्ञा सूत्र– संज्ञायतेऽनया इति संज्ञा, संज्ञा सूत्रों से पद की शक्ति का पता चलता है। किसी अर्थ को उद्देश्य करके संज्ञा का निर्धारण किया जाता है। सामान्यतः संज्ञा से पूर्व संज्ञी का निर्देश होता है। उसके बाद ही संज्ञा का विधान होता है। कुछ स्थानों में इसका अपवाद भी देखा गया है।

परिभाषा सूत्र– अनियमे नियमकारिणी परिभाषा, अर्थात् जिन स्थलों में भ्रम की स्थिति होती है, वहां परिभाषा सूत्र व्यवस्था बनाते हैं, यथा इको यणचि इस सूत्र से सुधी उपास्य में ई के स्थान पर य व र ल आदेश प्राप्त होते हैं, ऐसे में स्थानेऽन्तरतमः परिभाषा सूत्र ई के स्थान पर य् व् र् ल् के प्राप्त होने पर यणादेश य् को ही प्राप्त होता है। इस प्रकार अनियम की स्थिति में परिभाषा सूत्र उपयुक्त मार्ग दिखलाते हैं।

विधि सूत्र– विधि सूत्र का लक्षण और उदाहरण लिखना है। कर्त्तव्यत्वेनोपदेशो विधिः। अर्थात् कर्त्तव्य का उपदेश करने वाला सूत्र विधिसूत्र कहलाता है।

नियम सूत्र– नियमसूत्रलक्षणम् इतरनिवृत्तिफलकार्थबोधकं नियमसूत्रम्। अर्थात प्रकरण विशेष में जब एक से अधिक कार्य की प्राप्ति होती है तब ऐसे स्थल में कुछ कार्य होता है, कुछ नहीं होता, होने वाले कार्य को बताने वाला सूत्र नियम सूत्र कहलाता है।

अतिदेश सूत्र– अतिदेश सूत्र का लक्षण है– एकत्र दृष्टानां धर्माणामन्यत्र सम्बन्धोपदेशः अतिदेशः अर्थात् एक स्थल विशेष धर्म का अन्य स्थल में प्रयोग करना अतिदेश कहलाता है। अथवा अपने गुणधर्मों का आरोप दूसरे सूत्रों में करने वाले सूत्र अतिदेश सूत्र कहलाते हैं।

अधिकार सूत्र– 'उत्तरोत्तर सम्बन्धः अधिकारः', ये सूत्र किसी अनुवृत्ति की तरह कार्य करते हैं, अष्टाध्यायी में निरूपित बाद के सूत्रों का निर्देशन करते हैं। इनका अधिकार क्षेत्र पूरे अध्याय में अथवा पाद तक हो सकता है।

अभ्यास प्रश्न–

1– भूतकालिक लकार कितने हैं, उनके नाम लिखिये?

2– भू धातु के लोट्लकार के रूप लिखिये?

3– माहेश्वर सूत्रों को व्यक्त कीजिये?

4– व्याकरण शास्त्र में वर्णित सूत्रों के प्रकार पर टिप्पणी लिखिये?

वर्णों के उच्चारण स्थान– संस्कृत व्याकरण में वर्णोच्चारण की प्रक्रिया का प्रतिपादन पूर्णतया वैज्ञानिक तरीके किया गया है। पाणिनीय व्याकरण के सूत्र तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् में वर्णित है–

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः– अ, कवर्ग ह, विसर्जनीय इनका उच्चारण स्थान कण्ठ है।

इचुयशानां तालुः— इ, चवर्ग, य, श का उच्चारण स्थान तालु है।
ऋटुरषाणां मूर्धा— ऋ, टवर्ग, र, ष का उच्चारण स्थान मूर्धा है।
लृतुलसानां दन्तः—लृ, तवर्ग, लकार, स का उच्चारण स्थान दन्त है।
उपूपध्मानीयानां ओष्ठः— उ, पवर्ग, उपध्मानीय वर्णों का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।
कादयो मावसानाः स्पर्शाः— क से म तक के वर्णों को स्पर्श वर्ण कहा जाता है।
यणोऽन्तस्थाः— य, र ल व वर्ण अन्तःस्थ वर्ण कहे जाते हैं।
शलः ऊष्माणः — श, ष, स ह वर्ण ऊष्माण वर्ण हैं।
वर्णों के दो यत्न हैं— वर्णों के उच्चारण में जो चेष्टा करनी पड़ती है, उसे यत्न कहते हैं। यत्न दो प्रकार के हैं— **1— आभ्यन्तर प्रयत्न, 2— बाह्य प्रयत्न**

वर्णोच्चारण में मुख से बाहर निकलने के पूर्व मुख में होने वाले यत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। **आभ्यन्तर पांच प्रकार के हैं— स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत।** बाह्य प्रयत्न वह है जो वर्ण मुख से बाहर निकलते समय होता है। **बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के हैं— विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित।**

प्रत्याहार— पाणिनि व्याकरण में प्रत्याहार महत्वपूर्ण इकाई है। प्रत्याहार से संक्षेपीकरण अत्यन्त आसान हो गया है। कुल 44 प्रत्याहार हैं। अच्, हल्, हश् अल् आदि प्रत्याहार हैं। अच् कहने मात्र से सभी स्वर वर्णों का ज्ञान हो जाता है। हल् कहते ही सभी व्यंजन वर्णों का अधिगम हो जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों को जानना चाहिए। इनका आधार 14 माहेश्वर सूत्र हैं, इन्हीं माहेश्वर सूत्रों से प्रत्याहारों का निर्माण होता है।

उपदेश— उपदेशः आद्योच्चारणम्, प्राचीन मुनियों के वचन को उपदेश कहा गया है। मुनियों ने किस वचन को उपदेश कहा गया, इस को स्पष्ट करने के लिए यह कारिका पठित है—

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिंगानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशाः उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

धातु, सूत्र, गण, उणादि सूत्र, वार्तिक, लिंगानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश इन्हें उपदेश कहा जाता है।

इत्संज्ञा— पाणिनीय अष्टाध्यायी में इत्संज्ञा करने वाले छह सूत्र पठित हैं—
हलन्त्यम्, न विभक्तौ तुस्माः, आदिर्ञिटुडवः, षः प्रत्ययस्य, चुटू, लशक्वतद्धिते।
वर्णों की ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञायें होती हैं, वर्णोच्चारण में लगने वाले समय के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत संज्ञायें होती हैं, कहा भी गया है—

एक मात्रिक भवेत् ह्रस्वो, द्विमात्रिक दीर्घमुच्यते।
त्रिमात्रिस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्धमात्रिकम्।।

व्याकरण में सन्धियां—

सन्धि शब्द का सामान्य अर्थ है— जोड़ अथवा मेल, दो अक्षरों को मिलाने का कार्य सन्धि कहलाता है। सन्धि के सन्दर्भ में कहा गया है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

अर्थात् सन्धि एक पद के विभिन्न अवयवों में, धातु एवं उपसर्ग तथा समास स्थल में अवश्य करनी चाहिए। परन्तु वाक्य में अलग अलग शब्दों के मध्य सन्धि कर्ता की विवक्षा पर निर्भर होता है।

अच्सन्धि– स्वरों के परस्पर बीच में होने वाली सन्धि अच्सन्धि कहलाती है।
उदाहरण के लिए जैसे सुधी+उपास्यः=सुध्युपास्यः

हलसन्धि– दो व्यंजनों अथवा एक स्वर और एक व्यंजन के बीच होने वाली सन्धि हल सन्धि कहलाती है।
उदाहरण– सत्+चित्=सच्चित्, रामस्+शेते=रामश्शेते आदि
व्यंजन सन्धि के कुछ सूत्र इस प्रकार हैं– स्तोः श्चुना श्चुः, शात्, ष्टुना ष्टुः, झलां जशोऽन्ते आदि।

विसर्ग सन्धि–विसर्ग के बाद स्वर या व्यंजन वर्ण आने पर विसर्ग में जो बदलाव होता है, वह विसर्ग सन्धि कहलाता है।
उदाहरण– दुः+शासन = दुश्शासन, हरिः+शेते =हरिश्शेते, पितुः+इच्छा=पितुरिच्छा आदि।

लिंग– संस्कृत व्याकरण में तीन लिंग हैं, पुल्लिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग, लिंग के निर्धारण में कहा गया है कि लिंगमशिष्यम् लोकाश्रयत्वात्, अर्थात् लिंग को शास्त्र से भी अधिक लोक के अधीन रखा गया है। आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ लिंगानुशासनम् में लिंगों के निर्धारण सम्बन्धित नियमों को बताया है।

वचन– संस्कृत व्याकरण में तीन वचन हैं– एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन, बहुवचन में तीन अथवा तीन से अधिक संख्याओं का बोध कराने हेतु बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

विभक्तियां– संस्कृत व्याकरण में सात विभक्तियां निर्धारित हैं, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति। कारक छः हैं। कारकाणि षट् – कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण
कारक और विभक्तियों के सम्बन्ध को प्रदर्शित करता हुआ विवरण प्रस्तुत है–

कारक	**विभक्ति**	**चिह्न**
कर्ता	प्रथमा	ने
कर्म	द्वितीया	को
करण	तृतीया	से, के द्वारा
सम्प्रदान	चतुर्थी	के लिए
अपादान	पंचमी	से पृथक
(सम्बन्ध)	षष्ठी	का,के,की, ना,ने,नी, रा, रे,री
अधिकरण	सप्तमी	में, पर

उपसर्ग– उपसर्ग के विषय में कहा है–
उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।।
उपसर्ग नये शब्दों का निर्माण करते हैं। धातु के साथ जब उपसर्ग संयुक्त होता है, तो वह मूल धातु के अर्थ को छोड़कर नये अर्थ का द्योतन करता है। संस्कृत व्याकरण में उपसर्ग के प्रयोग से विशाल शब्दराशि का निर्माण

सम्भव हुआ है। उपसर्गों की संख्या 22 है। प्र, परा, अप, सम्, अनु अव्,निस्,निर्, दुस्, दुर्, वि आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत् अभि, प्रति, परि उप उदाहरण– अनुकरण, अनुक्रम, अध्यक्ष, अभिनन्दन,उत्कर्ष आदि अनेक शब्दों का निर्माण उपसर्गों की सहायता से हुआ है।

वाच्य– संस्कृत व्याकरण में तीन वाच्य हैं–

1 कर्तृवाच्य 2 कर्मवाच्य 3 भाववाच्य

कर्तृवाच्य–

प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत्।
द्वितीया कर्मणि तथा क्रिया कर्तृपदान्विता।।

अर्थात् कर्तृवाच्य में कर्ता प्रधान होता है। और प्रथमान्त प्रयोग किया जाता है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है एवं कर्ता के पुरुष और वचन के अनुसार ही क्रिया होती है।

उदाहरण – रमेशः भोजनं करोति। रमेश भोजन करता है।

कर्मवाच्य –

प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात्तु कर्तरि।
कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी।।

कर्मवाच्य में कर्म की प्रधानता होती है। कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्ता तृतीया विभक्ति का होता है।

उदाहरण – मया अध्यायः पठ्यते। मेरे द्वारा अध्याय पढ़ा जाता है।

भाव वाच्य–

कर्माभावः सदाभावे तृतीया चैव कर्तरि।
प्रथमः पुरुषश्चैकवचनश्च क्रियापदे।।

भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है और कर्म का सदा अभाव होता है। और क्रिया में प्रथम पुरुष एकवचन ही होता है। यथा– मया स्थीयते। तेन ध्यायते आदि।

अभ्यास प्रश्न–

1– सिद्ध कीजिये कि वर्णोच्चारण की प्रक्रिया पूर्णतया व्यवस्थित और वैज्ञानिक है?

2– प्रत्याहारों पर प्रकाश डालिये?

3– इत्संज्ञा विधायक सूत्रों को लिखिये?

4–कर्तृवाच्य के नियम को बताइये?

व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार–

1	अष्टाध्यायी	पाणिनि	10	प्रक्रियाकौमुदी	रामचन्द्र
2	वाक्यपदीयम्	भर्तृहरि	11	लघुसिद्धान्त कौमुदी	वरदराजाचार्य
3	काशिकावृत्ति	जयादित्यवामन	12	रूपावतार	धर्मकीर्ति
4	सूक्तिरत्नाकर	शेषनारायण	13	शब्दरत्न	हरिदीक्षित
5	महाभाष्य	पतंजलि	14	मध्यसिद्धान्त कौमुदी	वरदराजाचार्य

6	वार्तिक	कात्यायन	15	लघुशब्देन्दुश ेखर	नागेश भट्ट
7	प्रौढमनोरमा	भट्टोजिदीक्षित	16	परिभाषेन्दुशे खर	नागेश भट्ट
8	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	17	वैयाकरणभूष णसार	कौण्डभट्ट
9	पदमंजरी	हरदत्त	18	तत्वबोधिनी (टीका)	ज्ञानेन्दसर स्वती

समास – व्याकरण में समास का विशेष महत्व है, समास का अर्थ है– अनेक पदों का एकपदीकरण, अथवा संक्षेपीकरण, अनेकपदानाम् एकपदीभवनं समासः, समसनं समासः कहा गया है। समास के छः भेद हैं–
1– अव्ययीभाव समास 2– द्विगु समास(तत्पुरुष का भेद)
3– तत्पुरुष समास, 4– बहुब्रीहि समास 5 कर्मधारय समास(तत्पुरुष का भेद)

अव्ययीभाव समास में पहला शब्द अव्यय होता है और दूसरा शब्द संज्ञा शब्द होता है। समस्त पद होने के बाद दोनों शब्द मिलकर अव्यय संज्ञक कहलाते हैं। एवं पूर्व पद की प्रधानता रहती है। उदाहरण– हरौ इति अधिहरिः, चक्रेण युगपत् सचक्रम्, हरेः सादृश्यम् सहरि, गंगायाः समीपे उपगंगम्, आदि।

द्विगु समास–द्विगु समास में यदि प्रथम शब्द संख्यावाची हो और दूसरा शब्द संज्ञावाची हो तो उसे द्विगु समास कहते हैं। उदाहरण– पंचगावः धनं यस्य सः पंचगवधनः, त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, षण्णां मातॄणाम् अपत्यं पुमान् षाण्मातुरः।

तत्पुरुष समास– तत्पुरुष समास में पूर्व पद विशेषण व उत्तर पद विशेष्य होता है। और उत्तर पद की प्रधानता होती है। तत्पुरुष समास के अवान्तर भेद हैं। व्यधिकरण तत्पुरुष के छः भेद हैं। (द्वितीया से लेकर सप्तमी तत्पुरुष पर्यन्त) उदाहरण– कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः हरिणा त्रातः हरित्रातः, कुम्भाय मृत्तिका कुम्भमृत्तिका, आदि।

बहुब्रीहि समास– अन्यपदप्रधानो बहुब्रीहिः, बहुब्रीहि समास में दोनों शब्द किसी अन्य शब्द के विशेषण हों तो उसे बहुब्रीहि समास कहते हैं। बहुब्रीहि के भी दो भेद हैं, समानाधिकरण बहुब्रीहि एवं व्यधिकरण बहुब्रीहि। समानाधिकरण बहुब्रीहि में दोनों शब्दों का समान अधिकरण होता है। इसके भी अवान्तर छः भेद होते हैं। उदाहरण– आरूढः वानरः यं सः आरूढवानरः। निर्गतं बलं यस्मात् सः निर्गतबलः। व्यधिकरण बहुब्रीहि में एक शब्द प्रथमान्त होता है दूसरा षष्ठी अथवा सप्तमी में। उदाहरण– चन्द्रः शेखरे यस्य सः चन्द्रशेखरः।

द्वन्द्व समास– द्वन्द्व समास में दोनों पद प्रधान होते हैं। उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। इसके तीन भेद हैं– इतरेतर द्वन्द्व, समाहार द्वन्द्व एवं एकशेष द्वन्द्व। इतरेतर द्वन्द्व में दोनों शब्द अथवा संज्ञायें प्रधानत्व रखती हैं यथा रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ। समाहार द्वन्द्व में प्रधानतया एक समूह अथवा समाहार का बोध कराती हैं तथा समास नपुंसकलिंग एक वचन में रखा जाता है।

पाणी च पादौ च पाणिपादम्। एकशेष द्वन्द्व में केवल समान रूपवाले शब्द अथवा समान अर्थ रखने वाले अलग अलग शब्द आ सकते हैं उदाहरण– ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च=ब्राह्मणौ, घटश्च कलशश्च =घटौ अथवा कलशौ।

कर्मधारय समास– प्रथम शब्द दूसरे शब्द का जब विशेषण हो, और दोनों शब्दों का समानाधिकरण हो तो वह समास समानाधिकरण अथवा कर्मधारय समास कहलाता है। यथा नीलम् उत्पलम् =नीलोत्पलम्। कर्मधारय के भेद भी हैं– यथा– उपमानपूर्वपद कर्मधारय, उपमानोत्तरपद कर्मधारय और विशेषणोभयपद कर्मधारय।

व्याकरण का दार्शनिक पक्ष– परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति शब्द ब्रह्म के ज्ञान से सम्भव है, इस विचार का सूत्रपात सर्वप्रथम आचार्य व्याडि कृत संग्रह नामक ग्रन्थ में दिखाई देता है। तदनन्तर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने व्याकरण दर्शन को सर्वोन्नत स्थान प्रदान किया। दर्शन में मुख्यतया धात्वर्थ तिङर्थ, सुबर्थ, लकारार्थ, शब्दशक्ति, समासशक्ति, निपातार्थ, नामार्थ, ध्वनि, स्फोट, शब्दनित्यत्व को वैज्ञानिक तरीके से उपस्थापित किया है। कौण्डभट्टकृत वैयाकरणभूषण, नागेशकृत वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, भरतमिश्रकृत स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थों में दार्शनिक विचार निहित हैं। महर्षि पतंजलि, यास्क, गर्ग आदि प्राचीन वैयाकरणों ने भी अपने ग्रन्थों में दार्शनिक चिन्तन किया है।

4.4 सारांश

व्याकरण के उपरोक्त बिन्दुओं को समझकर आप जान गये होंगे कि व्याकरण शास्त्र कितना व्यापक और गूढ ज्ञान से भरा है। इसी व्याकरण के बल पर हम वैदिक ऋचाओं के कठिन स्वरूप को भी आसानी से समझ जाते हैं। आपने जाना कि व्याकरण की प्राचीन परम्परा कितनी वृहद है, और पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी महान श्रम किया है। पाणिनि व उत्तरकालीन आचार्यों ने निरन्तर परिष्कार कर व्याकरण को प्रामाणिक और आदर्श शास्त्र बनाया, उसी का परिणाम है कि आज संगणकीय युग में भी संस्कृत व्याकरण को संगणक का मूल आधार बनाया जा रहा है। संस्कृत व्याकरण के विविध पक्षों को जानते हुए आपने इसमें समाहित सूत्रों के प्रकार, उपसर्गों का महत्व, वर्णोच्चारण प्रक्रिया की वैज्ञानिकता और समास के महत्व को जाना। साथ ही सन्धियों के सामान्य परिचय और व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थकार और उनकी रचनाओं से परिचय हुआ। व्याकरण केवल भाषा का परिष्कारक ग्रन्थ ही नहीं अपितु परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने में सहायक है, इस पर भी व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को जाना।

4.5 शब्दावली

शब्द अर्थ

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

व्याकरण शास्त्र का इतिहास – पं. युधिष्ठिर मीमांसक
अष्टाध्यायी – महर्षि पाणिनि
बृहद् अनुवाद चन्द्रिका – चक्रधर नौटियाल 'हंस' शास्त्री

व्याकरणमहाभाष्यम्– आचार्य मधुसूदनप्रसाद मिश्र
पाणिनीय शिक्षा – युवराज पब्लिकेशन आगरा
सिद्धान्तकौमुदी – पं. गोपालदत्त पाण्डेय
लघुसिद्धान्तकौमुदी– श्रीमहेशसिंह कुशवाहा

4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1– व्याकरण के पांच ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के नाम लिखिये ?
2– समास पर टिप्पणी लिखिये ?
3 – कर्मधारय समास के लक्षण को बताइये?

खण्ड- तीन (Section-C)
संस्कृत साहित्य

इकाई-1 वैदिक साहित्य का परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 वेद का अर्थ एवं महत्त्व

1.4 वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

1.5 वैदिक संहिता का संक्षिप्त परिचय

 1.5.1 ऋक् संहिता

 1.5.2 यजुः संहिता

 1.5.3 साम संहिता

 1.5.4 अथर्व संहिता

1.6 ब्राह्मण ग्रन्थ

1.7 आरण्यक ग्रन्थ

1.8 उपनिषद् ग्रन्थ

1.9 वेदांगों का परिचय

 1.9.1 शिक्षा

 1.9.2 कल्प

 1.9.3 व्याकरण

 1.9.4 निरुक्त

 1.9.5 ज्योतिष

 1.9.6 छन्द

1.10 सारांश

1.11 पारिभाषिक शब्दावली

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) भाषा एवं साहित्य (Indian Language and Literature) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड तृतीय से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत वैदिक साहित्य का स्वरूप एवं उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में वेद का अर्थ एवं महत्त्व, वैदिक संहिता (ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता, अथर्व संहिताओं) तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय साथ ही वेदांगों के परिचय का अध्ययन करेंगे।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति ही उस समाज का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे राष्ट्र की अपनी संस्कृति है जिसे भारतीय-संस्कृति नाम से अभिहित किया जाता है। हमारी संस्कृति जिस भाषा में निबद्ध है वह भाषा संस्कृत भाषा है। विश्व की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम तथा अन्य भाषाओं की जननी होने का श्रेय इसी संस्कृत भाषा को है। देववाणी, गीर्वाणवाणी, भारती, सरस्वतीवाणी आदि इसी के पर्यायवाची है। भारतीय संस्कृति का निखरा रुप संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इसी भाषा में निबद्ध है। लौकिक सुख और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अपेक्षित सभी विषयों का सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन संस्कृत-वाङ्मय में ही समाहित है। इन विषयों के व्यापक वर्णन एवं चिन्तन ने विश्वमनीषा को अपनी ओर विशेषरुप से आकृष्ट किया है। वैदिक-वाङ्मय (साहित्य) का व्यापक विषय जनसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो, इस उद्देश्य से विभिन्न भागों में वैदिक-वाङ्मय के विषय को वर्गीकृत किया गया है यथा- वेद एवं वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग आदि।

संस्कृत साहित्य नामक तृतीय खण्ड के ‘वैदिक साहित्य’ से परिचय प्राप्त हो उसके साहित्य की सामान्य जानकारी हो, इस उद्देश्य से प्रस्तुत इकाई में वैदिक साहित्य के स्वरुप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- संस्कृत वाङ्मय की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वेद के सामान्य अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वैदिक संहिता एवं वैदिक साहित्य से परिचित हो जायेगे।
- वेदाध्ययन के लिए वेदाङ्गाध्ययन की आवश्यकता की जानकारी प्राप्त कर लेगे।
- वेदांगों की संख्या एवं परिचय की जानकारी प्राप्त कर लेगें,
- वेदाङ्गों के महत्त्व से परिचित हो जायेंगे।
- वैदिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की जानकारी प्राप्त कर लेंगें।
- वेदांग में निबद्ध विचारों से अवगत हो जायेगें
- वेद विषयक अनेक प्रश्नों के उत्तर सरलता पूर्वक दे सकेगें।

1.3 वेद का अर्थ एवं महत्त्व

वेद का अर्थ—

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। आर्यों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म कर्म को भली-भॉति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। जिसके अन्तर्गत वेद का अर्थ, वेद के वाचक शब्द, वैदिक संहिता का एवं वैदिक साहित्य का वर्गीकरण है।

विद् (ज्ञानार्थक) धातु से भाव, कर्म और करण अर्थ में घ´ प्रत्यय के योग से ''वेद'' शब्द की निष्पत्ति हुई है। जिसका अर्थ है ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन। विश्व का प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम वाङ्मय जो भारत में प्रणीत हुआ "वेद'' नाम से ही जाना जाता है। वेदभाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार **'इष्टप्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'** अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपायों को बताने वाला ग्रन्थ वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र ने ''वेद'' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादि पुरुषार्थाः इति वेदाः'** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ जिसके द्वारा जाने जाय या प्राप्त किये जाय ऐसा ग्रन्थ वेद है। वैयाकरण लोग वेद शब्द का निर्वचन भाव अर्थ में (ज्ञान या जानना) नहीं करके करण अर्थ में (ज्ञान का साधन) करके **'विद्यन्ते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'** अर्थात् जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये वही वेद है। अलौकिक विषयों यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। तैत्तिरीय संहिता भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस विषय का ज्ञान नही होता है परोक्ष वह विषय वेद द्वारा ही बोधगम्य होता है।

वेद के वाचक शब्द—

भारतीय परम्परा में 'वेद' शब्द के पर्याय रुप में अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा—

1. श्रुति— वेद का गुरुपरम्परा से सुनकर ही अध्ययन किया जाता था, इसलिए उसे 'श्रुति' कहते हैं— **श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः-** (मनु स्मृति 2.10) वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुतिमूलक ही है।

2. आम्नाय— वेद का यथावत् अभ्यास करने के कारण वेद के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त है, त्रयी का अर्थ है तीन का समूह ऋक्, यजुष् और साम तीन प्रकार के मन्त्रों का समूह वेद है इसलिए वेद को त्रयी भी कहा जाता है।

3. छन्दस्- वेद (ऋक् -यजुष् और सामरुपात्मक) रचनाएॅ नियन्त्रित अर्थ की प्रधानता के कारण छन्दस् कही गयी।

4. स्वाध्याय— अध्ययन का एक मात्र विषय वेद ही है इसलिए वेद को ' स्वाध्याय' भी कहा गया।

5. आगम— महाभाष्यकार पतंजलि ने मन्त्र ब्राह्मणात्मक षडङ्गसहित कहकर वेद के लिए आगम शब्द प्रयुक्त किया है।

6. निगम— यास्काचार्य ने उन मन्त्रों को 'निगम' कहा है जो मन्त्र वेदों से निरुक्त में उद्धृत किये गये हैं इस प्रकार इन नामों का प्रयोग वेद के लिए आज भी होता है।

वेद का काल निर्णय—

वेदों के रचना-काल की पूर्व सीमा का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वेदों केकाल की अन्तिम सीमा की दृष्टि से बुद्ध का काल माना जा सकता है। वेद के रचनाकाल के विषय में प्रचलित प्रमुख मत निम्न हैं-

- बुद्ध को आधार मानकर प्रो0 मैक्समूलर ने वेद के रचना काल को छन्दोकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल एवं सूत्रकाल चार भागों में विभाजित किया है। इन सबका रचनाकाल-1200 ई0 पू0 से लेकर 400 ई0 पू0 के बीच माना है।
- लोकमान्यतिलक ने ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल 6000 से 4000 ई0 पू0 माना है।
- शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ बाह्मण के अनुसार वेदों का रचनाकाल 3500 ई0 पू0 माना है।
- याकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वेद का रचनाकाल 4500 वर्ष ई0 पू0 माना है।
- डॉ0 अविनाश चन्द्रदास ने भूगर्मशास्त्र और भूगोलगत साक्ष्यों के आधार पर ई0 से 2500 वर्ष पूर्व माना जाता है।
- महर्षिदयानन्द सरस्वती ने सृष्टि के आरम्भ के साथ वेदों का भी आविर्भाव माना है।
- विण्टर नित्स ने वैदिक काल 2500 ई0 से 500 ई0 पू0 तक माना है।
- डॉ0 भण्डारकर ने वैदिक रचनाकाल 6000 ई0 पू0 माना है।
- अमलनरेकर ने ऋग्वेद का रचनाकाल 66,000से 75,000 वर्ष पूर्व माना है।

वेद का महत्त्व— साहित्य के रूप में सम्पूर्ण वेद-वाङ्मय महत्त्वपूर्ण हैं, आवश्यकता के अनुसार वेद का साहित्य बढ़ता गया और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य क्रमशः विकसित हुए। प्राचीन काल से लेकर आजतक वेद-वाङ्मय सम्पूर्ण विश्व को विविध उपदेश देता रहा है इसलिए इसके महत्त्व को अंकित करना प्रासंगिक है। भारतीय साहित्य में नास्तिकों ने वेद की निन्दा भले ही की है किन्तु साहित्य और जन-सामान्य का बहुसंख्यक वर्ग उसकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करता रहा है। आस्तिक दर्शन ईश्वर की वाणी के रूप में या अपौरुषेय शब्दराशि के रूप में वेदों को देखते रहे हैं। वेद आगम-प्रमाण है, समस्त ज्ञान के स्रोत हैं, शब्दराशि-रूप वेद से संसार के समस्त अर्थ निर्मित हुए हैं।' कौटिल्य (अर्थशास्त्र 1/2) के अनुसार 'त्रयी विद्या' धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरूपण करती है। वेदों से लोग अपने जीवन-दर्शन को संचालित कर सकते हैं।

वेद भारतीय धर्म के उत्स हैं **(वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, मनुस्मृति 2/6)**। मनु के अनुसार ये वेद सभी ज्ञानों के अक्षय कोश हैं **(सर्वज्ञानमयो हि सः, मनु० 2/7)** जिनका अध्ययन ब्राह्मणमात्र के लिए अनिवार्य कहा गया है **(वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते, मनु० 2/ 116)**। भारतीय धर्म ने वेदों को इतना महत्त्व दिया है कि ईश्वर की निन्दा सह्य है किन्तु वेद की निन्दा नहीं। कई आस्तिक दर्शनों ने ईश्वर को तो स्वीकार नहीं किया है किन्तु वेदों को अपने दैनिक कर्म-कलापों का उपदेश देने के कारण परम-प्रमाण माना है।

सम्पूर्ण वेद वाङ्मय महत्त्वपूर्ण है प्राचीनकाल से लेकर आज तक वेद वाङ्मय सम्पूर्ण-विश्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप से विविध उपदेश देता रहा हैं। वेद आगम प्रमाण हैं समस्त ज्ञान के स्रोत हैं। वेद त्रयी विद्या है जो धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरुपण करती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि धन से परिपूर्ण भूमि दान से जितना फल मिलता है उतना ही फल तीनो वेदों के अध्ययन से मिलता है, वह तो उससे भी बढ़कर अक्षय्य लोक की प्राप्ति कराता है, इसलिए प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद का अध्ययन) करना चाहिए—

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति। भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।(शतपथब्राह्मण 11/5/6/1)

वेद भारतीय-साहित्य के आधार हैं। आर्यों के आचार- व्यवहार का साक्षात्कार वेदोंमेंही प्राप्त होता है। आर्यजाति की प्राचीनतम संस्कृति वेदों में मिलती है। विश्व इतिहास की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व है। वेदों का भाषा शास्त्रीय महत्त्व भी है। प्राचीन इतिहास अपने सभी रुपों में वेदों में उपलब्ध है।निष्कर्षतः धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आर्थिक, भाषाशास्त्रीय, इतिहास, संस्कृति कला आदि सभी तत्त्वों का समावेश वेदों में निहित है। इसलिए वेद का महत्त्व शाश्वत है।

1.4 वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

वैदिक-युग के वाङ्मय को वैदिक-साहित्य भी कहा जाता है। श्री वाचस्पति गैरोला ने मूल संहिताओं को वेद और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों को "वैदिक साहित्य'' के रुप में स्वीकार किया है। श्री वी. वरदाचार्य ने वेदों और उनसे सम्बद्ध सम्पूर्ण साहित्य की गणना "वैदिक-साहित्य'' में ही की है। प्रो0 मैक्समूलर, प्रो0 गौरीशंकर उपाध्याय, श्री सी0 वी0 वैद्य आदि विद्वानों ने वैदिक साहित्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छः भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. संहिताएं
2. ब्राह्मण ग्रन्थ
3. आरण्यक ग्रन्थ
4. उपनिषद् ग्रन्थ
5. वेदाङ्ग
6. अनुक्रमणी-साहित्य

1. संहिताएं— ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद- संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता।

2. ब्राह्मण ग्रन्थ— ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध ब्रह्म से है, इसी कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ये ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं तथा इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से वेदमन्त्रों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक वैदिक-संहिता के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं इनकी संख्या आठ है- ऐतरेय, कौषीतकि (शांखायन), शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य (पच्चविंश) षड्विंश, जैमिनीय एवं गोपथ ब्राह्मण) जिनमें शुक्ल यजुर्वेदीय— 'शतपथ-'ब्राह्मण' का महत्त्व सबसे अधिक हैं।

3. आरण्यक ग्रन्थ— इनमें यज्ञों का वर्णन है, जिनका विधि-विधान बहुत सरल है। वानप्रस्थी और मुनि लोग भी सरलता से उन यज्ञों को सम्पादित कर सकते थे। इनमें यज्ञ आदि विधान के साथ ब्रह्म आदि तत्त्वों का विवेचन भी हुआ है, उपलब्धआरण्यक ग्रन्थों की संख्या भी आठ है,

यथा— ऐतरेयारण्यक, शाङ्खायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन बृहदारण्यक, काण्वबृहदारण्य, जैमिनीयोपनिषद्-आरण्यक (तवल्कार आरण्यक) छान्दोग्य आरण्यक।

4. उपनिषद् - उपनिषद् शब्द उप् और नि उपसर्ग पूर्वक सद्धातु से निष्पन्न हुआ है सद् धातु के तीन अर्थ है विशरण अर्थात् नाश होना, गति अर्थात् प्राप्त करना, अवसादन अर्थात् शिथिल होना, जिसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् के अध्ययन से अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और सांसारिक दुःख शिथिल होते हैं अतः उपनिषद् का मुख्य अभिप्राय ब्रह्मविद्या प्राप्ति है। उप(निकट) और नि (नीचे) उपसर्ग पूर्वक सद् (बैठना) धातु से क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न उपनिषद् का अर्थ है - गुरु के समीप बैठकर रहस्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त करना है। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, आचार्य शंकर ने जिन 10 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है वे ही 10 उपनिषद् प्राचीनतम एवं प्रामाणिक हैं— यथा

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तित्तिरः
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकं दश।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् को मिलाकर उपनिषद् की संख्या 11 मानी गई है।

5. वेदाङ्ग— वेद का मूलपाठ अत्यधिक पवित्र है, उसमें परिवर्तन न हो, उच्चारण शुद्ध बना रहे और वेद मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान हो जाय इसके लिए वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव हुआ है। वेदाङ्ग में प्रायः सूत्र-शैली को अपनाया गया है। इन्हें 'सूत्रसाहित्य' भी कहा गया है। इनकी संख्या छः है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्।

6. अनुक्रमणी साहित्य— वेदों के शुद्ध स्वरुप की रक्षा के लिए ही अनुक्रमणी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। अनुक्रमणीयों में संहिता-विशेष से सम्बन्धित ऋषि, देवता और छन्द आदि की सूचियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। सभी वेदों की अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणी (सूची) बनाने वालों में आचार्य शौनक और आचार्य कात्यायन प्रमुख हैं। अनुक्रमणी ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में रचे गये हैं। कतिपय अनुक्रमणी ग्रन्थोंका नामोल्लेख इस प्रकार है— आर्षानुक्रमणी छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी,सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता आदि। अनुक्रमणी ग्रन्थों में बृहद्देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं।

1.5 वैदिक-संहिता का संक्षिप्त परिचय

वेद के मूलमन्त्रों का समूह संहिता है। वेद की चार संहिताएं ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अर्थवेद संहिताएं हैं। ऋग्वेद संहिता में देवताओं की स्तुति-परक मन्त्रों का संग्रह है, जो पद्यात्मक एवं छन्दोबद्ध है। यजुर्वेद-संहिता यज्ञक्रिया की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऋचाओं के साथ-साथ गद्य भी हैं, सामवेद संहिता साम या गान का सङ्कलन है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का समावेश है जिनका गान सोमयज्ञ के समय अभिप्रेत था। अथर्ववेद संहिता को अथर्वन् और अङ्गिरस वेद भी कहा जाता है। इसमें 20 काण्ड हैं। बहुत से मन्त्र ऋग्वेद संहिता से लिये गये हैं। इसमें रोग दूर करने, पापशुद्धि, शत्रुविनाश तथा मङ्गलकामना व्यक्त करने वाले मन्त्र हैं।

ऋक यजुः सामार्थवाख्यान वेदान पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्र मिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायाश्चितं त्यधात्क्रमात्।।

अर्थात् ऋक् का अर्थ विषय है शस्त्र। जो मंत्र होता द्वारा उच्चरित होता है तथा जिसका गान नहीं किया जाता हैं वह शस्त्र कहलाता है। यजुष का विषय है इज्या अर्थात् यज्ञकर्म। यजुर्वेद से

यज्ञ के शरीर की निष्पत्ति होती है। साम का विषय है-स्तुतिस्तोम- स्तुति के लिए प्रयुज्यमान ऋक समुदाय। अथर्व का प्रतिपाद्य विषय है प्रायश्चित। श्रीधर स्वामी का कहना है कि प्रायश्चित का लक्ष्य ब्राह्मकर्म हैं अन्य ऋात्विजों के कर्म में त्रुटि दिखलाना एवं प्रायश्चित का उपदेश करना ये दोनों ब्रह्मा के कर्म है।

ऋग्वेद का अथर्ववेद का रचना का संबंध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ साक्षात् रूप से भले ही न हो परन्तु अन्य दो संहिताओं सामसंहिता तथा यजुः संहिता का निर्माण यज्ञ-याग के विधानों को लक्ष्य में रखकर किया गया था। यज्ञ कर्म में उपयुक्त चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है।

(1) हौत्र कर्म के सम्पादन का श्रेय होता नामक ऋत्विज्ञ को है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है।

(2) औद्गात्रकर्म का संपादन 'उद्गाता नामक ऋत्विज का विशिष्ट कार्य है जो तत्तत् देवताओं की स्तुति में साम का गायन करता है जिसका परिभाषिक नाम 'स्तोत्र' है उद्गाता का संबंध सामवेद से है।

(3) अध्वर्यु ही यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विज होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए ही यजुर्वेद की संहिताएं भिन्न-भिन्न शाखाएं में संकलित की गई है।

(4) ब्रह्मा नाम ऋत्विज्ञ का कार्य यज्ञ के बाहरी विध्नों से रक्षा स्वरों के सम्भाव्य त्रुटियों का मार्जन तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दोषों के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित का विधान करना है इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष है।

इस प्रकार इन चारों ऋत्विजों के विशिष्ट कर्मों के लिए आवश्यक मंत्रों का संकल्पन चार 'वैदिक संहिता' के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इस सिद्धांत की सूचना सम्यक रूप में उपस्थित की गई हैः।

ऋ॒चां त्व॒ः पोष॑मास्ते पुपु॒ष्वान्
गाय॒त्रं त्वो॑ गायति॒ शक्व॑रीषु ।
ब्र॒ह्मा त्वो॒ वद॑ति जातवि॒द्यां
य॒ज्ञस्य॒ मात्रा॒ं वि मि॑मीत उ त्वः ॥

यज्ञ अनुष्ठानों का ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये इन मंत्र संहिताओं का संकलन किया है। अर्थात् मन्त्रों के समूह को संहिता कहते है। ये मंत्र संहिताएं चार हैः। (1) ऋक् संहिता (2) यजु संहिता (3) सामसंहिता (4) अथर्व संहिता

1.5.1 ऋग्वेद संहिता—

वेद चतुष्टय में ऋग्वेद का गौरव सबसे अधिक माना जाता है। पाश्चात् दृष्टि से ऋग्वेद भाषा तथा भाव के विचार से अन्य वेदों से नितान्त प्राचीन है। अतएव विशेष उपयोगी माना जाता है। भारतीय दृष्टि से भी ऋग्वेद का अक्यर्हित्वपूजनीयता-सर्वत्र स्वीकार की गयी है। तैतिरीय संहिता के अनुसार साम तथा यजु के द्वारा जो विधान किया जाता है। वह शिथिल होता है। परन्तु ऋक द्वारा विहित अनुष्ठान हि दृष्ट होता है। ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते है।

(1) अष्टक क्रम— समग्र ग्रंथ आठ अकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अश्टक में 8 अध्याय होते है। इस प्रकार पूरा ऋग्वेद 64 अध्यायों का ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय के अवान्तर

विभाग का नाम वर्ग है जो अध्ययन के सौकर्य के लिये किया गया है। औसतन प्रत्येक वर्ग में पांच मंत्र है समस्त वर्गों की संख्या 2006 है।

(2) मंडल क्रम— ऋग्वेद 10 मंडलों में विभक्त है। इसी कारण ऋग्वेद दशतयी के नाम से निरूक्तादि ग्रंथों में प्रसिद्ध है। प्रत्येक मंडल में अनेक अनुवाक, अनुवाक के भीतर सूक्त के अंतर्गत मंत्र या ऋचाएं है। ऋग्वेद के दसों मंडलानुसार क्रमषः व्यवस्था यों है- 91+43+62+58+87+75+104+104+92+114+191। इन सूक्तों के अतिरिक्त 11 बालख्ल्यि के नाम से विख्यात है। ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की ऋचाओं की संख्या हैः 105801/4 अर्थात् प्रत्येक सूक्त 10 मन्त्रों का औसत है। ऋचाओं के शब्दों की संख्या 1 लाख 53 हजार, 8 सौ 26 तथा शब्दों के अक्षरों की संख्या चार लाख बत्तीस हजार है। अर्थात् मोटे तौर पर प्रत्येक मंत्र में पन्द्रह शब्द है और प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर पाये जाते हैं। यह गणना सर्वानुक्रमणी के आधार पर है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद के मंडलों में प्राचीन तथा आर्वाचीन मंत्रों का समुदाय संग्रहित किया गया है द्वितीय मंडल से लेकर सप्तम मंडल तक का भाग ऋग्वेद का केंद्रीय अतएव अत्यंत प्राचीन अंश हैं। इसमें प्रत्येक मंडल का संबंध किसी विषिश्ट ऋशि या उनके वंशजों के साथ निष्चत रूप से उपलब्ध होता है। वंश विषेश के संबंध के कारण इन मंडलों के अंग्रेजी में 'फेमिली बुक' कहने की चाल है।

ऋग्वेद शाखाएँ— महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखाएं 21 है। जिनमें चरणव्यु के कथनानुसार मुख्य ये 5 शाखाएं है।

(1) शाकल शाखा— ऋग्वेद में आजकल प्रचलित संहिता शाखा-शाकल की है। शाकल शाखा अनुसार ऋग्वेद का अंतिम मंत्र हैः**- समानीव आकूतिः** (10।191।14) । इसमें 1017 सूक्त है।

(2) बाष्कल शाखा— बाश्कल शाखानुसार ऋग्वेद का अंतिम ऋचा ''तच्छयोश वृर्णामहे'' है। यह ऋचा ऋक्परिशिष्ट के अंतिम सूक्त का अंतिम मंत्र है। बाश्कल शाखा में 1025 सूक्त है। इन अधिक आठ सूक्तों में एक सज्ञान सूक्त है जो इस संहिता में अन्त में है।

(3) आश्वलायन— आश्वलायनों की संहिता तथा ब्राह्मणों का अस्तित्व इस समय नहीं है परन्तु कबीन्द्राचार्य (16 शताब्दी) की सूची में इन ग्रंथों का नामोल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। आज इसके अलावा गृह्य एवं श्रोत सूत्र ही उपलब्ध है।

(4) शांखायन— इसकी संहिता तो नहीं परन्तु ब्राह्मण सम्मति है शांखायन और कौषीतकि शाखा एक है परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न प्रतीत होते है। दोनों संहिताओं में मंत्र वहीं है उनमें न्यानाधिकता नहीं है। केवल मंत्र क्रम में भेद है।

(5) माण्डूकायन— इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहिले उपलब्ध होती थी आजकल कुछ भी उपलब्ध नहीं है।

1.5.2 यजुर्वेद संहिता—

'अनियताक्षरावसानों यजुः' आर्थात अक्षरों की संख्या जिनमें नियत न हो वही यजुः गत्यात्माको यजुः तथा शेषे यजुःशब्दः का तात्पर्य यही है कि ऋक तथा साम से भिन्न गत्यात्मक मंत्रों को अभिधान ही यजु है। यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय है। (1) ब्रह्म सम्प्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय शतपथ ब्राम्हण के अनुसार आदित्य यजुः शुक्ल-यजुष के नाम से प्रसिद्ध है तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है तथा ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद के कृष्णत्व और शुक्लत्व उसके स्वरूप के आधार पर है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्पणौर्यमासदि

अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मंत्रों का संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ तन्नियोजित ब्राह्मणों का मिश्रण है।

कृष्ण यजुर्वेदः—

चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की 85 शाखाएं है जिनमें आज केवल 4 शाखाएं तथा तत्सबंधी पुस्तकें उपलब्ध होती है। (1) तैत्तीरीय (2) मैत्रायणी (3) कठ (4) कपिष्ठलकल

तैत्तीरीय शाखा— तैत्तीरीय शाखाः का प्रसार देश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड़ देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र वैदिक ग्रंथों-संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैषिष्टय स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् श्रौतासूत्र तथा गुह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्य बनाये रखा है। पुरी संहिता में काण्ड, तदन्तर्गत पदप्रपाठक तथा 631 अनुवादक है।

मैत्रायणीय शाखा— कृष्ण यजुर्वेद की यह शाखा यजुर्वेदीय संहिताओं के समान यहां भी मंत्र तथा ब्राह्मणों का समिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड है। समग्र संहिता में शपथ मंत्र है जिनमें 2144 ऋचायें ऋग्वेद से उधृत है जो ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मंडलों में पाये जाते है।

कपिष्ठल कठ शाखा— चरणव्युह के अनुसार चरक शाखा के अंतर्गत कठाः प्राच्यकठाः तथा कपिष्ठलकठाः का उल्लेख मिलता है। जिससे इनके शाखा संबंध का पुरा परिचय मिलता है।

इस संहिता की कए अधुरी प्रति संपूर्णानन्द संस्कृत विष्वविद्यालय के 'सरस्वती भवन' में उपलब्ध हैं। यही से इसकी प्रतिलिपि यूरोप के वैदिक विद्वानों के अनुसाशीलन के लिए भेजी गयी थी। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इसमे निम्नलिखित अष्टक तथा तदनन्तर अध्याय उपलब्ध है।

प्रथम अष्टक — पूर्ण, आठों अध्याय के साथ

द्वितीय अष्टक — त्रुटित-9 से लेकर 24 अध्याय तक

तृतीय अष्टक — त्रुटित विल्कुल त्रुटित

चतुर्थ अध्याय— 32 वें अध्याय को छोड़कर समस्त अघ्याय उपलब्ध है।

पंचम अध्याय— आदिम अध्याय को छोड़कर सातों अध्याय उपलब्ध

पष्ठ अध्याय — 43 अनुपलब्ध, अन्य सभी उपलब्ध

कठ शाखा— कठशाखा में पंच खण्ड है जो क्रमशः इठिमिका, माध्यमि, ओरिमिका याक्रजानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध है। इन खण्डों के टुकड़ों का नाम 'स्थानक' है। इस शाखा में स्थानक की संख्या-40, अनुवाचनों की- 13, अनुवाकों की 843, मंत्रों 3091 तथा मंत्र ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है।

शुक्ल यजुर्वेद—

काण्व संहिता— काण्व संहिता का प्रचार आज कल महाराष्ट प्रांत में है और माध्यन्दिन शाखा उत्तर भारत में परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तरभारत ही था। क्योंकि एक मंत्र में कुरू तथा पंचाल देशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है। महाभारत के आदिपर्व के अनुसार शकुन्तला को पौष्य पुत्री के नाम से विख्यात एक नदी है अतः काण्वों को प्राचीन संबंध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विपचत्ति नहीं दृष्टिगत होती है। काण्व संहिता का एक सुंदर संस्करण मद्रास के अंतर्गत किसी 'आनन्दवन नगर' तथा औघ से प्रकाशित हुआ है। जिसमें अध्यायों की संख्या 40, अनुवादकों की 328 तथा मंत्रों की 2086 है।

अर्थात माध्यदिन संहिता के मंत्रो (1974) से यहां 111 मंत्रों अधिक है काण्व शाखा का संबंध पांचराम आगम के साथ विषेशज्ञ रूप से पांचरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है।

1.5.3 सामवेद संहिता—

वैदिक संहिताओं में साम का महत्व नितान्त गौरवमय माना जाता है। वृहद्देवता का कहना है कि जो पुरूश साम को जानता है वहीं वेद के रहस्य को जनता हैः- **सामानि यो वेति स वेदतत्वम्।** गीता में श्री कृष्ण ने सामवेद को अपना स्वरूप बताया है**। वेदानां सामवेदोऽस्मि''** सामवेद के दो प्रधान भाग होते है- आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शब्दिक अर्थ है ऋक-समूह। जिसके दो भाग है पूर्वार्चिक तथा अर्वार्चिक प्रर्वाचिक में 6 प्रपाठ या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठ के दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक खण्ड एक दशति और हर एक दशति में ऋचाएं है। पूर्वाचिक मे कुल मंत्र 650 है। अर्वार्चिक में 9 प्रपाठ है। पहले प्रपाठ के दो-दो भाग में जो प्रपाठकार्ध कहे जाते है, परन्तु इनमें से अंतिम चार प्रपठकों में तीन-तीन अर्ध हैं यह राणायनीय शाखानुसार है। अर्वार्चिक में समग्र मंत्रों की संख्या 1225 है।

सामवेद की शाखाएँ—

पुराणोपलब्ध साम प्रचार के आधार पर सामवेद की सहस्त्र शाखाएं बतायी जाती है जिसकी पुष्टि पतञ्जलि ने 'सहस्त्रवमत्र्मा सामवेद वाक्य कह कर की है। आजकल प्रपंच हृदय,दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनी गृह्यसूत्र के पर्यालोचन से 13 शाखांए, जिनका वर्णन सामतर्पण के अवसर पर प्राप्त होता है इस प्रकार है। 'राणायन -सात्यमुगि -व्यास -र्भागुरी -औलुण्डि -भानु-मानोपमन्वय -काराटि -मशक-गार्ग्य-बार्षगण्यकौथुमि- शालिहोत्र, जैमिनि -त्रयोदषैते ये सामगाचार्याः स्वाति कुर्वन्तु तर्पिताः।' इन तेरह आचार्यों में से केवल तीन ही आचार्यों की शाखाएं मिलती है।

(1) कौथुमीय

(2) राणायनीय

(3) जैमिनीय

(1) कौथुमीय शाखा— इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है, इसी की ताण्ड्य नामक शाखा भी मिलती है। जिसका किसी समय विषेश प्रभाव तथा प्रसार था। सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् इसी शाखा से संबंधित है।

(2) राणायनीय शाखा— इसकी संहिता कौथुमों से भिन्न नहीं है। दोनो मंत्र गणना की दृष्टि से एक ही है। केवल उच्चारणय में पार्थक्य है कौथुमीय लोग जहां: हाबु तथा 'रायी' उच्चारण करते है। राणायनीयों की एक अवांनतर शाखा सात्यमुग्रि है जिसकी उच्चारण त्रुटि आलोचनीय है। ये गण एकार ओकार का ह्स्व उच्चारण करते थे।

(3) जैमिनीय शाखा— इस शाखा के समग्र अंश संहिता ब्राम्हण श्रौत तथा गृह्यसूत्र के उपलब्ध है। इसके मंत्रों की संख्या 1686 है अर्थात् कौथुमीय शाखा 182 मंत्र कम है। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मंत्र है जो कौथुमीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैमिनीयों के समागम कौथुनों से लगभग एक हजार अधिक हैं। कौथुमगान 2722 है परन्तु इनके स्थान पर जैमिनीयों के गान 3681 हैं।

1.5.4 अर्थवेद संहिताएं—

वेदों में अन्यतम् अर्थववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवालित है। ऋग्वेद आदि द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि परलोक सम्बधी विषयों का प्रतिपादन है परन्तु अथर्ववेद ऐहिक फल

देने वाला भी है। इस जीवन को सुखमय तथा दुःखरहित बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है। उनकी सिद्धी के लिए नाना अनुष्ठानों का विधान इस वेद में किया गया है। इसमें 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 मंत्र है। अथर्ववेद के स्वरूप की मिमासा से पता चलता है कि यह दो धाराओं के म़िश्रण का परिणत फल है इनमे से एक अथर्वधारा और दूसरी अश्रिधारा अथर्व धारा दृष्ट मन्त्र शांति पुष्टि कर्म से संबंध है। इसका संकेत भागवत में अथर्वणेऽदात् शाति यया यज्ञो वितन्यते के रूप में उपलब्ध होता है। अश्रिधारा अभिचारिक कर्म से संबंध रखती है। और यह इस वेद के जन सामान्य में प्रिय होने का संकेत है।

अथर्वसंहिता की शाखाएं— पतंजलि ने पस्पशाह्निक में नवधाऽऽथर्वणों वेदः लिखकर इस वेद की 9 शाखाओं को उल्लेख किया है जो इस प्रकार है (1) पिप्पलाद (2) स्तौद (3) मौढ (4) शौनकीय (5) जाजल (6) जलद (7) ब्रह्मवद (8) देवदर्श (9) चारण वैध इन शाखाओं मे पिप्पलाद तथा षौनक के अनुसार कतिपय ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं का नाम मात्र शेष है।

(1) पिप्पलाद शाखा— प्रपचंहृदय का कथन है कि पिप्पलाद शाखा की मंत्र संहिता 20 काण्ड वाली है। तथा इसके ब्राह्मण में आठ अध्याय विद्यमान है। पिप्पलाद शाखा की एक मात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुई जिसे कश्मीर-नरेश ने जर्मन विद्वान डा. राथ को 1885 में उपहार में भेज दी। उसी की प्रति 1901 में अमेरिकी से फोटो मात्र तीन बड़ी-बडी जिल्दों में छपा था।

(2) मौढ शाखा— महाभाष्य तथा शावर भाष्य में इसका उल्लेख मिलता है। अथर्व परिषिष्ट ने मौढ तथा जलद शाखा वाले पुरोहित के रखने से राश्ट्र ने नाश की आशंका प्रकट की है, जिससे इन शाखाओं के कम से कम अस्तित्व या प्रचलन का पता चलता है।

पुरोधा जलदो यस्यमौदो वा स्यात् कदाचन।
अब्दाद दशभ्यो मासेभ्यो राश्ट्रभ्रशंस गच्छति।।

शौनक शाखाः— आजकज प्रचलित संहिता तथा गोपथ- ब्राह्मण इसी शाखा के है। तौद, जाजल, ब्रह्मवद, देवदर्श, नाम मात्र प्रसिद्ध है। अथर्ववेद की अंतिम शाखा चारण वैद्यों के विषय में कौशिक सूत्र की व्याख्या तथा अथर्व परिषिष्टि से कुछ पता चलता है। वायुपुराण से ज्ञात होता है कि इस शाखा की संहिता में छः हजार छब्बीस मंत्र थे परन्तु यह संहिता अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

अथर्ववेद की त्रिविध परम्परा—

अथर्ववेद को छोड़कर अन्य तीन वेदों की केवल एक ही संहिता पायी जाती है। जो मुद्रित और प्रकाशित है। परन्तु अथर्व वेद की तीन संहिताओं का पता चलता है। अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र केदारिल भाष्य में इन त्रिविध संहिताओं के नाम तथा स्वरूप का परिचय दिया गया है। इन संहिताओं के नाम है। (1) आर्षी संहिता (2) आचार्य संहिता (3) विधि प्रयोग संहिता।

इन संहिताओं में ऋषियों के द्वारा परमपरागत प्राप्त मंत्रों के संकलन होने से इसे ऋषि संहिता कहा जाता है। अथर्ववेद का आजकल जो विभाजन काण्ड, सूक्त तथा मंत्र रूप में प्रकाशित हुआ है इसी जिसका विवरण दारिल भाष्य में इस प्रकार पाया जाता है। 'येन उपनीय शिष्यं पाठयति सा आचार्य संहिता'। अर्थात् उपनयन संस्कार करने के पश्चात् गुरू जिस प्रकार से शिष्य को वेद का अध्यापन करता है वही आचार्य संहिता है। विधि प्रयोग संहिता वह जिस के

मंत्रों के किसी विशिष्ट विधि के अनुष्ठान के लिए किये जाते है। इस अनुष्ठान के अवसर पर एक ही मंत्र के विभिन्न पदों के विभक्त करके नये-नये मंत्र किए जाते है। यथा-

ऋतुभ्यष्टवाऽऽर्तवेभ्यो, मादभ्यों संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधायै समृधे भूतस्य पतये यजे।।

अब इस मंत्र को विभक्त करके आठ मंत्र अनुष्ठान के लिए तैयार किए जाते है। जैसे-

(1) ऋतुभ्य त्वा यजे स्वाहा।
(2) आर्तवेभ्य वेभ्यः त्वा यजे स्वाहा।
(3) मादभ्यः त्वा यजे स्वाहा।
(4) संवत्सरेभ्य त्वा यजे स्वाहा।

विधि प्रयोग का यह पहिला प्रकार है इसी भाती से इसके चार प्रकार और होते है। इनमें शब्दों को जोड़कर आवर्तन द्विगुणित कर क्रम परिवर्तन कर तथा संपूर्ण मंत्र के अर्थ भाग को पूर्ण मानकर प्रयोग किया जाता है।

1.6 ब्राह्मण ग्रन्थ

'ब्राह्मण' शब्द का मोटे तौर पर अर्थ है 'पवित्र ज्ञान या सिद्धांत की व्याख्या।' माना जाता है कि यह शब्द 'ब्राह्मण' से लिया गया है, जिसका अर्थ है ब्राह्मण पुजारी जिनके पास वेदों का ज्ञान और समझ है। इसका अर्थ है पुजारियों द्वारा सीखे गए अनुष्ठान की व्याख्या। 'ब्राह्मण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इसके विषय का निरूपण करता है कि मन्त्र-भाग तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं का प्रतिपादन इन ग्रन्थों में हुआ है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में ही ब्राह्मणगत विषयवस्तु का निरूपण आरम्भ हो चुका था क्योंकि वहाँ मन्त्र के साथ विनियोग का निरूपण किया गया है। ब्राह्मणों की विषय-वस्तु के निरूपण के प्रसंग में दस प्रकारों की चर्चा शबरस्वामी ने की है-

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्यो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।। (मीमांसासूत्रभाष्य 2/1/33)

तदनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों में हेतु-विचार, निर्वचन (शब्दों में निहित क्रिया के आधार पर अर्थ-प्रकाशन), निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि (कर्म की प्रेरणा देने वाले वाक्य), परक्रिया (एक व्यक्ति की कथा), पुराकल्प (प्राचीन कथाएँ), व्यवधारण (सन्देह की स्थिति में समुचित निर्णय लेना) तथा उपमान (समान दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्ट करना) ये ही दस बातें पायी जाती हैं। इनमें निन्दा और प्रशंसा का समावेश 'अर्थवाद' (स्तुतिनिन्दापरं वाक्यमर्थवादः) में हो जाता है। परक्रिया और पुराकल्प वस्तुतः आख्यान-रूप हैं जिसमें प्राचीन कथाओं को प्रकाशित किया जाता है। ये आख्यान किसी कर्म के विधान या निन्दा के क्रम में दिये गये हैं। आज जो ब्राह्मण उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं-

ऋग्वेद—

1. ऐतरेयब्राह्मण— (शैशिरीयशाकलशाखा) 600-400 ईसा पूर्व के आसपास दर्ज, इसमें आठ पुस्तकें, पंचिकाएँ हैं, जिनमें से प्रत्येक में पाँच अध्याय हैं। यह ऋग्वेद की शाकल शाखा के ऋषि महिदास ऐतरेय और शाही उद्घाटन के समारोहों से संबंधित है।

2. कौषीतकि— (या शांखायन) ब्राह्मण (बाष्कल शाखा) यह ऋग्वेद की वटकल या बाष्कल शाखाओं में से एक है और इसमें तीस अध्याय हैं जिनमें भोजन और पेय (सोम) बलिदान और देवताओं की कथा पर चर्चा की गई है।

यजुर्वेद—

शुक्ल यजुर्वेद—

1. शतपथब्राह्मण— (माध्यन्दिनीय वाजसनेयि शाखा)

2. शतपथब्राह्मण-(काण्व वाजसनेयि शाखा)

कृष्णयजुर्वेद—

1. तैत्तिरीयब्राह्मण— तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद से जुड़ा है। इनमें ज्यामिति का ज्ञान और खगोलीय घटनाओं का विवरण है। सरस्वती नदी के सूखने का रिकॉर्ड भी इनमें मिलता है। इसमें भगवान विष्णु के अवतारों की सूची और पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति के बारे में जानकारी भी है।

2. मैत्रायणीब्राह्मण

3. कठब्राह्मण

4. कपिष्ठलब्राह्मण

सामवेद—

1. प्रौढ (पंचविंश) ब्राह्मण— यह 25 प्रपाठकों से युक्त सबसे पुराने और सबसे महत्वपूर्ण ब्राह्मणों में से एक है। इसमें व्रात्यस्तोमा और अन्य जैसी कई पुरानी किंवदंतियों के बारे में विवरण है।

2. षडविंश ब्राह्मण— इसमें 5 अध्याय हैं। इस ब्राह्मण की पाठ्य सामग्री पंचविंशा का पूरक है और इसमें चमत्कारों और शकुनों के बारे में अतिरिक्त जानकारी है।

3. आर्षेय ब्राह्मण

4. मन्त्र (या छान्दिग्य) ब्राह्मण

5. जैमिनीय (या तावलकर) ब्राह्मण इसमें यज्ञ की दैनिक आहुति का वर्णन है। हालाँकि, इसका पूर्ण अनुवाद उपलब्ध नहीं है।

अथर्ववेद —

1. गोपथब्राह्मण (पिप्पलाद शाखा)— गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद से ही जुड़ा हुआ है। इसे दो भागों में विभाजित किया गया है: पूर्व-ब्राह्मण और उत्तर-ब्राह्मण। पूर्व के अध्याय अथर्वण और उसके पुरोहित की महिमा करते हैं। गोपथ का एक भाग ब्राह्मण पुरोहित के कार्यों पर जोर देता है जो बलिदान की देखरेख करते हैं।

1.7 आरण्यक ग्रन्थ

आरण्यक प्राचीन ग्रंथ हैं जो ब्राह्मणों और बाद में विकसित उपनिषदों के बीच संबंध जोड़ते हैं। वे दार्शनिक अटकलों के साथ ब्राह्मणों के अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन करते हैं। वे संबंधित ब्राह्मण के परिशिष्ट के रूप में कार्य करते हैं। उनमें गुप्त अनुष्ठान भी शामिल हैं जिनका वर्णन ब्राह्मणों में नहीं किया गया है। यह कर्म-कांड और ज्ञान-कांड के बीच एक सेतु का काम करता है। आरण्यकों में महत्वपूर्ण भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बिंदु भी

सूचीबद्ध हैं। चारों वेदों में से प्रत्येक के साथ आरण्यक जुड़े हुए हैं, सिवाय अथर्ववेद के, जिसका कोई भी आरण्यक मौजूद नहीं है।

"आरण्यक" (आरण्यक) का शाब्दिक अर्थ है "उत्पादित, जन्मा, जंगल से संबंधित" या बल्कि, "जंगल से संबंधित"। यह अरण्य (अरण्य) शब्द से लिया गया है , जिसका अर्थ है "जंगल"। आरण्यक में यज्ञ से जुड़े कर्मकांडों की दार्शनिक व प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध हैं, इसलिए बौधायन धर्मसूत्र में, आरण्यकों को भी 'ब्राह्मण' आख्या से संयुक्त किया गया है– **"विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकात् समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मण्"**

आरण्यक ग्रन्थों का विभाजन—

ऋग्वेद—

1. ऐतरेय आरण्यक

ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद की ऐतरेय शाखा से संबंधित है

2. कौषीतकि आरण्यक या शांखायन आरण्यक

कौशीतकी आरण्यक ऋग्वेद की कौशीतकी और शांखायन शाखाओं से संबंधित है

यजुर्वेद—

शुक्ल यजुर्वेद—

1. वृहदारण्यक

माध्यंदिना में बृहद आरण्यक और शुक्ल यजुर्वेद के कण्व संस्करण। माध्यंदिना संस्करण में 9 खंड हैं, जिनमें से अंतिम 6 बृहदारण्यक उपनिषद हैं।

कृष्ण यजुर्वेद—

1. तैत्तिरीय आरण्यक

तैत्तिरीय आरण्यक कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबंधित है

2. मैत्रायणी आरण्यक

मैत्रायणीय आरण्यक कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से संबंधित है

सामवेद—

1. तावलकर (या जैमिनीयोपनिषद्) आरण्यक

तलवकार आरण्यक या जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण सामवेद के तलवकार या जैमिनीय शाखा से संबंधित है। इस पाठ का एक भाग केना उपनिषद का है।

2. छान्दोग्य आरण्यक

अथर्ववेद— (कोई उपलब्ध नहीं) यद्यपि अथर्ववेद का पृथक् से कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता है, तथापि उसके गोपथ ब्राह्मण में आरण्यकों के अनुरूप बहुत सी सामग्री मिलती है।

1.8 उपनिषद् ग्रन्थ

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से ''उपनिषद'' शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग लगाकर 'सद्लृ' धातु के योग से बनाया गया है। यहाँ पर यह बताना उचित है कि ''सद्लृ' धातु का प्रयोग मुख्य रूप से तीन अर्थों में किया जाता है - विशरण अर्थात् नाश होना। जिससे संसार की बीज भूत अविद्या या अज्ञान का नाश होता है। गति अर्थात् प्राप्त करना या जानना। जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या ब्रह्म का ज्ञान होता है। अवसादन अर्थात् शिथिल होना। जिससे मानव मात्र

के दुःख शिथिल होते हैं। इसका साधारण अर्थ है- 'समीप उपवेशन' या 'समीप बैठना' (ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए शिष्य का गुरु के पास बैठना)। इसके अध्ययन से ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा प्राणी मात्र के सांसारिक दुःखों से निवृत्ति होती है। सम्भवतः इन्हीं तीनों अर्थों को लेकर शंकराचार्य ने इसे ब्रह्म विद्या का द्योतक माना है।

'उपनिषद' शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी की जाती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'उप' और 'नि' उपसर्ग लगाकर 'सद्' (बैठना) धातु के क्विप प्रत्यय के योग से 'उपनिषद्' शब्द बनता है। इस प्रकार 'उपनिषद' का अभिप्राय है- गुरु के समीप बैठना और गुरु के समीप बैठने से अभिप्राय गुरु के समीप बैठकर रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त करना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषद् वे ग्रन्थ हैं, जिनमें उस विद्या का कथन किया गया है, जो ब्रह्म से सम्बन्ध रखती है तथा जिसे प्राप्त करने के लिए शिष्य का गुरु के अति समीप रहना परमावश्यक है। इस दृष्टि से 'उपनिषद' तथा 'रहस्य' ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं।

'उपनिषद' शब्द का शाब्दिक तथा तान्त्रिक व्याख्या करने के उपरान्त इसके कालानुक्रम की चर्चा कर लेना उचित होगा। सामान्यतया उपनिषदों को दो अलग-अलग श्रेणी में बाँट देना आवश्यक है - प्राचीन विभाग में तेरह उपनिषदों की गणना की जाती है, जबकि नव्य विभागानुसार बचे हुए उपनिषदों की प्रमाणिकता विद्वानों के विश्लेषण का विषय है। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने अपनी पुस्तक ''उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'', जिसका हिन्दी अनुवाद श्री रामानन्द तिवारी जी ने किया है, लिखा है - ''हाल ही में डॉ0 श्रेडर द्वारा अन्वेषित चार उपनिषद - बाष्कल, छागलेय, आर्षेय और शौनक प्रस्तुत ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं रखती, क्योंकि उनकी प्रमाणिकता अभी सर्वसम्मत सिद्ध नहीं हो सकी है।'' इस प्रकार इस मतानुसार इन्हें प्राचीन उपनिषदों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

वेदों की प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा की दृष्टि से उपनिषदों की भी संख्या बहुत होनी चाहिये। 'मुक्तिकोपनिषद' में यद्यपि उपनिषदों की संख्या 108 मानी गई है, फिर भी अधोलिखित वेदों से सम्बन्धित मुख्य रूप से तेरह (13) उपनिषद ही प्राप्त होते हैं, जो उपनिषदों में प्रमुख हैं—

ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

1. ऐतरेय 2. कौषीतकी

कृष्णयजुर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

1. तैत्तिरीय 2. कठ 3.श्वेताश्वतर 4.मैत्री

शुक्लयजुर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

1. वृहदारण्यक 2.ईशावास्येपनिषद।

सामवेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

1. छान्दोग्य 2. केन

अथर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

1. मुण्डक 2.माण्डूक्य 3.प्रश्न

यद्यपि कुछ विद्वानों के अनुसार आचार्य शंकर द्वारा लिखित भाषा से सम्बन्ध रखने वाले 10 उपनिषद निम्न हैं -

''ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च वृहदारण्यकं दशः।।''- मुक्तिकोपनिषद।।

आचार्य शंकर ने अपने 'ब्रह्म सूत्र' में उपर्युक्त इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त ''कौषीतकी, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी तथा महानारायणी इन चार उपनिषदों का भी वर्णन किया है, जो प्रमाणिक माने जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन एवं प्रमाणिक उपनिषदों की संख्या चौदह (14) हो जाती है।

वहीं अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय साहित्य' में प्रोफेसर विण्टरनिट्ज ने उपरिवर्णित 14 उपनिषदों में 'मुण्डकोपनिषद' का विर्णन नहीं किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार 13 ही उपनिषद मुख्य रूप से स्वीकार करने योग्य हैं। परन्तु डॉ0 हरिदत्त शास्त्री, श्री वाचस्पति गैरोला तथा डॉ0 रसिक बिहारी जोशी आदि विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थें में 'मुण्डकोपनिषद' को उपनिषदों में सर्वप्राचीन माना है।

साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि उपर्युक्त उपनिषदों का कालानुक्रम ठीक वैसा नहीं है जिस क्रम में उल्लेख किया गया है। यहाँ पर पाठ्यक्रम की सारगर्भिता को ध्यान में रखते हुए उपनिषदों के कालानुक्रम की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है -

सामान्यतया विद्वानों ने 'उपनिषद काल' को ईसा पूर्व 12 वीं शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय प्रायः स्वीकार किया है। इस प्रकार उपनिषद साहित्य का समयानुक्रम विभाजन इन्हीं दो निश्चित सीमाओं के बीच आवश्यक हो जाता है। इस मत के समर्थक प्रो0 रानाडे आदि विद्वान हैं, परन्तु कुछ अन्य विद्वान रचनाकाल के क्रम से उपनिषदों को निम्न प्रकार से रखा है -

प्रथम रचना काल (700 ई0पू0) - 700 ई0पू0 में लिखित उपनिषदों में सर्वप्रथम ईशावाश्योपनिषद, छान्दोग्योपनिषद तथा वृहदारण्यकोपनिषद की गणना की जाती है।

द्वितीय रचनाकाल (600 ई0पू0) - 600 ई0पू0 में लिखित उपनिषदों में दो उपनिषद ऐतरेय तथा तैत्तिरीय उपनिषदें आती हैं।

तृतीय रचना काल (500 ई0पू0 से 400 ई0पू0) - इन कालों के बीच लिखित उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद, केनोपनिषद, कठोपनिषद, मुण्डकोपनिषद तथा माण्डूक्योपनिषद ये पाँच उपनिषदें आती हैं।

चतुर्थ रचनाकाल (200 ई0पू0 से 100 ई0पू0) - इन कालों के बीच लिखित उपनिषदों में कौषीतकी, मैत्रायणी, श्वेताश्वतर तथा महानारायणी उपनिषद आती हैं।

उपर्युक्त कालक्रम में लिखित उपनिषदों में बुद्ध, बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। अतएव इससे यह स्पष्ट हो ही जाता है कि भगवना बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व इनकी निचली सीमा है। इस प्रकार छठी शताब्दी ईशा पूर्व से पहले इन उपनिषदों की रचना हो चुकी थी।

1.9 वेदाङ्गों का परिचय

वेद के अंग वेदांग हैं। अङ्ग उन्हेंकहते हैं जो वस्तु के स्वरुप को जानने में सहायक होते हैं- अङ्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से वेद दुर्बोध हैं अतः वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें 'वेदाङ्ग नाम से अभिहित किया जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष् एवं छन्द ये छः वेदाध्ययन के उपयोगी शास्त्र हैं इसलिए इन्हें वेदाङ्ग

कहा गया है।

1.9.1 शिक्षा—

षड्विधवेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुष के अङ्गों से तुलना करते हुए शिक्षा वेदाङ्ग को वेदरुपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) कहा गया है ’शिक्षा’ घ्राणं तु वेदस्य’ (पाणिनीय शिक्षा)। वेदोंके भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ ’ऋग्वेद भाष्यभूमिका’ में शिक्षा का अर्थ स्पष्ट किया है- स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा’ अर्थात् जो विद्या स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे वह शिक्षा नाम का वेदाङ्ग है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा को और भी अधिक स्पष्ट किया है ’शिक्षा’ व्याख्यास्यामः - वर्णः, स्वरः मात्रा, बलम् साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः (1/1) इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा’ वेदाङ्ग उच्चारण सम्बन्धी इन छः विषयों-वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का बोध कराती है।

1.9.2 कल्प—

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प का दूसरा स्थान है। वेदरुपी पुरुष का हाथ कल्प है -**हस्तौ कल्पौऽथ पठ्यते** (पाणिनीय शिक्षा) वेद विहित कर्मो को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्पशास्त्र’ है- **कल्पो वेदाविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्** (विष्णुमित्र ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृति पृ0 13) यागविधान के नियमों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रुप में व्यवहारिक उपयोग के लिए कल्पसूत्रों का निर्माण वेद की प्रत्येक शाखा के लिए किया गया है। कल्पसूत्र के भेद-कल्पसूत्रों के चार प्रकार हैं-

1.श्रौतसूत्र— इनमें ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञादि अनुष्ठानों का वर्णन है। आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बोधायन, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, वाराह ,खादिर, बैतान आदि अनेक श्रौतसूत्र हैं।

2.गृह्यसूत्र— इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों का, उपनयनादि संस्कारों का विस्तार से वर्णन है। इन सूत्रों में पंचमहायज्ञों का विवरण और उनकी विधि विस्तार से दी हुई है। आश्वालायन, शांखायन आपस्तम्ब आदि 12 गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं।

3.धर्मसूत्र— इनमें चतुर्वर्णो और चारों आश्रमों के कर्तव्यों विशेषतःराजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है, वसिष्ठ धर्मसूत्र, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी और गौतम ये धर्मसूत्र उपलब्ध हैं।

4.शुल्बसूत्र— इसमें वेदि(यज्ञकुण्ड) के निर्माण की रीति का विशेष रुप से प्रतिपादन है तथा आर्यों के प्राचीन ज्यामितिविषयक कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से इसका वैज्ञानिक महत्त्व भी है। शुल्ब का अर्थ है "नापने की रस्सी’। शुल्बसूत्रों को भारतीय गणितशास्त्र के प्राचीनतम अवशेष माना जाता है। बोधायन, आपस्तम्ब मानव, मैत्रायणीय, वाराह, बाधूल, कात्यायन आदि प्रमुख शुल्बसूत्र हैं।

इन सूत्रों के अतिरिक्त श्राद्धकल्पसूत्र, पितृकल्पसूत्र नाम से दो उपसूत्र भी मिलते हैं, एक अन्य सूत्र प्रायश्चितसूत्र नाम से भी मिलता हैं।

कल्पवेदाङ्ग का महत्त्व— बाह्मणों के याज्ञिक विधानों को अति संक्षिप्त रुप में प्रस्तुत करने के कारण कल्पशास़्त्र के स्थान में कल्पसूत्र प्रयोग किया जाता है। सूत्रात्मक रुप होने के कारण इसका महत्त्व अधिक है। इन्हें आसानी से स्मरण किया जा सकता है तथा इनके माध्यम से याज्ञिक विधानों को सम्पन्न कराया जा सकता है।

1.9.3 व्याकरण—

वेदाङ्ग में व्याकरण का तीसरा स्थान है। इसे वेदपुरुष का मुख कहा जाता है- मुखं व्याकरणं स्मृतम् (पाणिनीय शिक्षा) प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम् कहकर महाभाष्यकार पतंजलि ने वेद के छः अंगो में इसे प्रधान कहा है। व्याकरण के द्वारा वेद और लोक में प्रयुक्त शब्दों की मीमांसा की जाती है-व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्। व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वैदिक व्याकरण का सर्वप्रथम विवेचन मिलता है, तत्पश्चात् लौकिक (संस्कृत) व्याकरण का प्रादुर्भाव माना गया है। आचार्य-पाणिनि रचित अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ है। इसी व्याकरण ग्रन्थ में आचार्य कात्यायनी ने वार्तिक तथा आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य' लिखा है। ये तीनों ही व्याकरणशास्त्र के मुनित्रय कहे जाते हैं। व्याकरण का प्रयोजन-आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरण वेदाङ्ग के पाँच प्रमुख प्रयोजनों का उल्लेख किया है-रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह-रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक) महाभाष्यकार ने 13 अन्य भी प्रयोजन बताये हैं जिनका प्रतीक रुप में निर्देशन किया है- **तेऽसुराः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्ति कुर्वन्तिः। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य।**

सुदेवो असि वरुण इत्यादि (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक)

मुनित्रय की रचना के बाद आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण का उत्कृष्ब् ग्रन्थ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रियानुसार एक नवीन क्रम में निबद्ध करने वाले व्याकरणचार्य श्री रामचन्द्र हैं, 'प्रक्रिया कौमुदी' इनकी रचना है। इसी क्रम का निर्वाह करने वाले वैयाकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित का नाम व्याकरण के इतिहास में नवयुग प्रवर्तक के रुप में है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' , 'शब्द कौस्तुभ' तथा 'प्रौढ़मनोरमा' इनके तीन ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्व हैं। आचार्य नागेशभट्ट की परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर तथा लघुमंजूषा तीन व्याकरण की रचनाएं हैं जो व्याकरण की महनीय निधि हैं। निष्कर्षतः वेदार्थज्ञान के लिए व्याकरण वेदाङ्ग की आवश्यकता है।

1.9.4 निरुक्त—

निरुक्त श्रोत्रमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा) निरुक्त में वैदिक शब्दसमाम्नाय की व्याख्या की गई है जो निघण्टु के पॉच अध्यायों में संकलित है। निघण्टु वैदिक शब्दकोश है जिसमें 1341 शब्द परिगणित हैं इसके प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहे जाते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगम काण्ड और अन्तिम अध्याय दैवतकाण्ड कहा गया है। आचार्य यास्क द्वारा रचित निरुक्त में निघण्टुगत 230 शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त में निर्वचन करने के लिए वर्णागम, वर्ण-विपर्यय वर्ण-विकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थो में प्रयोग ये पाँच नियम है निरुक्त में मूलतः 12 अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रुप में हैं। कुल मिलाकर 14 अध्यायों का विभाजन पादों में हैं। निरुक्त पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाए उपलब्ध हैं।

निरुक्त का लक्षण—

आचार्य सायण ने निरुक्त का लक्षण किया है- 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् अर्थात् अर्थज्ञान के विषय में जहॉ स्वतन्त्ररुप में पदसमूह का कथन किया गया है वह 'निरुक्त' कहलाता है।

महत्त्व- आचार्य यास्क ने निरुक्त और व्याकरण शास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार किया है तथा निरुक्त ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक माना है।आचार्य दुगाचार्य के अनुसार व्याकरण और कल्प आदि वेदाङ्गों के लिए अर्थ को

जानना आवश्यक है। निरुक्त के द्वारा वैदिक-शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। बिना अर्थ ज्ञान के दोनों ही वेदाङ्ग व्याकरण और कल्प व्यर्थ हैं। अतः वेदाङ्गों में निरुक्त का विशिष्ट महत्त्व है।

1.9.5 ज्योतिष—

ज्योतिषामयनं चक्षुः (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् वेदपुरुष का चक्षु ज्योतिष् वेदाड़्ग को कहा गया है। वैदिक-यज्ञों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का सूक्ष्म विधान होता है। कौन से यज्ञ किस तिथि, नक्षत्र, पक्ष आदि शुभमुहूर्त्त में हो उसकी गणना के लिए 'ज्योतिष् वेदाङ्ग' का अतीव महत्त्व है। काल के किसी भी खण्ड को जानने के लिए ज्योतिष् ज्ञान आवश्यक है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' के अनुसार 'यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्' अर्थात् जो व्यक्ति ज्योतिष् को जानता है, वही यज्ञ को भी जानता है।'ज्योतिष् वेदाङ्ग' गणना पर आधारित है इसलिए ज्योतिष् में गणित को मूर्धन्य (श्रेष्ठ) स्थान दिया जाता है। 'ज्योतिष्वेदाङ्ग' का उपलब्ध और प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' है इसके दो पाठ (संस्करण) उपलब्ध हैं एक पाठ का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसमें 36 श्लोक हैं। दूसरे पाठ का सम्बन्ध यजुर्वेद से है इसमें 43 श्लोक हैं। इसके रचयिता लगध हैं। ईस्वीपूर्व 1400 वर्ष की यह रचना प्राचीन एवं दुर्बोध है। डॉ थीबों, शंकर बालाकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक और सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष्' में गणना का आधार २७ नक्षत्र हैं। इसमें राशियों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही ज्योतिष् का आधारभूत ग्रन्थ है।

1.9.6 छन्द—

छन्द नामक वेदाङ्ग वेदपुरुष के पैर हैं 'छन्दःपादौ तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा) छन्द वेद को गति प्रदान करते हैं। आचार्ययास्क के अनुसार छद् धातु से निष्पन्न छन्द शब्द आच्छादनार्थक है- छन्दांसि छादनात् (निरुक्त 7.19) अर्थात् वेद को छादन करने (ढकने) के कारण इन्हें छन्दस् कहा जाता है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने 'यदक्षरपरिणामं तच्छन्दः' अर्थात् अक्षरों के परिणाम को छन्द कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक छन्दोमें अक्षरों की गणना होती है, मात्राओं की नहीं। गुरु लघु का नियम इनमें नहीं होता है। इसमें चरणों की संख्या कम से कम एक तथाअधिक से अधिक पॉच होती है। लौकिक छन्दों मेंसदैव चार चरण ही होते हैं। वैदिक छन्दों की मुख्य संख्या 7 (सात) है। वैदिक छन्दों मेंक अक्षर से लेकर 104 अक्षरों तक के छन्दों का विधान आचार्यों ने किया है।

महत्त्व—छन्दों का विवरण मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विनियोग-विधान के विषय में, द्रव्य, देवता और यजमान के प्रयोजनानुरुप विविध छन्दों का विधान है। यथा ब्रह्मवर्चस् के लिए गायत्री छन्द, आयुष्य के लिए उष्णिक् छन्द, स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनुष्टुप् छन्द, श्री प्राप्ति के लिए बृहती छन्द, यज्ञ के लिए पङ्क्ति छन्द, शक्ति सामर्थ्य के लिए त्रिष्टुप् छन्द तथा पशु प्राप्ति के लिए जगती छन्द का विधान किया गया है।

छन्दोविषयक प्राचीन विवरण शांखायन श्रौतसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, सामवेदीय, निदानसूत्र, पिंगलप्रणीत छन्दःसूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में उपलब्ध हैं। पिङ्गलाचार्य के छन्दःसूत्र में छन्द की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध है। वैदिक छन्दों के साथ ही इसमें लौकिक छन्दों का भी विवेचन है। 'छन्दःसूत्रों के आठ अध्यायों में से प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। छन्दःसूत्र पर हलायुधभटटकृत 'मृतसंजीवनी' व्याख्या उपलब्ध है। प्रमुख वैदिक-छन्द 7 (सात) हैं।

1- गायत्री-तीन चरण 8 गुणा 3 =24 अक्षर

2- उष्णिक् तीन चरण 8,8,12 =28 अक्षर
3-अनुष्टुप्-चार चरण, 8 गुणा 4 =32 अक्षर,
4-बृहती चार चरण 8,8,12,8 =36 अक्षर,
5-पंक्ति -पॉच चरण, 8 गुणा 5 =40 अक्षर,
6-त्रिष्टुप् चार चरण,11 गुणा 4 =44 अक्षर,
7-जगती चार चरण, 12 गुणा 4 =48 अक्षर

ऋग्वेद में सर्वाधिक त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हैं जिनकी संख्या 4253 फिर गायत्री छन्द की संख्या 2467, तत्पश्चात् जगती छन्द की संख्या1358 है।

वैदिक छन्द में एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से छन्द में अन्तर नहीं आता। एक अक्षर कम होने से निचृत् एक अधिक होने पर भुरिक्, दो कम होने पर विराट्, दो से अधिक होने पर स्वराट्, विशेषण लगाया जाता है यथा 'गायत्री छन्द' में एक अक्षर कम होने पर 'निचृत् गायत्री' एक अक्षर अधिक होने पर ' भुरिक् गायत्री' छन्द ही रहता है। इसी तरह अन्य छन्दों की स्थिति भी समझी जाती है। सात मुख्य छन्दों के अतिरिक्त सात अतिछन्द भी हैं। जिनमें चार-चार अक्षरों की संख्या बढती रहती है उसी के आधार पर छन्द अनेक हो जाते हैं। यथा जगती में 48 अक्षर होते हैं। चार अक्षर अधिक होने पर अति जगती, 4 और अधिक होने पर शक्वरी इसी तरह 4-4 अक्षरों की अधिकता से अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति छन्द बने हैं जिनमें चार-चार की संख्या अधिक है। इसी प्रकार चार-चार अक्षरों की संख्या बढ़ने से कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति छन्द कहे गये हैं। अन्तिम छन्द उत्कृति में 104 अक्षर होते हैं।

निष्कर्षतः छन्द को जाने बिना मन्त्र का शुद्ध पाठ नहीं हो सकता है तथा स्तुतिप्रधान संहिताओं के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की दृष्टि से भी छन्द का महत्त्व है।

बोध प्रश्न—

1. वेद का अर्थ क्या है ?
2. वैदिक-संहिताएं कितनी हैं ?
3. वैदिक साहित्य को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है ?
4. उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ?
5. वेदाङ्ग किसे कहते हैं ?
6. शिक्षा की परिभाषा बताइए ?
7. वेदरुपी पुरुष के हाथ, पैर, मुख,नेत्र, नासिका की संज्ञा किसे दी गयी है ?
8. वैदिक छन्द कितने हैं ?
9. वेदाङ्ग का क्या महत्त्व है ?
10. कल्प की संख्या कितनी हैं ?
11.ज्योतिष के मुख्य ग्रन्थ का नाम लिखिये।

बोध प्रश्न—

1. ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रमपूर्व माना है।
(क) लोकमान्य तिलक ने **(ख)** मैक्समूलर ने
(ग) हन्ट ने **(घ)** विक्रमादित्य ने
2.लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का समय माना है।

(क) 6000-4000 वि॰पू॰ **(ख)** 4000-2500 वि॰पू॰

(ग) 2400-1400 वि॰पू॰ **(घ)** 1400-5000 इ॰पू॰

3. ऋग्वेदीय काल में वस्त्र पहने जाते थे।

(क) केवल अधोवस्त्र **(ख)** केवल उत्तरीय

(ग) दोनों **(घ)** दोनों में से कोइ नहीं

4. यजुर्वेद का प्रमुख भेद है-

(क) ब्रह्म **(ख)** तैत्तिरीय

(ग) मैत्रायिणी **(ग)** कठ

5. काण्व शाक्षा के अंतर्गत आता है-

(क) शुक्लयजुर्वेद **(ख)** ऋग्वेद

(ग) कृष्णयजुर्वेद **(ग)** सामवेद

6. मैत्रायणी शाक्षा मूल रूप से है-

(क) गद्यात्मक **(ख)** गद्यपद्यात्मक

(ग) पद्यात्मक **(ग)** इनमें से कोई नहीं

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शुक्ल यजुर्वेद में........अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता.............................के नाम से प्रसिद्ध है।

(ग) इठिमिका..संहिता का खण्ड है।

1.10 सारांश

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान, धर्म संस्कृति, साहित्य दर्शन और नैतिक शिक्षा के मूल हैं। ये समग्र साहित्य में प्राचीनतम हैं। वेद में ही भारतीय सामाजिक संरचना की आधारशिला प्रतिष्ठित है। वेद-विषयक सामग्री का विश्व की जनता लाभ उठाये इसीलिए वेद के अङ्ग-वेदाङ्गों की आवश्यकता वेदार्थ बोध के लिए उपयोगी मानी गई है, क्योंकि वेदाङ्ग में वे सहायक-तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के सम्पादन में सहायता मिलती है।

वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद स्वरुप की अवगति, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त सम्प्रति छः वेदाङ्गों की उपादेयता है।

शिक्षा वेदाङ्ग मन्त्रों के साधु उच्चारण की शिक्षा देता है, तो कल्प विधियों का विधान बतलाता है-**कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र।** व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हैं, तथा वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं, ज्योतिष् कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है। विभिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न छन्दोमय मन्त्रों का विनियोग होता है जिसे छन्द वेदाङ्ग से जाना जा सकता है। अतः वेदाङ्ग का महत्त्व वेदाध्येताओं के लिए आवश्यक है क्योंकि वेदार्थ को जानने वाला ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है यथा- पाणिनीय-शिक्षा में वेदाङ्ग की महत्ता प्रतिपादित है- **तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते (पा0शि0)।**

ब्राह्मण प्राचीन हिंदू ग्रंथ हैं जिनमें चार वेदों के मंत्रों की व्याख्या है, जो सबसे प्रचीन हिंदू पवित्र ग्रंथ हैं। इनमें मिथकों द्वारा चित्रित किंवदंतियों की शिक्षाएँ, अनुष्ठानों के प्रदर्शन के बारे में जानकारी, साथ ही कुछ दर्शन भी शामिल हैं। वे वेदों के संहिता भाग की व्याख्या के रूप में कार्य करते हैं।

उनकी विषय-वस्तु को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है: विधि, जिसमें विशेष अनुष्ठानों के निष्पादन से संबंधित निर्देश और चेतावनियाँ हैं, और अर्थवाद, जिसमें मंत्रों और विशेष अनुष्ठानों के संबंध में व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण और कौशीतकी ब्राह्मण सबसे पुराने ज्ञात वैदिक संस्कृत, ऋग्वेद से संबंधित हैं। सामवेद के लिए, मुख्य ब्राह्मण पंचविंस, सदविंस और जैमिनीय हैं। शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद से और तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद से जुड़ा है। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद से अकेले जुड़ा हुआ है।

आरण्यक ब्राह्मण और उपनिषदों के बीच की कड़ी हैं। वे दार्शनिक चिंतन के साथ ब्राह्मणों के अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन करते हैं और कर्म-कांड और ज्ञान-कांड के बीच एक सेतु का काम करते हैं।

1.11 पारिभाषिक शब्दावली

1- प्राचीनतम- सबसे पुरानी प्राचीनतमप् (प्रत्यय)।

2- संस्कृतवाड्मय - संस्कृत भाषा मेंनिबद्ध साहित्य।

3- साङ्गोपाङ्ग - अङ्ग और उपाङ्ग सहित।

4- वैदिक संहिता- वेद के मन्त्रों का संग्रह (समूह) मूलपाठ।

5- वेदभाष्यकार - वेदमन्त्रों पर विस्तृत टीका के साथ व्याख्या लिखने वाले।

7- छन्दोबद्ध- छन्द से युक्त।

7- अनुक्रमणी साहित्य - सूची (लिस्ट) जिसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पद की सूची ,गणना सहित दी गयी है।

8- ऐतरेयारण्यक -ऐतरेय आरण्यक ।

9- जैमिनीयोपनिषद्-जैमिनीय उपनिषद्।

10-तैत्तिरीयोपनिषद् -तैत्तिरीय उपनिषद्।

11-प्रयोजनानुरूप -प्रयोजन के अनुरूप ।

12-आनुष्ठानिक -यज्ञादि अनुष्ठान से सम्बन्धित।

13-पारिभाषिक -परिभाषा सम्बन्धित।

14-सम्प्रति - वर्तमान में।

1.12 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न— 1

१. वेद का अर्थ ज्ञान है ऐसा ज्ञान जिससे इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण हो।

२. वैदिक-संहिताएं चार है- ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व।

३. वैदिक-साहित्य छः वर्गों में विभक्त हैं।

४. उप (समीप), नि (निष्ठापूर्वक) उपसर्ग सद् धातु (बैठने अर्थ में) से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना है।

५. वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को वेदाङ्ग कहा गया है।

६. शिक्षा जिसमें स्वर, वर्ण, मात्रा, बल, (प्रयत्न) साम और सन्तान का वर्णन किया गया हो वह शिक्षा है।

७ .वेदरूपी पुरुष के छः अंग -

पाद -छन्द

हस्त - कल्प

घ्राण - शिक्षा

श्रोत्र - निरुक्त

चक्षु - ज्योतिष्

मुख - व्याकरण

वैदिक छन्द- 7 (सात)

गायत्री - 24 अक्षर,

उष्णिक् - 28 अक्षर

अनुष्टुप् - 32 अक्षर

बृहती - 36 अक्षर

पंक्ति - 40 अक्षर

त्रिष्टुप् - 44 अक्षर

जगती - 48 अक्षर,

9. वेदमन्त्रों के अध्ययन के लिए।

10. कल्प- 4 हैं।

11. 'वेदाङ् ज्योतिष' है।

बोध प्रश्न— 2

(1) (ख) **(2)** (क) **(3)** (ख) **(4)** (क) **(5)** (क) **(6)** (ख)

रिक्त स्थान— (क) दर्शपौर्णमासादि **(ख)** वाजशनेयी शाखा **(ग)** कठ

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

2.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदाङ्गखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

3.वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ0 कर्ण सिंह, साहित्य-भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार मेरठ।

4.संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ0 उमा शंकर मिश्र।

5.संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय।

6.वैदिक साहित्य का इतिहास - श्री गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर,पं. राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री, मुसलगॉव चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

7.वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरुप - डॉ0 ओम प्रकाश पाण्डेविश्व प्रकाशन, नई दिल्ली

1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.वैदिक साहित्य का परिचय लिखिए।

2. वेदांगों का वर्णन कीजिए।

3. यजुर्वेद की प्रमुख शाखाओं का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

इकाई-2 लौकिक साहित्य का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 लौकिक साहित्य का परिचय
    2.3.1 वैदिक एवं लौकिक साहित्य में अन्तर
    2.3.2 संस्कृत काव्य साहित्य की परम्परा
    2.3.3 संस्कृत भाषा एवं साहित्य
    2.3.4 नीतिकाव्य एवं गीतिकाव्य
    2.3.5 गद्य साहित्य या आख्यान साहित्य
2.4 सारांश
2.6 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 अन्य उपयोगी ग्रंथ
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) भाषा एवं साहित्य (Indian Language and Literature) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड तृतीय से सम्बन्धित यह द्वितीय इकाई है। इस खण्ड में संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत लौकिक साहित्य का परिचय एवं उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। लौकिक साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक एवं समसामयिक साहित्य आते हैं। ऐसे साहित्य को धर्मेत्तर साहित्य भी कहते हैं। इस प्रकार की कृतियों से तत्कालीन भारतीय समाज के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को जानने में काफ़ी सहायता मिलती है। वैदिक वाङ्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल पर विराजमान आदि काव्य वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं - जिनका समस्त संसार के प्राचीन वाङ्मय में स्थान है।

लौकिक संस्कृत का काल ई.पू. 500 से है। कब तक है यह बताना कठिन है, क्योंकि सम्भवतः लौकिक साहित्य के शुरू से ही संस्कृत का बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलन समाप्त होने लगा था, लेकिन बाद में सदियों तक यह पूरे भारत में प्रमुख साहित्यिक भाषा बनी रही और आज तक विद्वान संस्कृत में काव्य रचना करते रहे हैं। लौकिक संस्कृत के अधिकांश साहित्य का इतिहास ई.पू. 500 से 1500 ई. तक रचा गया।

लौकिक साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्य, पुराण, नीति कथाऍं, गद्य साहित्य या आख्यान साहित्य, कलात्मक काव्य (इस युग में कालिदास, माघ, भवभूति आदि श्रेष्ठ साहित्यकारों ने इस साहित्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। इनका समय 600 ई. के आसपास माना जाता है।) साहित्यिक कृतियों के अलावा संस्कृत में गणित, ज्योतिषशास्त्र चिकित्सा, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों पर कई ग्रंथ लिखे गये। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कौटिल्य द्वारा रचित "अर्थशास्त्र" और काम के क्षेत्र में वात्स्यायन रचित "कामशास्त्र" विश्वविख्यात ग्रंथ हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में चरक, सुश्रुत तथा गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट आदि प्रख्यात विद्वान है।

अत: इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप रामायण, महाभारत के साथ ही महाकाव्य परम्परा के कुलगुरू कहे जाने वाले महाकवि कालिदास, भारवी, माघ, श्री हर्ष आदि के जीवन परिचय एवं उनके काव्य ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- वैदिक एवं लौकिक साहित्य की विशेषता के विषय में जान सकेंगे।
- रामायण को आदि काव्य क्यों कहा जाता है, इसका उल्लेख करने में समर्थ हो सकेंगे ।
- महाभारत में जीवन से सम्बन्धित सामान्य और विशिष्ट प्रकार की शिक्षाओं के विषय में जान सकेंगे।
- कालिदास, भारवि, माघ आदि के जीवन परिचय का अध्ययन कर सकेगें।
- श्री हर्ष के व्यक्तित्व को बता सकेंगे।

- प्रचीन भारत में संस्कृत साहित्य के महत्त्व को समझा सकेंगे।
- वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अंतर को बता सकेंगे।

2.3 लौकिक साहित्य का परिचय

संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रतिभासंपन्न कवियों के ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं। जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्राप्त कर परवर्ति कवि अपनी लेखनी काव्यरचना के लिए उठाते हैं। ऐसे काव्यों को पर्याप्त प्रभावशाली होने के कारण हम 'उपजीव्य काव्य' के नाम से अभिहित करते हैं। संस्कृत साहित्य में भी ऐसे उपजीव्य काव्य विद्यमान हैं, जिनसे न केवल संस्कृत भाषा के पंडितों ने अपितु अन्य भाषाओं के विद्वानों ने अपनी रचनाओं के विषय निर्देश के लिए तथा काव्यशैली के विधान के लिए निरन्तर प्रेरणा ग्रहण की है और वर्तमान में भी कर रहे हैं। इन लौकिक साहित्य को हम इस क्रम में वर्णन कर सकते हैं।।

1. महाकाव्य एवं पुराण
2. नीति कथाएॅ
3. गद्य साहित्य
4. कलात्मक काव्य
5. अन्य वाङ्मय

1. महाकाव्य और पुराण—

संस्कृत के दो प्रमुख महाकाव्य हैं बाल्मीकि रचित रामायण और व्यास रचित महाभारत। इनमें क्रमश: दो अवतारों-राम और कृष्ण का वर्णन है। रामायण बृहदाकार ग्रन्थ है। इसमें सात काण्ड हैं और 24,000 श्लोक हैं। इसका रचना काल 200 ई.पू. और 200 ई. के बीच का माना जाता है। महाभारत की कथा भी सर्वविदित है। यह पांडवों और कौरवों के बीच संघर्ष और युद्ध की कहानी है। कृष्ण इसमें सच्चाई का साथ देने वाले व्यक्तित्व के रूप में चित्रित हैं।

इन महाकाव्यों में राम और कृष्ण का अवतारी रूप अधिक मुखर नहीं हुआ। इनसे भक्ति के स्वरूप का बीजारोपण अवश्य हुआ, लेकिन पुराणों में अवतार महिमा और भक्ति को स्वर मिला। जैसे भागवत पुराण कृष्ण के अवतार स्वरूप को अधिक स्पष्टता से वर्णित करता है। पुराण अठारह हैं। ये अलग-अलग समय पर लिखे गये। इनका रचना काल पाँचवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है।

2. नीति कथाएॅ—

नीति कथाओं में पंचतंत्र, हितोपदेश, बृहत्कथा, कथा सरित्सागर, वेताल पंचविंशतिका (बेताल पचीसी) आदि महत्वपूर्ण हैं।

3. गद्य साहित्य या आख्यान साहित्य—

यह संस्कृत साहित्य की ही विशेषता है कि आदि काल से ही इसमें गद्य साहित्य की रचना होने लगी। दशकुमार चरित, वासवदत्ता, हर्षरचित, कादंबरी आदि प्रसिद्ध गद्य आख्यान हैं।

4. कलात्मक काव्य—

संस्कृत साहित्य के इतिहास में इसका मध्य युग सबसे महत्वपूर्ण है। इस युग में कालिदास, माघ, भवभूति आदि श्रेष्ठ साहित्यकारों ने इस साहित्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। इनका समय 600 ई. के आसपास माना जाता है। महाकवि कालिदास ने सात महत्वपूर्ण कृतियाँ

रची हैं। उनके काव्य ग्रंथ हैं- ऋतुसंहार, कुमारसंभव, रघुवंश और मेघदूतः नाटक है मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और शाकुंतल। इनके अलावा भारवि ने (किरातार्जुनीय), माघ ने (शिशुपालवध), श्री हर्ष ने (नैषधचरित) कुमारदास ने (जानकीहरण) आदि ग्रन्थों का लेखन किया।

5. अन्य वाङ्मय—

साहित्यिक कृतियों के अलावा संस्कृत में दर्शन, धर्मशास्त्र, गणित, ज्योतिषशास्त्र, चिकित्सा, आदि विविध क्षेत्रों पर कई ग्रन्थ लिखे गये। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कौटिल्य द्वारा रचित "अर्थशास्त्र" और काम के क्षेत्र में वात्स्यायन रचित "कामशास्त्र" विश्वविख्यात ग्रंथ हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में चरक, सुश्रुत तथा गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट आदि प्रख्यात विद्वान है।

ऐसे उपजीव्य काव्य मुख्यत: तीन हैं—1. रामायण 2. महाभारत 3.श्रीमद्भगवत इन तीनों ही उपजीव्य काव्यों का परवर्ती कवियों की रचनाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इन ग्रन्थों को मानवीय सभ्यता की मर्यादा एवं आदर्श स्थापित करने वाला माना गया है, इनको अपनाकर मानव अपना एवं अपने राष्ट्र का सर्वतोमुखी विकास करने में सफल हो सकता है । इनका आश्रय लेकर ही संस्कृत महाकाव्य परम्परा का प्रादुर्भाव होता है। जो वैदिक साहित्य में पद्य साहित्य के रूप वर्णित है।

2.3.1 वैदिक एवं लौकिक साहित्य में अन्तर

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य, विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि नितान्त पार्थक्य रखता है।

(क) विषय—

वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विषेशतायें है, परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख में पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है, पुरुषार्थ के चारों अंशों में काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते है।

(ख) आकृति—

लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य को गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काण्व-संहिता तथा मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। वैदिक गद्य में जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र तक ही सीमित रह जाता है, परन्तु वह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध भी है। इस युग में पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्य जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानकों तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है, परन्तु क्षेत्र के सीमित होने

के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है, परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग विशय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ ओर वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघु-गुरु के विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—

भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि है, जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक सस्कृत का भाव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संकारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बाँध कर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) अन्तस्तत्त्व—

वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं की मूर्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है, परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र, युद्ध, अकाल, दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है, परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस वैदिक युग में विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है ओर वही कभी पुण्य के अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जाकर विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है-इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली-भाँती मिलता है। मानव-जीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने वाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया हो। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरूचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

लौकिक-संस्कृत-साहित्य का आरम्भ आदि कवि वाल्मिकि के "रामायणम्" से हुआ, जिसमें आदर्श पुरुष श्रीराम के जीवन चरित्र का वर्णन है। इसे आदि काव्य भी कहा जाता है। प्रथम संस्कृत-काव्य होने के अतिरिक्त रामायण परवर्ती संस्कृत कवियों के लिए प्रेरक तथा उपजीव्य ग्रन्थ है। इसमें सात काण्ड तथा 24000 श्लोक हैं। काण्डों का विभाजन सर्गों में हुआ है।

वेदों के बाद की संस्कृत भाषा जो रामायण, महाभारत आदि पुराणों से लेकर परवर्ती साहित्य की रचना में व्यवहृत हुई लौकिक संस्कृत कहलायी। यह शब्द "वैदिक" संस्कृत के विपर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। लेकिन आज हम संस्कृत शब्द से प्रमुखतः लौकिक संस्कृत का उल्लेख करते हैं। हमने ऊपर संस्कृत की जिन विशेषताओं की चर्चा की, वे लौकिक संस्कृत की ही विशेषताएँ हैं। लौकिक संस्कृत का परिचय प्राप्त करने के बाद हम दोनों में अंतर के स्थलों की चर्चा करेंगे।

1. वैदिक संस्कृत जनभाषा ही थी। इस कारण उस भाषा में बोलचाल की भाषा जैसी सहजताः थी। लौकिक संस्कृत साहित्य की भाषा बनी जऔर विदबानों के योगदान के कारण इसमें समास आदि प्रयोगों में वृदधि हुई।

2. वैदिक संस्कृत में एक ग्यारहवाँ लकार 'लेट' था, जो लौकिक संस्कृत में ही खत्म हो गया।

3. वैदिक संस्कृत एक व्यापक क्षेत्र में व्यवहृत हुई थी। लौकिक संस्कृत में देव का बहुवचन रूप "देवा" है, वैदिक में देवा, देवास दोनों रूप चलते हैं।

4. शब्दावली के क्षेत्र में भाषा के स्वाभाविक विकास या परिवर्तन के कारण अंतर आ जाते हैं। कई वैदिक संस्कृत के शब्द लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गये। कई शब्दों के अर्थ में अंतर आया।

5. वैदिक संस्कृत स्वराधात वाली भाषा थी। यहाँ स्वर का तात्पर्य वही है जो संगीत में है। जिस तरह संगीत में एक ही स्वर, उच्च मध्य, निम्न आदि स्वरों में बोले जाते हैं, वैसे ही वैदिक संस्कृत में शब्द भिन्न-भिन्न स्वरों में बोले जाते थे और स्वर के कारण शब्द का अर्थ बदल जाता था। लौकिक संस्कृत में स्वराघात की विशेषता समाप्त हो गयी।

6. वैदिक संस्कृत में ळ, ळह ध्वनियों थीं, जो लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गयीं।

इस प्रकार अनेक मौलिक वैदिक तथा लौकिक साहित्य में विद्यमान है। कतिपय अन्य भिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती हैं-

7. वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा का साहित्य है, संस्कृत भाषा का काव्य-साहित्य अभिजातवर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है।

8. वैदिक साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों का कीर्तन है, परन्तु संस्कृत का साहित्य मानव-जीवन का साहित्य है।

9. वैदिक साहित्य ग्राम्यजीवन का साहित्य है, जब आर्य लोग पशुपालन तथा कृषि के द्वारा अपनी जीविका अर्जन करते थे; संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है, जब बड़े-बड़े राजाओं के वैभव से महनीय नगरों की स्थापना की गई और जीविका के साधनों में पर्याप्त विस्तार हो गया।

10. वैदिक साहित्य उस समाज का चित्रण है जिसमें आर्य और दस्यु, विजेता तथा विजित इन दो वर्गों की ही सत्ता थी; संस्कृत का साहित्य चातुर्वर्ण्य का साहित्य है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अधिकारों का अलग-अलग निर्धारण कर दिया गया था, तथा ये परस्पर सामंजस्य के साथ अपना जीवन बिताते थे।

11. वैदिक साहित्य कल्पना तथा भावना के विशुद्ध रूप पर आश्रित होने वाला साहित्य है, जहाँ कल्पना नैसर्गिक रूप में प्रवाहित होकर हृदय के भावों का अनाविल रूप चित्रित करती है; संस्कृत का साहित्य कलात्मक साहित्य है, जिसमें कला और शास्त्र का, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का मौलिक कल्पना और शास्त्र-नैपुण्य का संमिश्रण रचना का मुख्य आधार है। उपयुक्त अंतरों

के संदर्भ में कह सकते हैं कि दोनों भाषाओं में मूलत भाषा की रचना एक ही रही। कुछ प्रयत्न करने पर संस्कृत का छात्र वैदिक संस्कृत के पाठ का अध्ययन कर सकता है।

12. संस्कृत भाषा के वैदिक रूप में सभी वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थ लिखे गए हैं। इसके लौकिक रूप में वेदों का उपयोग बतलाने वाले वेदाङ्ग-ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, नाटक, काव्य, कथा-साहित्य, आयुर्वेद आदि से संबद्ध ग्रन्थों की रचना विभिन्न युगों में हुई।

13. वैदिक संस्कृत में मुख्यतः धर्मप्रधान साहित्य की रचना हुई, जिसका उपयोग यज्ञ आदि में होता था। लौकिक संस्कृत में जीवन के अन्य अनेक पक्ष भी मिलते हैं।

14. वैदिक संस्कृत का आरम्भ तो पद्म से ही हुआ, किन्तु धीरे-धीर गद्य का भी साम्राज्य छा गया। लौकिक संस्कृत में पुनः पद्म की प्रतिष्ठा हुई और गंदरचना का क्षेत्र सीमित हो गया। पद्य लिखना कठिन माना जाने लगा। वैदिक भाषा के छन्दों से लौकिक संस्कृत के छन्दों में भी भिन्नता आई इस प्रकार संस्कृत के छन्दों में अधिक विविधता आ गई।

15. भाषा की दृष्टि से वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत से बहुत भिन्न है, किन्तु यह भिन्नता ऐसी नहीं, जैसी संस्कृत और प्राकृत में है। संस्कृत और प्राकृत में ध्वनिगत अन्तर का प्राचुर्य है, जबकि वैदिक और लौकिक संस्कृत में ध्वनिगत अन्तर शून्यप्राय है, विशेष रूप से शब्दगत भेद ही अधिक है। दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। वैदिक संस्कृत में शब्द-रूप संख्या में अधिक थे, लौकिक संस्कृत में कम, जैसे- संस्कृत शब्दरूप गन्तुम् (जाने के लिए) है। वैदिक भाषा में इसके अतिरिक्त इसी अर्थ में गन्तवे, गमध्यै, गन्तोः इत्यादि कई रूपों के प्रयोग थे। अकारान्त शब्दों के प्रथमा-बहुवचन में प्रियाः, प्रियासः जैसे दो रूप वैदिक संस्कृत में थे, तृतीया बहुवचन में भी प्रियैः प्रियेभिः जैसे दो रूप यहाँ थे, लौकिक संस्कृत में ये कम होकर, केवल प्रियाः और प्रियैः ही रह गए। इस प्रकार दोनों भाषाओं में मुख्य अन्तर वैदिक भाषा में शब्दों के वैकल्पिक रूपों की अधिकता और लौकिक संस्कृत भाषा में शब्दों के वैकल्पिक रूपों की न्यूनता है।

16. आधुनिक आर्य भाषाओं से संस्कृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऊपर कहा गया है कि संस्कृत भाषा से ही प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ। ये भाषाएँ जनसामान्य में प्रचलित हुईं। संस्कृत नाटकों में भी इनका प्रयोग कुछ पात्रों के संवाद के रूप में होने लगा। इसमें स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए जिनमें काव्यों की संख्या अधिक थी। उधर आरम्भिक बौद्ध साहित्य पालि भाषा में लिखा गया। जैन धर्म वैद्यन्थ अर्धमागधी (प्राकृत का एक भेद) में लिखे गए। प्रथम शताब्दी ई. के बाद से इन धर्मों के ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे जाने लगे। प्राकृत का विकास उत्तरी और मध्य भारत के विविध क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में हुआ। इसलिए प्राकृत के महाराष्ट्री (महाराष्ट्र में), शौरसेनी (पश्चिमी उत्तर प्रदेश में), मागधी (पूर्वी भारत में), अर्धमागधी (पूर्वी उत्तर प्रदेश में) तथा पैशाची (सिन्ध और पश्चिमोत्तर भारत में)। ये मुख्य भेद हैं, जबकि उपभेदों की संख्या अधिक है।

2.3.2 संस्कृत काव्य साहित्य की परम्परा

साहित्य शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति **'सिहतयोः भावः साहित्य'** अर्थात् शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्यग्रन्थों तथा अलंकार ग्रंथों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। वैदिक एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल पर विराजमान आदि काव्य की संज्ञा से विभूषित रामायण आदि काव्य

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित है। यह ग्रन्थ राम कथा के समस्त परवर्ती काव्यों एवं नाटकों का स्रोत है। इस महाकाव्य में नायकत्व राम का है, नायिका चित्रण की केन्द्र बिन्दु सीता है। सम्पूर्ण महाकाव्य का अंगीरस करुण रस है। शेष अन्य रस सहायक रस के रूप में पदे–पदे दृष्टिगोचर है। राम और रावण के युद्ध का विस्तृत वर्णन इसी महाकाव्य में प्राप्त है। महाभारत धर्मग्रन्थ के साथ–साथ मानवीय सभ्यता की मर्यादा एवं आदर्श स्थापित करने वाला एक महासूत्र है, जिसको अपनाकर मानव अपना एवं अपने राष्ट्र का सर्वतोमुखी विकास करने में सफल हो सकता है। इसको 'उपजीव्य काव्य' कहा गया है। अन्य सभी को उपजीवी।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण का परिचय—

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत के आदिकवि के आदिकवि हैं तथा उनका रामायण आदिकाव्य है। उनकी कविता देश तथा काल की अवधि के द्वारा परिच्छिन्न नहीं की जा सकती। वे उन विश्व-कवियों में अग्रणी है जिनकी वाणी एक देश विशेष के प्राणियों का ही मंगल साधन नहीं करती और न किसी काल-विशेष के जीवों का मनोरंजन करती है। काल-क्रम से संस्कृत साहित्य के विकास में आदिम होने पर भी वाल्मीकि की अमृतमयी वाणी में सौन्दर्य – सृष्टिका चरम उत्कर्ष है तथा महनीय काव्य-कला का परम औदात्य है। वाल्मीकि का रामायण 'महनीय कला' के लिए जिस आदर्श को काव्य-गोष्ठी में प्रस्तुत किया है वह वाल्मीकि के इस काव्य में सुचारू रूप से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। फ्लाउबेर की मान्यता में 'ग्रेट आर्ट (महान् कला) इन वस्तुओं की साधना तथा प्रसारण से मण्डित होती है।

मानव सोख्य की अभिवृद्धि, दीन-आर्त जनों का उद्धार, परस्पर में सहानुभुति का प्रसार, हमारे और संसार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्यों का अनुसन्धान, जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाय या **ईश्वर की महिमा झलके।** 'यह लक्षण वाल्मीकि के रामायण के ऊपर अक्षरश: घटित होता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदेशों की वाल्मीकि ने अपनी अमर तुलिका से चितत्रत किया, वे भारतवर्ष के लिए ही मान्य और आदरणीय नहीं है, प्रत्युत् महर्षि वाल्मीकि अपनी मानव-मात्र के सामने उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते हैं।

रामायण का अंगी रस—

इस विषय में आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि रामायण के आरम्भ में **'शोक: श्लोकत्वमागत:'** इस कथन के द्वारा वाल्मीकि ने स्वयं ही करूण रस की सूचना दी है और सीता के आत्यन्तिक वियोग तक अपने प्रबन्ध का निर्माण कर उन्होंने करूण रस का पूर्ण निर्वाह किया है। फलत रामायण का अंगीरस 'करूणा' ही है (ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृष्ट 237) अन्य रस जैसे श्रृंगार और वीर अंग रस हैं। वाल्मीकि के अनुसरणकर्ता कवियों ने भी अपने काव्यों में करूण रस का परिपोष किया है।

महर्षि वेदव्यास का परिचय—

संज्ञां यदडिकतां भारती वहति ।।

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग के

लिए एक को वेद चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही नहीं थे, प्रत्युत पाण्डवों का विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करने वाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत् करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय–भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढकर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई दूसरा विद्वान् नहीं था। इन्होंने तीन वर्षो तक सतत परिश्रम से– सदा उत्थान से –इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की (आदिपूर्व-56/52)

त्रिभिर्वर्षै: सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनि:।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।।

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षो के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्य-प्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है। आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिए इसे 'शतसाहस्र-संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से पुराना अवश्य है, क्योंकि गुप्त –कालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ।

महाभारत का परिचय—

महाभारत के विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं- (1) जय, (2) भारत, (3) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप (1) 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण, 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था। पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है।

(2) भारत – 'जय के अनन्तर विकसित होने पर इस ग्रन्थ का अभिधान पड़ा - भारत। नाम से प्रतीत होता है कि यह भारतवंशी कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन परक ग्रन्थ था। उस समय उसका परिणाम केवल चौबीस सहस्र श्लोक था और यह आख्यानों से रहित था। (3) उपाख्यानों के समावेश ने इसे भारत से 'महाभारत' का रूप प्रदान किया, जो अपने 'खिल पर्व '(अर्थात् परिशिष्ट रूप) 'हरिवंश' से संयुक्त होकर परिमाण में चतुर्गुण हो गया –एक लाख श्लोक वाला।

(3) महाभारत- लगभग पॉच सौ वर्ष ईस्वी पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय तत्कालीन लोक–कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्मतथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। डाक्टर सुखठणकर का प्रमाणपुष्ट मत है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल महाभारत का वर्तमान वृद्धिंगत रूप है। कुलपति शौकन स्वयं भार्गव थे, उनकी जिज्ञासा भार्गववश की कथा सुनने की थी। तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्। महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि) कार्तवीर्य (वन) , अम्बोपाख्यान (उद्योग) , विपुला

(शान्ति), उर्त्तक (अश्व0) इन समग्र विख्यात् आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम 53 अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखता है।

महाभारत का रचना काल—

आज उपलब्ध महाभारत लक्ष श्लोकात्मक हैं। यह स्वरूप अठारह पर्वो का न होकर हरिवंश से संयुक्त करने पर ही सिद्ध होता है। परिशिष्ट होनेसे हरिवंश भी महाभारत का अविभाज्य अंग माना जाता था और इन दोनों को मिलाने पर ही एक लाख श्लोक की संख्या निर्णीत होती है। इस 1 महाभारत के काल-निर्णय के निमित्त कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जाते है।

(क) अठारह पर्वों का यह ग्रन्थ तथा हरिवंश संवत् 535 और 635 के बीच जावा तथा बाली द्वीपों में विद्यमान थे। कविभाषा में अनूदित समग्र ग्रन्थ के आठ पर्व-आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आरमवासी, मुसल, प्रस्थानिक और सवर्गरोहण-बाली में इस समय उपलब्ध हैं और कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। अनुवाद के बीच-बीच में मूल श्लोक भी दिये गये है, जो महाभारत के श्लोक से मिलते हैं। फलत: 535 सं0 से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व भारत में महाभारत का प्रामाण्य अंगीकृत था।

(ख) गुप्त शिलालेखों में एक शिलालेख (चेदि संवत् 197 विक्रमी 502=445 ईस्वी) में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्री संहिता' अभिधान द्वारा किया गया है। अत: इस समय से दो सौ वर्ष पूर्व महाभारत को वर्तमान रूप में होना अनुमान सिद्ध है।

(ग) महाकवि अश्वघोष ने अपने 'वज्रसूची उपनिषद्' में हरिवंश के श्राद्ध माहात्म्य में से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु' (हरिवंश 24/20, 21) इत्यादि श्लोक तथा महाभारत के ही अन्य श्लोक (शान्तिपर्व 261/17) पाये जाते हैं। इससे प्रकट है कि प्रथम शती से पूर्व हरिवंश को मिलाकर वर्तमान महाभारत प्रचलित था।

(घ) आश्वलायन गृह्यसूत्रों में (3/4/4) भारत और महाभारत का पृथक –पृथक उल्लेख किया गया है। बौधायन धर्मसूत्रों (2/2/26) के एक स्थान पर महाभारत वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है (आदि 78/10) तथा बौधायन गृह्य सूत्र में 'विशुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत् इसमें (2/22/9) गीता का 'पत्रं पुष्पं फलं तोय' श्लोक (गीता9/26) उद्धृत है। बौधायन ईस्वी सन् से लगभग चार सौ वर्ष पहिले हुए थे- ऐसा डॉ0 बूलर ने प्रमाणित किया है।

(ड़) महाभारत में जहॉं विष्णु के अवतारों का वर्णनकिया गया है, वहॉं बुद्ध का नाम तक नहीं है। नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व 339/100) में दश अवतारों के भीतर हंस को प्रथम अवतार माना गया है और बुद्ध का उल्लेख न कर 'कल्कि'का निर्देश कृष्ण के तुरन्त बाद में किया गया है। फलत: बुद्ध से अनभिज्ञ महाभारत बुद्धपूर्वयुग की नि:संदिग्ध रचना है।

(च) चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आनेवाल यूनानी राजदूत मेगस्थानीज ने अपने भारत-विषयक ग्रन्थ में लिखा है कि हिरेक्लीज अपने मूल पुरूष डायोनिसस से पन्द्रहवॉं था और उसकी पूजा मथुरा के निवासी शौरसेनीय लीग आदर के साथ करते थे। हिरेक्लीज से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है, जो महाभारत के अनुसार दक्ष प्रजापति से पन्द्रहवें पुरूष थे (अनुशासन 14/7/25-33)। इतना ही नहीं, मेगास्थनीज ने विचित्र लोगों-कर्ण प्रावरण, एकपाद, ललटाक्ष आदि- का और सोना निकालनेवाली चीटियों का जो वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है वह महाभारत के ही

आधार पर है (सभापर्व 51 और 52 अ0)। फलत: वह केवल महाभारत से ही परिचित नहीं था, प्रत्युत् उस युग में प्रचलित कृष्ण-चरित तथा कृष्ण पूजा से भी अवगत था। इन प्रमाणों के साक्ष्य पर यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान महाभारत का निर्माण बुद्ध के पूर्व युग से सम्बद्ध है। ईस्वी पूर्व पंचम अथवा षष्ठ शती में उसकी रचना हुई।

ग्रन्थ परिचय— महाभारत के खण्डों को पूर्व कहते हैं। ये संख्या में 18 अठारह हैं-

(1) आदि, (2) सभा, (3) वन, (4) विराट, (5) उद्योग, (6) भीष्म , (7) द्रोण, (8) कर्ण, (9) शल्य, (10) सौप्तिक, (11) स्त्री, (12) शान्ति, (13) अनुशासन, (14) अश्वमेघ, (15) आश्रमवासी, (16) मौसल, (17) महाप्रस्थानिक, (18) स्वर्गारोहण।

पुराणों का महत्त्व एवं परिचय—

रामायण तथा महाभारत के समान पुराणों का भी महत्त्व है। इनका विपुल साहित्य 18 पुराणों में विद्यमान है। (प्राचीन काल में ऋषि प्रणीत चार ही पुराण थे। ऐतरेय, शतपथ, गोपथ तथा ताण्ड्य। इन्हें ब्राह्मण के साथ पुराण भी माना जाता था)। इनमें प्राचीन भारत के जन-जन के लिए सभी ज्ञातव्य विषयों का संग्रह है। आरम्भ में इनमें पाँच मुख्य विषयों का प्रतिपादन करने का लक्ष्य था। (1.) सर्ग-जगत् की सृष्टि, (2.) प्रतिसर्ग-सृष्टि का प्रलय, (3.) वंश-देवों तथा ऋषियों की वंशावली, (4.) मन्वन्तर-विभिन्न युगों की घटनाओं का वर्णन, तथा (5.) वंशानुचरित-प्रसिद्ध राजाओं की वंश-परम्परा। इसी पृष्ठभूमि पर पुराणों के पाँच लक्षण कहे गये हैं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।"

आगे चलकर पुराणों ने समस्त सांस्कृतिक पक्षों को आत्मसात् कर लिया। इसी कारण इनमें भारतीय समाज का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा के महत्त्व, पर्वतों-वनों-नदियों के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन तथा सदाचार-वर्णन के कारण पुराणों ने भारत की सांस्कृतिक-एकता तथा नैतिक-आचरण के संरक्षण में महत्तवपूर्ण योगदान किया है।

कुल 18 पुराण हैं। उनके नाम और क्रम इस प्रकार है।

(1.) ब्रह्मपुराण— इसे "आदिपुराण" भी का जाता है। प्राचीन माने गए सभी पुराणों में इसका उल्लेख है। इसमें श्लोकों की संख्या अलग-2 प्रमाणों से भिन्न-भिन्न है। 10,000,13,000 और 13,787 ये विभिन्न संख्याएँ मिलती है। इसका प्रवचन नैमिषारण्य में लोमहर्षण ऋषि ने किया था। इसमें सृष्टि, मनु की उत्पत्ति, उनके वंश का वर्णन, देवों और प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। इस पुराण में विभिन्न तीर्थों का विस्तार से वर्णन है। इसमें कुल 245 अध्याय हैं। इसका एक परिशिष्ट सौर उपपुराण भी है, जिसमें उडिसा के कोणार्क मन्दिर का वर्णन है।

(2.) पद्मपुराण— इसमें कुल 641 अध्याय और 48,000 श्लोक हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार इसमें 55,000 और ब्रह्मपुराण के अनुसार इसमें 59,000 श्लोक थे। इसमें कुल खण्ड हैं-(क) सृष्टिखण्डः-5 पर्व, (ख) भूमिखण्ड, (ग) स्वर्गखण्ड, (घ) पातालखण्ड और (ङ) उत्तरखण्ड। इसका प्रवचन नैमिषारण्य में सूत उग्रश्रवा ने किया था। ये लोमहर्षण के पुत्र थे। इस पुराण में अनेक विषयों के साथ विष्णुभक्ति के अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसका विकास 5 वीं शताब्दी माना जाता है।

(3.) विष्णुपुराण— पुराण के पाँचों लक्षण इसमें घटते हैं। इसमें विष्णु को परम देवता के रूप में निरूपित किया गया है। इसमें कुल छः खण्ड हैं, 126 अध्याय, श्लोक 23,000 या 24,000 या 6,000 हैं। इस पुराण के प्रवक्ता पराशर ऋषि और श्रोता मैत्रेय हैं।

(4.) वायुपुराण— इसमें विशेषकर शिव का वर्णन किया गया है, अतः इस कारण इसे "शिवपुराण" भी कहा जाता है। एक शिवपुराण पृथक् भी है। इसमें 112 अध्याय, 11,000 श्लोक हैं। इस पुराण का प्रचलन मगध-क्षेत्र में बहुत था। इसमें गया-माहात्म्य है। इसमें कुल चार भाग हैः-(क) प्रक्रियापाद (अध्याय-1-6), (ख) उपोद्घात (अध्याय-7-64), (ग) अनुषङ्गपाद (अध्याय-65-99), (घ) उपसंहारपाद (अध्याय-100-112)। इसमें सृष्टिक्रम, भूगोल, खगोल, युगों, ऋषियों तथा तीर्थों का वर्णन एवं राजवंशों, ऋषिवंशों, वेद की शाखाओं, संगीतशास्त्र और शिवभक्ति का विस्तृत निरूपण है। इसमें भी पुराण के पञ्चलक्षण मिलते हैं।

(5.) भागवतपुराण— यह सर्वाधिक प्रचलित पुराण है। इस पुराण का सप्ताह-वाचन-पारायण भी होता है। इसे सभी दर्शनों का सार "निगमकल्पतरोर्गलितम्" और विद्वानों का परीक्षास्थल "विद्यावतां भागवते परीक्षा" माना जाता है। इसमें श्रीकृष्ण की भक्ति के बारे में बताया गया है।
इसमें कुल 12 स्कन्ध, 335 अध्याय और 18,000 श्लोक हैं। कुछ विद्वान् इसे "देवीभागवतपुराण" भी कहते हैं, क्योंकि इसमें देवी (शक्ति) का विस्तृत वर्णन हैं। इसका रचनाकाल 6 ठी शताब्दी माना जाता है।

(6.) नारद पुराण— इसे महापुराण भी कहा जाता है। इसमें पुराण के 5 लक्षण घटित नहीं होते हैं। इसमें वैष्णवों के उत्सवों और व्रतों का वर्णन है। इसमें 2 खण्ड है (क) पूर्व खणअ्ड में 125 अध्याय और (ख) उत्तर-खण्ड में 82 अध्याय हैं। इसमें 18,000 श्लोक हैं। इसके विषय मोक्ष, धर्म, नक्षत्र, एवं कल्प का निरूपण, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, गृहविचार, मन्त्रसिद्धि,, वर्णाश्रम-धर्म, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है।

(7.) मार्कण्डयपुराण— इसे प्राचीनतम पुराण माना जाता है। इसमें इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि वैदिक देवताओं का वर्णन किया गया है। इसके प्रवक्ता मार्कण्डय ऋषि और श्रोता क्रौष्टुकि शिष्य हैं। इसमें 138 अध्याय और 7,000 श्लोक हैं। इसमें गृहस्थ-धर्म, श्राद्ध, दिनचर्या, नित्यकर्म, व्रत, उत्सव, अनुसूया की पतिव्रता-कथा, योग, दुर्गा-माहात्म्य आदि विषयों का वर्णन है।

(8.) अग्निपुराण— इसके प्रवक्ता अग्नि और श्रोता वसिष्ठ हैं। इसी कारण इसे अग्निपुराण कहा जाता है। इसे भारतीय संस्कृति और विद्याओं का महाकोश माना जाता है। इसमें इस समय 383 अध्याय, 11,500 श्लोक हैं। इसमें विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त शिवलिंग, दुर्गा, गणेश, सूर्य, प्राणप्रतिष्ठा आदि के अतिरिक्त भूगोल, गणित, फलित-ज्योतिष, विवाह, मृत्यु, शकुनविद्या, वास्तुविद्या, दिनचर्या, नीतिशास्त्र, युद्धविद्या, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, काव्य, व्याकरण, कोशनिर्माण आदि नाना विषयों का वर्णन है।

(9.) भविष्यपुराण— इसमें भविष्य की घटनाओं का वर्णन है। इसमें दो खण्ड हैः--(क) पूर्वार्धः--(अध्याय--41) तथा (ख) उत्तरार्ध-(अध्याय़-171) । इसमें कुल 15,000 श्लोक हैं । इसमें कुल 5 पर्व हैः--(क) ब्राह्मपर्व, (ख) विष्णुपर्व, (ग) शिवपर्व, (घ) सूर्यपर्व तथा (ङ) प्रतिसर्गपर्व। इसमें मुख्यतः ब्राह्मण-धर्म, आचार, वर्णाश्रम-धर्म आदि विषयों का वर्णन है। इसका रचनाकाल 500 ई. से 1200 ई. माना जाता है।

(10.) ब्रह्मवैवर्तपुराण— यह वैष्णव पुराण है। इसमें श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया गया है। इसमें कुल 18,000 श्लोक है और चार खण्ड हैः-(क) ब्रह्म, (ख) प्रकृति, (ग) गणेश तथा (घ) श्रीकृष्ण-जन्म।

(11.) लिङ्गपुराण— इसमें शिव की उपासना का वर्णन है। इसमें शिव के 28 अवतारों की कथाएँ दी गई हैं। इसमें 11,000 श्लोक और 163 अध्याय हैं। इसे पूर्व और उत्तर नाम से दो भागों में विभाजित किया गया है। इसका रचनाकाल आठवीं-नवीं शताब्दी माना जाता है। यह पुराण भी पुराण के लक्षणों पर खरा नहीं उतरता है।

(12.) वराहपुराण— इसमें विष्णु के वराह-अवतार का वर्णन है। पाताललोक से पृथिवी का उद्धार करके वराह ने इस पुराण का प्रवचन किया था। इसमें 24,000 श्लोक सम्प्रति केवल 11,000 और 217 अध्याय हैं।

(13.) स्कन्दपुराण— यह पुराण शिव के पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य) के नाम पर है। यह सबसे बडा पुराण है। इसमें कुल 81,000 श्लोक हैं। इसमें दो खण्ड हैं। इसमें छः संहिताएँ हैं- सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्राह्म तथा सौर। सूतसंहिता पर माधवाचार्य ने "तात्पर्य-दीपिका" नामक विस्तृत टीका लिखी है। इस संहिता के अन्त में दो गीताएँ भी हैं-ब्रह्मगीता (अध्याय-12) और सूतगीता-(अध्याय 8)।

इस पुराण में सात खण्ड हैं-(क) माहेश्वर, (ख) वैष्णव, (ग) ब्रह्म, (घ) काशी, (ङ) अवन्ती, (रेवा), (च) नागर (ताप्ती) तथा (छ) प्रभास-खण्ड। काशीखण्ड में "गंगासहस्रनाम" स्तोत्र भी है। इसका रचनाकाल 7 वीं शताब्दी है। इसमें भी पुराण के 5 लक्षण का निर्देश नहीं मिलता है।

(14.) वामनपुराण— इसमें विष्णु के वामन-अवतार का वर्णन है। इसमें 95 अध्याय और 10,000 श्लोक हैं। इसमें चार संहिताएँ हैं-(क) माहेश्वरी, (ख) भागवती, (ग) सौरी तथा (घ) गाणेश्वरी । इसका रचनाकाल 9 वीं से 10 वीं शताब्दी माना जाता है।

(15.) कूर्मपुराण— इसमें विष्णु के कूर्म-अवतार का वर्णन किया गया है। इसमें चार संहिताएँ हैं-(क) ब्राह्मी, (ख) भागवती, (ग) सौरा तथा (घ) वैष्णवी । सम्प्रति केवल ब्राह्मी-संहिता ही मिलती है। इसमें 6,000 श्लोक हैं। इसके दो भाग हैं, जिसमें 51 और 44 अध्याय हैं। इसमें पुराण के पाँचों लक्षण मिलते हैं। इस पुराण में ईश्वरगीता और व्यासगीता भी है। इसका रचनाकाल छठी शताब्दी माना गया है।

(16.) मत्स्यपुराण—इसमें पुराण के पाँचों लक्षण घटित होते हैं। इसमें 291 अध्याय और 14,000 श्लोक हैं। प्राचीन संस्करणों में 19,000 श्लोक मिलते हैं। इसमें जलप्रलय का वर्णन हैं। इसमें कलियुग के राजाओं की सूची दी गई है। इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी माना जाता है।

(17.) गरुडपुराण— यह वैष्णवपुराण है। इसके प्रवक्ता विष्णु और श्रोता गरुड हैं, गरुड ने कश्यप को सुनाया था। इसमें विष्णुपूजा का वर्णन है। इसके दो खण्ड हैं, जिसमें पूर्वखण्ड में 229 और उत्तरखण्ड में 35 अध्याय और 18,000 श्लोक हैं। इसका पूर्वखण्ड विश्वकोशात्मक माना जाता है।

(18.) ब्रह्माण्डपुराण— इसमें 109 अध्याय तथा 12,000 श्लोक है। इसमें चार पाद हैं-(क) प्रक्रिया, (ख) अनुषङ्ग, (ग) उपोद्घात तथा (घ) उपसंहार । इसकी रचना 400 ई.-600 ई. मानी जाती है।

2.3.3 संस्कृत भाषा एवं साहित्य

संस्कृत भाषा के क्षेत्र में ई.पू. 500 के आसपास पाणिनि नामक महान वैयाकरण आविर्भूत हुए। यह वह समय था जिसे हमने प्राचीन आर्य भाषा की परिणति का समय बताया है। लेकिन हमने यह भी उल्लेख किया था कि लौकिक संस्कृत में साहित्य सृजन का आरंभ इसके बाद ही होता है। यह कैसे और क्यों है ? वास्तव में ई.पू. 500 तक का समय वैदिक संस्कृत का ही काल है। पाणिनि ने वैदिक संस्कृत भाषा का गहरा अध्ययन किया, उसमें प्राप्त विकल्पों में से नियमों के अनुसार किन्हीं विकल्पों का मानकीकरण किया और संस्कृत भाषा का "अष्टाध्यायी" नामक प्रसिद्ध व्याकरण लिखा। यह व्याकरण आठ अध्यायों में है और हर अध्याय में व्याकरणिक नियम सूत्रों के रूप में हैं। यों कह सकते हैं कि पणिनि ने जिस रूप में संस्कृत भाषा का वर्णन किया उसी रूप में यह आज भी विद्यमान है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पाणिनि ने संस्कृत को नियमों में बाँध दिया, इसीलिए यह भाषा स्थिर हो गयी और परिवर्तनों के कारण पालि में रूपांतरित हो गयी। विश्लेषण जो भी हो, पाणिनि के साथ प्राचीन आर्य भाषा का युग समाप्त हो गया, लेकिन संस्कृत भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में मध्यकाल तक व्यवहृत होती रही।

संस्कृत भाषा के दो रूप है वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृत वैदिक साहित्य की भाषा है. पूर्ववर्ती रूप है, लौकिक संस्कृत जिसे हम आगे सिर्फ संस्कृत कहेंगे परवती साहित्य की भाषा है। आगे पहले हम लौकिक संस्कृत भाषा का परिचय देंगे, जिससे वैदिक संस्कृत से उसके अंतर को समझा जा सके। हम यहाँ संस्कृत भाषा की संरचना का परिचय प्राप्त करेंगे जो विकास क्रम को समझने के लिए जरूरी है। वाक्य संरचना और पदक्रम हिंदी की तरह संस्कृत में भी वाक्य कर्ता, कर्म, क्रिया आदि पदबंधों से बनता है जैसे –

राम गृहं गच्छति। राम घर जाता है (या जा रहा है) (नोट— संस्कृत में गृहं कर्म है, द्वितीया विभक्ति है) लेकिन हिंदी की अपेक्षा संस्कृत का पदक्रम अधिक सुनिश्चित नहीं है। इस बात को हम अंग्रेजी के उदाहरण से अधिक स्पष्टत्ता से समझ सकते हैं, जिसमें पदक्रम अधिक निश्चित हैं। जैसे Ram killed Ravana को लीजिए। इसे हम Ravan killed Ram नहीं कर सकते, क्योंकि कर्ता और कर्म बदल जाते हैं। संस्कृत में इस वाक्य को हम पदक्रम बदलकर भी व्यक्त कर सकते हैं जैसे- रामेण रावणः हतः । रामेण हत रावण। रावण रामेण हत्त । आदि (नोट— संस्कृत के इन वाक्यों में राम कर्ता है. वाच्य के कारण तृतीया विभक्ति में है, रावण कर्म है, प्रथमा विभक्ति में है) इस विश्लेषण का कारण क्या है ? आप अंग्रेजी और संस्कृत वाक्यों की तुलना कीजिए। अंग्रेजी में शब्द के आरम्भ में जो शब्द है, वह वाक्य का कर्ता है। और अंत में कर्म । संस्कृत में कर्ता शब्द राम विसर्ग से जाना जाता है (राम:) कर्म में/अं/ प्रत्यय लगता है। (रामं) सम्प्रदान में / एण/ प्रत्यय लगता है (रामेण) इसलिए वाक्य में कर्ता भी हो, पहचाना जा सकता है।

वैदिक वाङ्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य-पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यकाव्य रूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्त्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान

प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यंत संपन्न और महत्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के अत्यंत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसख्यक कृतियों का संस्कृत में निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है। स्तोत्र, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं जिनका किसी भी प्रकार से आदिमध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी। भारतीय लोकजीवन में संस्कृत की ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिए संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों, के दर्शन, धर्मसिद्धान्त, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों को पालि या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में सप्रयास रचना हुई है। संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सकता है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा-अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्त्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वाङ्मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोमुखी, मानवतावादी तथा परमसंपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्वशाली है। समस्त विश्व के प्रच्यविद्याप्रेमियों ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिए भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

इनके अनन्तर संस्कृत साहित्य के विविध रूपों के प्रस्फुटन एवं विकास का काल है। एक ओर नाटकों के अनेक रूपों का इतिहास है तो दूसरी ओर संस्कृत महाकाव्यों, लघुकाव्यों, गद्यकाव्यों तथा चम्पू (गद्य-पद्ययुक्त) काव्यों की दीर्घ परम्परा है जो आज तक अनवरत चल रही है। कुछ कवियों ने अनेक विधाओं में रचनाएँ की हैं। जैसे संस्कृत के सबसे बडे कवि कालिदास ने महाकाव्यों (रघुवंशम्, कुमारसंभवम्), गीतिकाव्यों (मेघदूतम्, ऋतुसंहारम्) तथा नाटकों (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम् तथा विक्रमोर्वशीयम्) की रचनाएँ कीं।

अन्य प्रचीन नाटककारों में भास (क) रामायण पर आधारित नाटकः-(1.) अभिषेकनाटकम् (2.) प्रतिमानाटकम्,(ख) महाभारत पर आधारित नाटकः-(3.) मध्यमव्यायोगः,(4.) दूतवाक्यम्, (5.) कर्णभार, (6.) उरुभंगम्, (7.) दूतघटोत्कचम्, तथा (8.) पञ्चरात्रम्, (ग) भागवत-कथा आधारित नाटक-(9.) बालचरितम्, (घ) लोककथा-आधारित नाटक- (10.) चारुदत्तम् तथा (11.) अविमारकम्, (ङ) उदयन की कथा पर आधारित नाटक-(12.) प्रतिज्ञायौगन्धरायन और (13.) स्वप्नवासवदत्तम्, शूद्रक (मृच्छकटिकम्), विशाखदत्त (मुद्राराक्षसम्), हर्ष (प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द), भवभूति (मालतीमाधवम्, उत्तररामचरितम्, महावीरचरितम्), भट्टनारायण (वेणीसंहारम्) इत्यादि हैं। कुछ नाटककारों ने प्रहसन आदि के द्वारा अपने युग के जन-जीवन के विकृत पक्ष पर व्यङ्ग्यपूर्ण दृष्टि डाली है। प्राचीन महाकवियों में अश्वघोष (बुद्धचरितम्, सौन्दरानन्दम्), भारवि (किरातार्जुनीयम्), भट्टि (रावणवधम्), माघ (शिशुपालवधम्), कुमारदास (जानकीहरणम्), माधवभट्ट (राघवपाण्डवीय),हरदत्तसूरि (राघवनैषधीय), चिदम्बर (राघवपाण्डवयादवीय), विद्यामाधव (पार्वतीरुक्मिणीय), वेंकटाध्वरि (यादवराघवीय), क्षेमेन्द्र (रामायणमञ्जरी और

महाभारतमञ्जरी), श्रीहर्ष (नैषधीयचरितम्), मंखक (श्रीकण्ठचरितम्) इत्यादि हैं। बिल्हण (विक्रमाङ्कदेवचरितम्), कल्हण (राजतरङ्गिणी), पद्मगुप्त (नवसाहसाङ्कचरितम्), जल्हण (सोमपालविलास), हेमचन्द्र (कुमारपालचरितम्) आदि ने ऐतिहासिक काव्य लिखे हैं।

गीतिकाव्यों या लघुकाव्यों के प्राचीन लेखकों में भर्तृहरि (नीति, शृंगार और वैराग्य-शतक), अमरुक (अमरुशतकम्), जयदेव (गीतगोविन्दम्), जगन्नाथ (भामिनीविलास) इत्यादि प्रसिद्ध हैं। गद्यकवियों में सुबन्धु (वासवदत्ता), बाणभट्ट (हर्षचरितम् तथा कादम्बरी), दण्डी (दशकुमारचरितम्), अम्बिकादत्त व्यास (शिवराजविजयम्) इत्यादि विख्यात हैं।

चम्पू-काव्यों में त्रिविक्रमभट्ट (नलचम्पू), सोमदेवसूरि (यशस्तिलकचम्पू), हरिश्चन्द्र (जीवन्धरचम्पू), भोजराज (रामायण-चम्पू), सोढ्ढल (उदयसुन्दरी कथा), अनन्तभट्ट (भारतचम्पू) परिगणित हैं।

संस्कृत साहित्य की समीक्षा के विषय में भरतमुनि (नाट्यशास्त्र), भामह (काव्यालङ्कार), दण्डी (काव्यादर्श), वामन (काव्यालङ्कारसूत्र), आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक), मम्मट (काव्यप्रकाश), विश्वनाथ (साहित्यदर्पण), जगन्नाथ (रसगङ्गाधर) प्रभृति लेखकों की लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है। इसी प्रकार व्याकरण, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, ज्योतिष् इत्यादि शास्त्रों की स्वतन्त्र एवं दीर्घ परम्परा चली है, जिसमें सहस्राधिक ग्रन्थ संस्कृत के गौरव की वृद्धि करते हैं।

प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएँ

साहित्यकार	प्रसिद्ध कृति	रचनाकाल
भरत मुनि	नाट्यशास्त्रम्	प्रथम शती
भामह	काव्यालंकार	सप्तम शतक
दण्डी	काव्यादर्श	सप्तम शती
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	अष्ठम शती
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	अष्ठम शती
रुद्रट	काव्यालंकार	नवम शती
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	नवम शती
राजशेखर	काव्यमीमांसा	दशम शती
भट्टनायक	हृदयदर्पण	दशम शती
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती,लोचनं च	दशम शती
धनंजय	दशरूपकम्	दशम शती
भोज	सरस्वतीकण्ठाभरणम्,शृंगारप्रकाश	एकादश शती
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	एकादश शती
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा	एकादश शती
मम्मट	काव्यप्रकाश	एकादश शती
रुय्यक	अलंकारसर्वस्वम्	द्वादश शती
हेमचन्द्र	काव्यानुशासनम्	द्वादश शती
जयदेव	चन्द्रालोक	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	एकावली	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रीयम्	त्रयोदश शती

विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	त्रयोदश शती
केशवमिश्र	अलंकारशेखर	षोडश शती
अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा	षोडश शती
जगन्नाथ	रसगंगाधर	सप्तदश शती
चूडामणिदीक्षित	काव्यदर्पण	सप्तदश शती

संस्कृत महाकाव्य—

महाकाव्य का लक्षण— काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय के आचार्य विश्वनाथ द्वारा रचित साहित्यदर्पण में महाकाव्य के स्वरूप तथा गुण-दोषों का शुद्ध वर्णन किया गया है जिसका वर्णन करते हुए आचार्य कहते है

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियों वाऽपिधीरोदात्तगुणान्वितः ।।
एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा ।
श्रृंगार वीर शान्तानामेकोड्.गी रस इश्यते ।।
अड्.गानि, सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः ।
इतिासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सदाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेश्वेकं च फल भवेत ।
आदौ नामस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।
क्वचिद् निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।।
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायां सूचनं भवेत् ।
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवन सागराः ।
सम्भोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्ग पुराध्वराः ।।
रणप्रयाणो पयममन्त्र पुत्रोदयादयः ।
वर्णननीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्ये तरस्य वा ।
नामास्य सर्गो पादेयकथया सर्गनाम तु ।।

महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है। नायक कोई देवता होता है या उच्च वंशोत्पन्न क्षत्रिय होता है। वह धीरोदात्त प्रकृति का नायक होता है। एक वंश के कई राजा भी किसी एक महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। प्रधान रस श्रृगाँर वीर या शान्त होता है और अन्य रस उसके सहायक होते हैं। कथावस्तु नाटक के समान होती है। वह ऐतिहासिक अथवा किसी सज्जन के सत्कर्म से सम्बन्धित हो सकती है। नाटक में वर्णित सभी संधियॉं भी महाकाव्य में होती हैं। पुरुषार्थ - चतुष्ट्य का वर्णन महान काव्यों में किया जाता है और उन चारों पुरुषार्थों में किसी एक पुरुषार्थ की प्राप्ति का लक्ष्य होता है। उसकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन प्रधान होता है। महाकाव्य के आरम्भ में त्रिविध मंगलाचरणें में से एक होना चाहिए। वर्ण्य विषय में कहीं दुर्जनों की निन्दा तो कहीं सज्जनों के गुणों की प्रशंसा। सन्ध्या ,सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, गोधूलि, दिन,

अन्धकार, प्रेमियों का मिलन और वियोग, आखेट, ऋषि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, आक्रमण, विवाह, उपदेश, पुत्रजन्म आदि सभी प्रकार के वर्णन महाकाव्य में होते हैं। छन्द एक सर्ग में एक ही होता है। सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया जाता है। कभी-कभी एक ही सर्ग में अनेक छन्द भी द्रष्टव्य होते हैं। महाकाव्य में सर्गों की संख्या आठ से अधिक अथवा कम से कम आठ होनी चाहिए। ये सर्ग न तो बहुत छोटे हो और नहीं बहुत बड़े सर्ग के अन्त में आगे आने वाली कथा की सूचना होती है। महाकाव्य का नामकरण कवि वर्ण्य विषय नायक या किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर होता है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसके अन्तर्गत वर्णित विषय के आधार पर होता है।

कविकुलगुरू महाकविकालिदास का परिचय—

कालिदास ने अपने जीवन के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है, किन्तु विद्वत्समाज में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि कालिदास उज्जयिनी के राजा महाराज विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में एक महारत्न थे। उज्जयिनीनरेश महाराजा विक्रमादित्य की अभिरुपभूयिष्ठा सभा को अलंकृत करने वाले कालिदास के 8 ग्रन्थ माने जाते हैं। दो महाकाव्य – कुमारसम्भव एवं रघुवंश, एक खण्डकाव्य – मेघदूत, दो स्फुट काव्य – ऋतुसंहार और श्रृंगारतिलक तथा तीन नाटक - एक अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय। कुछ लोग नलोदय और श्रुतबोध को भी इन्ही की कृति मानते हैं। विद्वानों की परम्परा में अनेक कालिदास होने की बात प्रसिद्ध हैं। दशम शताब्दी में वर्तमान राजशेखर कवि ने अपने काव्यमीमांसा में तीन कालिदासों का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त एकादश शताब्दी में राजा भोज के दरबार में भी एक कालिदास थे, इसका पता वल्लाल कवि- प्रणीत भोजप्रबन्ध से लगता हैं। अनेक कालिदासों को देखकर कुछ आलोचकों ने यह भी माना है कि जैसे आद्यस्वामी शंकराचार्य की परम्परा पर चलने वाले आगे के संन्यासियों को शंकराचार्य कह दिया जाता है, वैसे ही आदि कालिदास के समान कविता करने वाले कवि को भी कालिदास कहने लग गये थे। इसलिए संस्कृत में अनेक कालिदासों की उपलब्धि विभिन्न समयों में होती है। जो कुछ हो, विद्वान् लोग इस कल्पना कैसे स्वयं समझ लें।

महाकविकालिदास का समय—

कालिदास के समय के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर कालिदास की सत्ता ई0 पू0 प्रथम से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक मानी है। इस सम्बन्ध में प्रधान रुप से दो मत हैं। एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन प्राचीन मत के पोषक संस्कृत के भारतीय विद्वान् हैं और अर्वाचीन मत के अनुयायी अंग्रेजी के पाश्चात्य विद्वान् तथा इसके अनुकरण करने वाले कुछ भारतीय विद्वान् हैं।

कालिदास के समय के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद—

कालिदास ने प्रथम शताब्दी के शुंगवंशी राजा अग्निमित्र को अपने माल-विकाग्निमित्र नाटक का नायक बनाया है और षष्ठ शताब्दी के महाराज हर्षवर्द्धन के दरबार के महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में कालिदास की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः कालिदास का समय ई0 पू0 एक से लेकर षष्ठ शताब्दी के बीच में कहीं होना चाहिए। इस आधार पर कालिदास के समय के सम्बन्ध में प्रधान रुप से तीन मत उपस्थित होते हैं।

1. कालिदास षष्ठ शताब्दी में थे।
2. कालिदास गुप्तनरेशों के समय में थे।

3. कालिदास की सत्ता ई0 पू0 प्रथम शताब्दी में थी।

महाकविभारवि का परिचय—

'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के रचयिता के रूप में तथा संस्कृत महाकाव्यों के इतिहास में कालिदास के बाद भारवि का नाम विख्यात है। इन्होंने महाकाव्य के विचित्र मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमें भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर ही अधिक बल रहता है। पाण्डित्य-प्रकर्ष की अभिव्यक्ति और मूल विषय का त्याग करके लम्बे वर्णनों में उलझ जाना इस मार्ग की विशिष्टता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अश्वघोष में भी थी किन्तु वे विषय का त्याग नहीं करते थे। भारवि के बाद के कवियों ने दोनों को अपनाया। इसलिए भारवि का एक विशिष्ट स्थान है।

महाकविभारवि का समय—

भारवि का समय मुख्यतः वाह्य प्रमाणों पर ही आश्रित है। अपनी एकमात्र रचना 'किरातार्जुनीयम्' में ऐसा कोई संकेत इन्होंने नहीं दिया है जिससे इनके काल का निश्चय हो सके। महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपालवध' की रचना स्पष्टतः भारवि के महाकाव्य की ख्याति से प्रेरित होकर प्रतिस्पर्धा में ही की थी। माघ का समय 675 ई॰ के आसापास माना जाता है। अतः भारवि को इन रचनाओं के कुछ पूर्व उक्त कालावधि में रखा जा सकता है। बाण द्वारा अपने हर्षचरित के प्रस्तावना में भारवि का उल्लेख न होना कुछ विद्वानों को खटकता है किन्तु इसे दो कारणों से स्पष्ट किया जा सकता है। पहली बात यह है कि बाण के समय (7 वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) में उत्तरभारत में भारवि अधिक विख्यात नहीं हुए होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बाण के आश्रयदाता महाराज हर्षवर्धन के शत्रु पुलिकेशिन् के अनुज की राजसभा में भारवि थे। अतः बाण ने उनका उल्लेख नहीं किया।

महाकविमाघ का परिचय—

माघ संस्कृत के प्रसिद्ध कवि थे। वे सर्वश्रेष्ठ संस्कृतमहाकवियों की त्रयी (माघ, भारवि, कालिदास) में अन्यतम हैं। उन्होंने शिशुपालवध नामक केवल एक ही महाकाव्य लिखा। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदिनरेश शिशुपाल के वध का सांगोपांग वर्णन है। उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य - इन तीन गुणों का सुभग सह-अस्तित्व माघ के कमनीय काव्य में मिलता है, अतः "माघे सन्ति त्रयो गुणाः" उनके बारे में सुप्रसिद्ध है। माघ' का जन्म भीन-माल के एक प्रतिष्ठित धनी श्रीमाली ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम दत्तक था।

प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने 625 ई0 के आस-पास अपने 'ब्रह्म्गुप्तसिद्धान्त' को यही बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य लिखा है। हुवेनसांग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। राजा भोज से इनकी बड़ी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। माघ अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिए आये, 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा। सम्भवत: भोज के यहाँ इनका बडा मान था।

महाकविमाघ का समय—

माघ के समय-निरूपण के लिए एक संदेह–हीन प्रमाण उपलब्ध हुआ है। आनन्दवर्धन ने शिशुपालवध के दो पद्यों को ध्वन्यालोक में उदाहरण के लिए उद्धृत किया है- रम्या इति प्राप्तवती: पताका: (3/53) तथा त्रासाकुल: परिपतन् (5/26)। फलत: माघ आनन्दवर्धन (नवम

शती का पूर्वार्ध) से प्राचीन हैं। एक शिलालेख से इसका यथार्थ ज्ञान होता है। डॉ0 कीलहार्न को राजपुताने के 'वसन्तगढ' नामक किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत्682, अर्थात् 625 ई0 है शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। धर्ममान, वर्मनाम, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ भेद पाये जाते हैं। भीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डॉक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को यथार्थत: अभिन्न मानते हैं। अत: सुप्रभदेव का समय 625 ई0 से लेकर700 ई0 के पास है। अत एव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग 650 ई0 से लेकर 700 ई0 तक होगा, अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध मानना उचित है।

महाकविमाघ : ग्रन्थ परिचय—

माघ का केवल एक ही महाकाव्य 'शिशुपालवध' है। श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदिनरेश शिशुपाल के वध का सांगोपांग वर्णनहै। यही 'शिशुपालवध' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। इसका प्रेरणास्रोतमुख्यतया श्रीमद्भागवत है, गौण रूप से महाभारत।वैष्णव माघ के ऊपर भागवत अपना प्रभाव जमाये था। फलत: उसी के आधार पर कथा का विन्यास है। सर्गो की संख्या 20 तथा श्लोको की 1650 (एक हजार छ: सौ पचास)।

महाकवि श्री हर्ष का परिचय—

श्रीहर्ष संस्कृत के महाकवियों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उनका व्यक्तित्व अनुपम एवं उच्चकोटि का है। महाकवि की उत्कृष्ट काव्य कला से प्रभावित होकर उन्हें कविता कामिनी का हर्ष कहा गया है। श्रीहर्ष12 वीं सदी के संस्कृत के प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं। अलंकार विन्यास में निपुण श्रीहर्ष ने अपनी भारती को अलंकारों द्वारा इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्य मूर्ति देखते ही बनती है। अतिश्योक्ति की मनोहर उद्भावना में उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास, विरोधाभास, श्लेष के समुचित प्रयोग में श्रीहर्ष अद्वितीय है। कालिदासोत्तर कलावादी कवियों में श्रीहर्ष सर्वोत्तम है, ये महान कवि होने के साथ-साथ वे बड़े दार्शनिक भी थे। 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया। इसमें न्याय के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया गया है। वे बनारस एवं कन्नौज के गहड़वाल शासकों - विजयचन्द्र एवं जयचन्द्र की राजसभा को सुशोभित करते थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'नैषधीयचरित्' महाकाव्य उनकी कीर्ति का स्थायी स्मारक है। नैषधचरित में निषध देश के शासक नल तथा विदर्भ के शासक भीम की कन्या दमयन्ती के प्रणय सम्बन्धों तथा अन्ततोगत्वा उनके विवाह की कथा का काव्यात्मक वर्णन मिलता है।

महाकवि श्रीहर्ष का समय एवं रचनाएॅ—

संस्कृत साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र महाकवि श्रीहर्ष का सम्बन्ध विद्वानों ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र के साथ माना है। गहड़वाल नृपतियों की राजधानी कन्नौज थी, किन्तु काशी विजय के बाद उन्होंने काशी को ही अपनी राजधानी बनाया प्राचीन लेखमाला के अनुसार जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र श्रीहर्ष के आश्रयदाता थे। विजयचन्द्र की यश प्रशस्ति श्रीहर्ष ने अपनी विजय प्रशस्ति नामक रचना में की है। लेखमाला के 22 वें लेख के अनुसार जयचन्द्र का यौवराज्य दान पत्रनुसार संवत् 1225 अर्थात् 1169 ई0 सिद्ध होता है।

महाकवि श्रीहर्ष ने अनेक ग्रंथों की रचना की इन ग्रन्थों का नाम महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषधीयचरितम् में उल्लेखित किया है— 1- स्थैर्यविचारण प्रकरण 2- विजयप्रशस्ति 3- खण्डनखण्डखाद्य 4- गोडोर्वीशकुलप्रशस्ति 5- अर्णवर्णन 6- छिन्दप्रशस्ति 7- शिवशक्तिसिद्धि 8- नवसाहसांकचरितचम्पू 9- नैषधीयचरितम्

2.3.4 नीतिकाव्य एवं गीतिकाव्य

संस्कृत भाषा में नीति साहित्य का विशाल भण्डार है। इसमें नीति उपदेशों का संग्रह है, नीतिशास्त्र के उद्भावक परमपिता ब्रह्मा, प्रतिष्ठापक भगवान विष्णु और प्रवर्तक शंकर हैं। एक तरफ वैदिक संस्कृत साहित्य में नीति- वचनों का प्रचुर भण्डार पड़ा है वहीं दूसरी ओर लौकिक संस्कृत साहित्य में पुराणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों एवं विभिन्न नाटकों में भी भिन्न-भिन्न धाराओं से परिपूर्ण नीति भण्डार दृष्टिगोचर होता है। नीति -वचनों के विशेष संग्रह वाल्मीकीय रामायण के सप्तम काण्ड में भरे पड़े हैं। महाभारत में भी उद्योग पर्व के आठवें अध्याय में महात्मा विदुर द्वारा कथित नीति-वचन विदुर नीति के नाम से सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार महाभारत के ही भीष्म पर्व के 25 वें तथा 42 वें अध्याय में सम्पूर्ण विश्व में विख्यात श्रीमद्भगवद् गीता तथा योगशास्त्र के साथ-साथ ब्रह्म विद्या से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण नीतिशास्त्र है। महाभारत के शान्ति पर्व का वर्णित राजधर्म तो राजनीति ही है, इन समस्त नीतियों की चर्चा परवर्ती नीति ग्रन्थों में पदे-पदे उद्धृत की गयी, जैसे- विष्णुशर्मा के पंचतंत्र और हितोपदेश आदि में भी महाभारत के नीतियों की चर्चा है। भारतीय इतिहास के महामनीषी चाणक्य ने अपने ग्रंथ कौटिल्य अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नीति-वचनों का वर्णन किया है, इसके अतिरिक्त चाणक्य नीति, चाणक्य नीति दर्पण और चाणक्य नीति सूत्र आदि ग्रंथों में भी उनके नीति वचनों का संग्रह है। दैत्य गुरू शुक्राचार्य ने भी नीति-वचनों का प्रणयन किया है, जिसे शुक्र नीति कहते हैं। कामन्दकीय नीति सार के अतिरिक्त कामदेव सेमेन्द्र द्वारा नीति कल्प तरू और सोमदेव सूरी कृत्य नीति वाक्यामृत आदि नीति ग्रन्थ भी संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके पश्चात् वर्तमान में सुप्रसिद्ध एवं प्रशंसा पात्र नीति नियमों के रचयिता भर्तृहरि द्वारा नीति शतक की रचना की गयी जो लोक विश्रुत है,विद्यापति और चंडेश्वर ठाकुर का पुरूष परीक्षा तथा राजनीति रत्नाकर आदि नीति के निर्देशक ग्रन्थों भी उपलब्ध हैं। इन समस्त नीति के भण्डार ग्रंथों के अतिरिक्त परामर्श, शिक्षा, मंत्रणा और व्यावहारिक ज्ञान आदि के अनेक ग्रंथ हैं जो नीति परक उपदेश की कोटि में आते हैं। नीति के उपदेश और काव्यों के बीच में विभाजक रेखा अत्यन्त छोटी है, फिर भी यह निर्धारित होता है कि नीति उपदेशात्मक काव्यों की रचना निम्न शैलियों में की गई होगी - कहीं पर दाम्पत्य जीवन के संवाद में, कहीं युगल पशुओं के आलाप में, कहीं शिव पार्वती के परिसंवाद में तो, कहीं पर वक्रोक्ति-अन्योक्ति और प्रहेलिका आदि के रूप में इन नीति परक काव्यों में कहीं पर प्रभु सम्मित वाक्य के द्वारा तथा कहीं पर कान्ता सम्मित उपदेश वाक्य के द्वारा तदरूप मार्गों पर चलने का निर्देश दिया गया है। इन्हीं नीति वचनों के अनुपालन से मनुष्य पुरूषार्थों की प्राप्ति में सिद्ध और सफल हो जाता। इनमें कुछ अत्यन्त प्रचलित एवं सुप्रसिद्ध व्यवहारोपयोगी नीतियों के वर्णन आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

शुक्र नीति का परिचय—

शुक्र नीति में पाँच अध्याय तथा 2200 श्लोक हैं, इसमें लोक व्यवहार का ज्ञान, राजा के कर्तव्य, राजधर्म, दण्डविधान, मंत्री परिषद् आदि के लक्ष्यों का समावेश है। इसके साथ ही साथ स्त्री धर्म, प्रतिमाओं का स्वरूप, विवाद, संधि तथा युद्ध नीति आदि का वर्णन है।

चाणक्य नीति का परिचय—

चाणक्य का जन्म लगभग चार सौ साल पूर्व भारत के तक्षशिला नामक स्थान में हुआ। चाणक्य के बचपन का नाम विष्णुगुप्त शर्मा था। कुटज गोत्र के होने के कारण ये कौटिल्य कहलाये। चणक के पुत्र होने के कारण चाणक्य कहलाये, अपने चातुर्य के कारण भी इन्हें चाणक्य कहा जाता है। ये विद्वान और नीतिमान् थे। भारतीय राजनीति में कूटनीतिज्ञ के रूप में चाणक्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ व सर्वोपरि माना जाता है।

विदुरनीति का परिचय—

धर्म के अवतार महात्मा विदुर अत्यन्त बुद्धिमान, धर्मज्ञ, ईश्वर भक्त, नीतिनिपुण व व्यवहार कुशल थे। महात्मा विदुर धृतराष्ट्र और पाण्डु के छोटे भ्राता थे, ये दासी पुत्र थे इस कारण ये राज्य के अधिकारी नहीं हुए। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् जब धृतराष्ट्र राजा बने तब ये उनके मंत्री बने। विदुर नीति के तो पंडित थे ही इनकी बनायी गई विदुर नीति एक प्रामाणिक नीति मानी गई। महाभारत में उद्योग पर्व के 33वें से 44वें अध्याय तक नीति सम्बन्धी उपदेश संग्रहित हैं इसमें महात्मा विदुर ने राजा धृतराष्ट्र को लोक परलोक की बहुत सी बातें बतायी हैं।

पंचतंत्र में नीति—

पंचतंत्र जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, पाँच तन्त्रों में निबद्ध है। आचार्य विष्णुगुप्त शर्मा द्वारा रचित पंचतंत्र सरल होने के साथ-साथ बड़ा महत्व का है। यह नीति ग्रन्थ प्रत्येक वर्ग के लिए प्रेरणादायी होने के साथ इसकी लोकप्रियता भारत में ही नहीं बल्कि विश्वव्यापी है। कई विदेशी भाषाओं में अनका अनुवाद हुआ है। पंचतंत्र की रचना काल के विषय में कई मतभेद हैं लेकिन कई निष्कर्षों के आधार पर इतिहासकारों ने पंचतंत्र का रचनाकाल 300 ईसा पूर्व के लगभग स्वीकार किया है।

हितोपदेश में नीति—

हितोपदेश नामक ग्रंथ संस्कृत भाषा में वार्तालाप करने में पटुता के साथ ही साथ वाणी की विचित्रता तथा नीति सम्बन्धी विद्या को प्राप्त कराता है। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है - मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और संधि। हितोपदेश की कथाओं के प्रमुखपात्र कौआ, मृग, कछुआ, चूहा, धूर्तगीदड़, मुसाफिर, बिलाव, अंधागिद्ध, संन्यासी, चिड़िया आदि हैं। देखा जाय तो इनमें से अधिकतर जंगली प्राणी, पशु पक्षी हैं। इनके अध्ययन से हमें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। इन कथाओं में मित्रलाभ में 216, सुहृद्भेद में 184, विग्रह में 149 और संधि में 133 श्लोकों की संख्या है।

संस्कृत गीति काव्य—

गीतिकाव्य का अर्थ अंग्रेजी के शब्द 'लिरिक' के समानांतर है। इस पर विद्वानों में मतभेद भी हैं। हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार गीतिकाव्य 'लिरिक' के तत्व बोध के लिए निर्मित आधुनिक शब्द है, जिसका मूलभूतः आधार गीत अथवा गीतिकाव्य है। गीत का प्रयोग प्राचीनतम है और नाट्यशास्त्र में इसके प्रयोग मिलते हैं। 'गीत शब्दितगानयोः(हेमचन्द्र) और गीत गानमिमेसमे (अमरकोश)।

सामान्य शब्दों में गीतिकाव्य का अर्थ है 'गाया जा सकने वाला काव्य' परन्तु प्रत्येक गाए जाने वाले काव्य को गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता। जिस गीत में तीव्र भावानुभूति, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता आदि गुण होते हैं, उसे गीतिकाव्य कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि भारतीय गीतिकाव्य की परम्परा स्फुटतः भारतीय वेदों से पूर्व की है। मानव सभ्यता में गीत की प्राचीन परंपरा है। गीत अथवा संगीत का मानव जीवन में विशेष महत्व है। साहित्यदर्पणकार इस सन्दर्भ में कहते हैं— **'भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्गसमुत्थितम्। एकार्थप्रवणै: पद्यै: सन्धि साग्रयवर्जितम्। खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च'।**

गीतिकाव्य के तीन भेद है। 1.प्रबन्धगीति (खण्डकाव्य), 2.मुक्तकगीति 3.मुक्तक संदोह इनमें से मुक्तकगीति के चार भेद हैं। 1.श्रृंगारमुक्तक, 2.करूणमुक्तक, 3.नीतिमुक्तक 4.वैराग्यमुक्तक इसी प्रकार मुक्तक संदोह के दो भेद है। 1.विषयप्रधान 2.स्तोत्र के रूप में प्राप्त होते है।

प्रबन्धगीति की कोटि में कालिदास कृत मेघदूत में कालिदास ने प्रकृति के अनेक मनोहर चित्रों को प्रस्तुत किया हैं। कालिदास का प्रकृति चेतना में विश्वास है जिसको उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रदर्शित किया है। ऋतुसंहार की भी गणना गीतिकाव्य में की जाती है। इसी प्रकार जयदेवकृत गीतगोविन्द प्रमुख हैं। मुक्तकगीति के अंतर्गत अमरुशतक, भर्तहरि कृत शतकत्रय (श्रृंगारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक)। गोवर्धनाचार्य कृत आर्यासप्तशती, पण्डितराज जगन्नाथ का विलासकाव्य, गंगालहरी। मुक्तक संदोह की कोटि में कालिदास कृत ऋतुसंहार, भामिनीविलास, चंडीशतक आदि की गणना की जा सकती है।

2.3.5 गद्य साहित्य या आख्यान साहित्य

वैदिक साहित्य में गद्य साहित्य का रूप उनमें वर्णित आख्यानों में दिखाई पड़ता है। इन आख्यानों में गद्य के साथ पद्य का भी भाग मिलता है जिसे ''गाथा'' कहते हैं। ऋग्वेद में 'नाराशंसी' गाथाओं का उल्लेख है। संस्कृत गद्य का आरम्भ ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के गद्य में देखा जा सकता है। बहुत दिनों तक सरल स्वाभाविक शैली में गद्य लिखने की परम्परा चलती रही। समय के साथ गद्य में भी काव्य के उपादानों को प्रविष्ट कराने की प्रवृत्ति का जन्म हुवा। आरम्भिक शिलालेखों में गद्य-काव्य प्राप्त होते हैं। संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य की रचना छठी-सातवीं शताब्दी में गद्य काव्य के दण्डी, सुबन्धु एवं बाण्भट्ट के द्वारा की गई। दण्डी का दशकुमारचरितम्, सुबन्धु की वासवदत्ता एवं बाणभट्ट की कादम्बरी तथा हर्षचरितम् संस्कृत साहित्य के उत्कृष्टतम गद्य काव्य हैं। लगभग 1200 वर्ष बाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजयम्' लिखकर बीच के खालीपन को दूर करने का प्रयास किया। इनके अतिरिक्त गद्य रचना विभिन्न कालों में प्रायः बाण का अनुकरण ही प्रतीत होता है। साहित्य की दृष्टि से संस्कृत गद्यकाव्य को हम मुख्यतः छ: भागों में विभाजित कर सकते हैं— 1. वैदिकगद्य, 2. दार्शनिकगद्य, 3. सूत्रात्मकगद्य, 4. पौराणिकगद्य, 5. शास्त्रीयगद्य, 6. लौकिकगद्य।

गद्यकाव्य के भेद एवं प्रकार—

'आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा। कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा'।। अग्निपुराण में (336/12) गद्यकाव्य के पाँच भेदों का वर्णन मिलता है। दण्डी आदि आचार्यों ने संस्कृत गद्यकाव्य के दो ही मुख्य भेद किये हैं- कथा और आख्यायिका । यथा— **अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातय: ।** काव्यादर्श 1/28

प्रमुख संस्कृत गद्यकाव्य—

महाकवि सुबन्धु का परिचय— 'वासदत्ता' नामक गद्यकाव्य के रचयिता सुबन्ध का स्थितिकाल निश्चित नहीं है। निश्चित साक्ष्यों के अभाव में सुबन्धु का काल निर्धारित कर पाना दुरुह कार्य हैं कुछ स्रोतों के आधार पर सुबन्धु का सम्भावित समय प्राप्त किया जा सकता है।

बाणभट्ट का परिचय— बाणभट्ट की तीन कृतियां प्रसिद्ध हैं-हर्षचरित, कादम्बरी और चण्डीशतक। प्रथम दो गद्यकाव्य है और तीसरी कृति पद्यकाव्य है।

महाकवि दण्डी का परिचय— संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सरस गद्य लेखक के रूप में दण्डी का नाम अमर है। बाण के अनन्तर प्रसिद्ध गद्यकार दण्डी हैं। संस्कृत वाङ्मय के विश्रुत महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। इनकी विद्वत्ता की इतनी ख्याति थी कि बाल्मीकि और व्यास की कोटि में इन्हें गिना जाता था। इनका स्थिति काल बाण के पश्चात अर्थात् सातवीं शती ई0 का अन्तिम चरण और आठवीं का पूर्वार्द्ध माना जाता है।**'त्रयो दण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता:'** राजशेखर कि इस उक्ति से ज्ञात होता है कि दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की जो निम्न है—

1- काव्यादर्श, 2- अवन्तिसुन्दरीकथा 3- दशकुमारचरित। 'ओज: समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' इनका यह वाक्य उनके प्रखर गद्यकार होने का साक्षी है।

धनपाल— 10 वीं शती के उत्तरार्ध एवं एकादश शती के पूर्वार्ध में धनपाल ने तिलकमञ्जरी की रचना की। ये राजा भोज के चाचा मुञ्जराज के सभा में सम्मानित कवि थे। राजामुञ्ज ने इनकी काव्य प्रतिभा से अभिभूत होकर उन्हें 'सरस्वती' विरुद्ध के से सम्मानित किया था। तिलकमञ्जरी पर कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है तथा तात्कालिक भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों प्रतिबिम्बित होती हैं, साथ ही तात्कालिक शिल्पकला एवं मूर्तिकला का सुन्दर चित्रण तिलकमञ्जरी में प्राप्त होता है।

वादीभसिंह— 11वीं शताब्दी धनपाल के कुछ दिनों बाद महाकवि वादीभसिंह हुए थे जिन्होंने गद्यचिन्तामणि नामक गद्य काव्य लिखा। ये तमिल राज्य के निवासी थे। इनके नाम से स्याद्वादसिद्धि, नवपदार्थनिश्चय आदि पांच कृतियां निर्दिष्ट हैं।

प्रभाचन्द्र— प्रभाचन्द्र का समय 12 वीं शताब्दी तथा जिनभद्र (13 वीं शताब्दी) था। प्रभाचन्द्र ने गद्यकथाकोष के रूप में 89 कथाओं की काव्य कथा प्रस्तुत की है। इनमें मुख्यत: गुजरात, राजस्थान, मालवा तथा वाराणसी के प्रसिद्ध महापुरुषों की कथाएं हैं।

मेरुतुगाचार्य— 14 वीं शताब्दी में प्रबन्धचिन्तामणि नामक ग्रन्थ के लेखक, मेरुतंग चंद्रप्रभ मुनि के शिष्य थे। प्रबन्ध चिन्तामणि के कुल 11 प्रबन्ध है, जिनमें ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन है।

राजशेखरसूरी— इनका समय 14 वीं शताब्दी है। इनकी कई कृतियां प्रसिद्ध है जिसमें गद्यकाव्य प्रबन्धकोश भी है। इसकी रचना 1405 विक्रमाब्द 1348 ई0 में पूरी हुई थी। इसका दूसरा नाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध भी है क्योंकि इसमें 24 महापुरुषों के जीवन वृत्त हैं। इतिहास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है यद्यपि दन्तकथाओं का भी इसमें समावेश है।

बामनभट्टबाण— 1450 ई0 बामनभट्टबाण का समय है। बाणभट्ट के समान ये भी वत्स गोत्र के थे। तेलंगाना के शासक वेमभोपाल की राज्यसभा में इन्होंने आदर पाया था, उनके जीवनवृत्त को वेमभोपालचरित नामक आख्यायिका में गुम्फित किया। यह हर्षचरित से प्रेरित गद्यकाव्य है।

वेमभोपाल स्वयं भी कवि थे जिन्होंने अमरुशतक पर श्रृंगारमंजरी टीका लिखी थी। बामनभट्ट ने बाण की ख्याति और पौढि का दावा किया है। इन्होंने अन्य भी कई ग्रन्थ लिखे।

विश्वेश्वरपाण्डेय— इनका समय 18 वीं शती का पूर्वार्ध माना गया है। यह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे तथा व्याकरण, दर्शन, साहित्य, के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने विविध विषयों से सम्बन्धित लगभग 20 ग्रन्थों का प्रणयन किया मंदार । मन्दारमञ्जरी इनकी उत्कृष्ट गद्य रचना है जिस पर कादम्बरी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। भाषा सरस एवं ललित कादम्बरी की कथा के समान मुख्य कथा में अनेक कथाओं का नियोजन किया गया है। इनके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं- वैयाकरणसिद्धान्तसुधनिधि, तर्ककुतूहल, श्रृंगारमंजरी, रसचन्द्रिका, अलंकाप्रदीप, रोमावलीशतक आदि।

चम्पूकाव्य परम्परा—

गद्य और पद्य के विशिष्ट सम्मिश्रण से निर्मित काव्य को चम्पू काव्य कहते हैं। गद्य काव्य अपने अर्थगौरव और विन्यास शैली से महिमा मंडित होता है तथा पद्य काव्य सुललित रागलय के साथ रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में गौरवशाली बनता है। इन दोनों के एकत्र सम्मिश्रण में चम्पू काव्य अधिक चमत्कारी होता है। जैसे मनोहर वाद्य के साथ मधुर गान अधिक आनंद प्रदान करता है, वैसे ही अर्थगौरवाश्रित गद्य रागलयाश्रित पद्य के साथ मिलकर अपूर्व काव्य सौन्दर्य को प्रकट करता है।

चम्पू काव्य का लक्षण—

आचार्य दण्डी में 'काव्यादर्श' में गद्य-पद्यमयी रचना को चम्पू कहा है। हेमचन्द्र अपने काव्यानुशासन में चम्पू की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि— **'गद्यपद्यमयीसाड्कासोच्छवासा चम्पू'** इसकी पुष्टि बाग्भट्ट ने भी अपने काव्यानुशासन में की है। डॉ0 सूर्यकान्त ने नृसिंहचम्पू की भूमिका में एक अज्ञात कर्त्तृक चम्पू लक्षण उद्धृत किया है।

चम्पू काव्य का उद्भव एवं विकास—

गद्य तथा पद्य काव्य का उद्भव जैसे अतिप्राचीन काल में ही देखा जाता है, वैसे ही गद्य-पद्यमय चम्पू काव्य का भी प्रकार प्राचीन समय में ही हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में गद्य पद्य का मिश्रण प्राप्त होता है। वहां भी वर्णनात्मक विषय गद्य के द्वारा और भावनात्मक विषय पद्य के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह मिश्र शैली प्रश्न, कठ, मुंडक आदि उपनिषदों में भी देखी जाती है। जो सर्वथा स्वभाविक अकृतिम है। चम्पू की मिश्र शैली में कृत्रिमता समुद्रगुप्त की दिग्विजय प्रशस्ति (३५०ई0) में पाई जाती है, जहां हर क्षण में रस, भाव, गुण, अलंकार, कला, चातुर्य आदि के विधान से सहृदयों को चमत्कृत करने का प्रयास किया है। अतएव यह प्रशस्ति चम्पू काव्य की पूर्णपीठिका मानी जाती है।

हरिषेण के बाद और त्रिविक्रमभट्ट से पूर्व सुबंधु, बाण, दंडी भारवी, माघ, कुमारदास, रत्नाकर आदि महाकवियों ने प्राय: इस मिश्र शैली में काव्य सृष्टि नहीं की इसका कारण मृग्य है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भावों को प्रकटन के निमित्त अनेक शताब्दीयों तक लोकप्रिय माध्यम होने पर भी उत्तर भारतीय भाषा साहित्य में चम्पू काव्य दृढमूल न हो सका। द्रविडी भाषा के साहित्य में सामान्यतः केरली तथा आन्ध्र साहित्य में विशेषता चम्पू काव्य आज भी लोकप्रिय है जिसके प्रणयन की ओर कवि जनों का ध्यान आकृष्ट है।

कथा साहित्य की परम्परा—

कथा शब्द कथ् धातु से 'चितिपूजिककथिकुम्बिचीज्वश्सचेति' सूत्र से अङ् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ् में अजाद्यष्टाप् सूत्र से टाप् प्रत्यय मिश्रण से निष्पन्न होता है। कथ धातु का अर्थ वाक्य प्रबन्ध अर्थात् वाक्यों के प्रबन्धात्मक विवेचन को कथा कहा जाता है।

कथा साहित्य का उद्भव एवं विकास—

समस्त विश्व के साहित्य में कथा या आख्यान साहित्य का उद्भव सर्वप्रथम भारत में ही हुआ संस्कृत में इन कथा साहित्य की रचना प्रायः उपदेशात्मक काव्य के रूप में हुई है। इन उपदेशों में प्राय: पशु जगत् को माध्यम बनाकर उनके कृत्यों के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण किया गया है। इन उपदेशात्मक नीतिपरक कथाओं ने विश्व को सभी चिंतकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। सरल, सुबोध, भाषा और सीधी-सादी शैली में कथाओं के माध्यम से दिया गया उद्देश्य मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्वशाली है। अखिल विश्व के साहित्य में इन्हीं आंख्यानों के अनुकरण पर पशु कथाऍ प्रचलित है। अंग्रेजी में ऐसे कथाओं को (febkes) कहा जाता है। संस्कृत कथा-साहित्य में एक और विशेषता है। इसमें न तो महाकाव्यों की भांति किसी उदात्त व ऐतिहासिक चरित्र की अवधारणा की गई है और ना ही किसी प्रख्यात पौराणिक आख्यान को प्रश्रय मिला है। इन कथाओं में विशुद्ध रूप से कल्पना का सहारा लिया गया है इनके पात्र भी चलते फिरते जगत् के पात्र हैं। संक्षेप में काल्पनिक जगत्, घटना वैचित्र्य, हास्य, विनोद, कौतूहल तथा गंभीर व्यावहारिक जीवन दर्शन इन कथाओं का मूल प्रतिपाद्य विषय है। साहित्किता कि दृष्टि से भी यह अत्यंत उच्च कोटि की है। सीधी सादी अलंकार वाहिनी भाषा छोटे-छोटे तथा जटिल समायरहीत वाक्य बीच-बीच में सुन्दर उपदेशात्मक पद्यों की अवतारणा, से सभी मिलकार इन कथाओं को उच्च कोटि की साहित्यिक प्रदान करती है। इन कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता है यह कहानियां आज भी देश के कोने-कोने में मौखिक परंपरा में प्रचलित हैं। सामान्य मानव जगत् कथओं में निहित मानवेतर प्राणियों के व्यवहार से जो शिक्षा ग्रहण करता है, वह मानवीय व्यवहार से ग्रहण की गई शिक्षा से कहीं अधिक महत्वशालिनी है। संस्कृत की इन कथाकृतियों में मूलत: दो प्रकार की कथाएं हैं। 1. लौकिक कथाऍ 2. नीतिपरक या उपदेशात्मक कथाऍ। लौकिक कथओं का सर्वप्रसिद्ध एवं अतिप्राचीन कथा संग्रह 'बृहत्कथा' है। नीतिपरक व उपदेशात्मक कथा संग्रहों में पंचतत्र तथा हितोपदेश विशेष उल्लेखनीय है।

बोध प्रश्न-1

निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिये -

1. निम्नलिखित में आदि कवि कौन है।

क. कबीरदास ख. तुलसीदास ग. वाल्मीकि घ. इनमें से कोई नहीं

2. रामायण के रचनाकार है।

क. आनन्दवर्द्धन ख. वाल्मीकि ग. तुलसीदास घ. कालीदास

3. रावण का वध किसने किया था।

क. रामचन्द्र ख. कृष्ण ग. ब्रह्मा घ. शिव

4. संस्कृत की आलोचना-परम्परा में कौन 'सिद्धरस' प्रबन्ध कहा जाता है

क. रामायण ख. महाभारत ग. ध्वन्यालोक घ. कोई नहीं

5. 'चरित्र ही मानवता की कसौटी है' किसका कथन है।

क. कालीदास ख. भतृहरि ग. वाल्मीकि घ. तुलसीदास

6. निम्नलिखित में किसे मर्यादा पुरूषोत्तम से सम्बोधित किया गया है।
   क. राम ख. कृष्ण ग. वासुदेव घ. तुलसी
7. 'रामो द्विर्नाभिभाषते' का अर्थ है।
   क. राम दो बात बोलते थे।
   ख. राम कभी दो बात नहीं बोलते थे।
   ग. राम हमेशा बोलते थे।
   घ. कोई नहीं
8. रामायण महाकाव्य का अंगीरस क्या है।
   क. रौद्र ख. श्रृंगार ग. करूण घ. वीभत्स
9. रामायण महाकाव्य की नायिका कौन है।
   क. सीता ख. अनुसूया ग. सावित्री घ. कोई नहीं
10. निम्नलिखित में राष्ट्र का नायक होता है।
   क. राजा ख. रानी ग. कवि घ. मन्त्री

11. मुख्य रूप से काव्य के कितने भेद माने गए हैं-
(क) तीन (ख) चार (ग) छः (घ) दो
12. साहित्य की दृष्टि से संस्कृत गद्यकाव्य को मुख्यतः कितने भागों में विभाजित कर सकते हैं-
(क) तीन (ख) छः (ग) चार (घ) दो
13. महाभाष्य के रचयिता हैं-
(क) मनु (ख) पाणिनी (ग) कौटिल्य (घ) पतञ्जलि

बोध प्रश्न -2 हॉ या नहीं में उत्तर दीजिए।
1. वैदिक साहित्य में 4 वेद आते हैं।
2. कालिदास के नाटक संस्कृत के महाकाव्य माने जाते हैं।
3. संस्कृत को इसीलिए प्राचीन भाषा कहते हैं कि वह आज किसी भाषाई समुदाय में व्यवहार की भाषा नहीं है।
4. मध्यकाल तक सारे भारत में संस्कृत भाषा में साहित्य रचना होती रही।
5. श्रीमद्भगवदगीता वैदिक साहित्य का अंतिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

बोध प्रश्न -3 बहुविकल्पीय प्रश्नः-
1. अर्थशास्त्र के प्रवर्तक हैं-
(क) कौटिल्य (ख) पतञ्जलि (ग) वेदव्यास (घ) कालिदास
2. शावरभाष्य के प्रणेता का क्या नाम है-
(क) शबरस्वामी (ख) शंकराचार्य (ग) आनन्दवर्धन (घ) जयन्त भट्ट
3. न्यायमंजरी के प्रवर्तक हैं-
(क) सायणाचार्य (ख) जयन्त भट्ट(ग) अभिनवगुप्त (घ) शंकराचार्य
4. सुबन्धु का समय किस उत्तकरार्ध में माना गया है-
(क) छठी शताब्दी के (ख) सातवीं शताब्दी के (ग) आठवीं शताब्दी के (घ) नवीं शताब्दी के
5. आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के कितने भेद बताए हैं-
(क) चार (ख) दश (ग) दो (घ) एक

2.4 सारांश

संस्कृत भारत के सांस्कृतिक जीवन की पोषिका रही है। वैदिक संस्कृत साहित्य भारतीय दर्शन का निचोड है। वेद और उपनिषद् आदि ग्रंथ हिंदू धर्म के आधार स्तंभ हैं। परवती लौकिक संस्कृत में रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों और भागवत् आदि पुराणों की रचना हुई। संस्कृत के कालिदास विश्वप्रसिद्ध कवि-नाटककार हैं। संस्कृत में न केवल धर्म संबंधों और साहित्य के ग्रंथ लिखे गए, बल्कि इसमें चिकित्सा, गणित आदि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में भी विपुल साहित्य की रचना की गयी।

संस्कृत भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी भी कही जाती है। इसी भाषा में परिवर्तन के कारण पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाएँ अस्तित्व में आयीं और बाद में आधुनिक आर्य भाषाओं में विकसित हुई। लौकिक संस्कृत भाषा का काल 1500 ई.पू. से 500 ई.पू तक माना जाता है। 1500 ई.पू. में ही संभवत आर्य भारत में आये और वेदों की रचना की। अतः यह वेदों की रचना का काल भी कहा जा सकता है। इससे पहले संस्कृत किस रूप में कहीं थी यह मात्र अनुमान का विषय है। इस युग में संभवतः संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, क्योंकि इसमें प्रयोगों की विविधता मिलती है। ई.पू. 500 के आसपास पाणिनि नामक महान भाषा-वैज्ञानिक ने 'अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्रंथ रचा और संस्कृत भाषा को नियमों में बांधा। उसी समय से लौकिक संस्कृत का काल माना जाता है। इस युग में पूरे भारत में विद्वान साहित्य रचना करते रहे, जबकि यह किसी क्षेत्र की जनभाषा नहीं थी। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि पाणिनि के नियमों के कारण इसमें परिवर्तन नहीं हुए और आज तक यह उसी रूप में व्यवहृत होती आयी है। यों कह सकते हैं कि साहित्यिक संस्कृत स्थिर हो गयी और बोलचाल की भाषा में हुए परिवर्तनों ने क्रम से आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास किया। अत: इस इकाई का अवलोकन कर आप लौकिक काव्य के साहित्यिक, सामाजिक तथा अन्य वैशिष्ट्य को बता सकेंगे।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

स्वहर्गारोहण	–	स्व र्ग पर पहुँचना।
शरशय्या	-	बाणों से बनाये हुये शयन स्थावन को कहा जाता है।
भाराक्रान्त	-	भार से आक्रान्त
उच्चवंशोत्पन्न	-	उच्चवंश में उत्पन्न
अनात्मश्लापघी	-	आत्मश्लानघा से परे
अस्ति	-	है
कश्चित	-	कौन
वाग	-	वाणी
विरही	-	बेचैन
उद्धावक	-	उत्पन्न करने वाला
परोक्ष	-	पींठ पीछे
दीर्घदर्शी	-	दूर तक दृष्टि रखने वाला
हितकारी	-	हित करने वाले
क्षात्रधर्मानुकूल	-	क्षत्रिय धर्म के अनुकूल

रामायण	-	राम और अयन दो शब्दों से मिलकर रामायण शब्द बनता है। अयन का अर्थ है घर, निवास।
नायक	-	ग्रन्थ के वर्णन गौरव के लिये कथावस्तु का श्रेष्ठ संचालक नायक कहलाता है।

2.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1 1.ग. वाल्मीसकि 2. ख. वाल्मीकि 3. क. रामचन्द्रत 4. क रामायण 5. ग. वाल्मी कि 6. क. राम 7. ख. राम कभी दो बात नहीं बोलते थे। 8. ग. करूण 9. क. सीता 10 क. राजा 11. क 12. ख 13. घ

बोध प्रश्न -2 1.नहीं 2. नहीं 3. हॉ 4. हॉ 5. नहीं

बोध प्रश्न -3 1. (क) 2. (क) 3. (ख) 4. (क) 5. (ग)

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय – चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

2. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ वाचस्पति गैरोला – चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

3. बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास शारदा निकेतन5 बी, कस्तूरबा नगर,सिगरा वाराणसी।

4. डॉ0 बाबूराम त्रिपाठी- श्री भर्तृहरि कृत-नीतिशतकम्महालक्ष्मी प्रकाशनशहीद भगतसिंह मार्गआगरा।

5. प्रो0 बालशास्त्री - हितोपदेशव्याकरण विभाग संस्कृत चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

6. डा॰ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' संस्कृत साहित्य का इतिहास।

7. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास।

8. आचार्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण।

2.8 अन्य उपयोगी ग्रंथ

1. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय

2. पुराण विमर्श – आचार्य बलदेव उपाध्याय- चौखम्भा सुरभारती

3. संस्कृत साहित्य का इतिहास – डॉ वाचस्पति गैरोला – चौखम्भा प्रकाशन

4. आचार्य धनंजय-दशरूपक

5. महाकवि भारवि-किरातार्जुनीयम्

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वाल्मीकि का परिचय अपने शब्दों में लिखिये।
2. राम का विस्तृत चरित्र चित्रण कीजिये।
3. व्यास का परिचय अपने शब्दों में लिखिये।
4. कालिदास के जन्म समय के विषय में परिचय दीजिये।
5. माघ और भारवि की कला में अन्तर स्पष्ट कीजिये ।
6. श्री हर्ष के जन्म समय के विषय में परिचय दीजिये।
7. गद्यकाव्य का प्रयोजन सिद्ध कीजिए ?

इकाई- 3 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाएं

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाएं
    3.3.1 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाओं का सामान्य परिचय
3.4 प्रमुख विधाएं
3.5 ग़ज़ल
    3.5.1 - ग़ज़ल का स्वरूप (परिभाषा)
    3.5.2 - ग़ज़ल की संरचना
    3.5.3 - प्रमुख संस्कृत ग़ज़लकार
3.6 आधुनिक छन्द
    3.6.1 सॉनेट
    3.6.2 हाइकु
3.7 लोकगीत
3.8 युगबोधपरक कविताएं
3.9 रेडियो रूपक
3.10 सारांश
3.11 शब्दावली
3.12 अभ्यासार्थ प्रश्न- उत्तर
5.13 उपयोगी पुस्तकें
3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत भाषा में साहित्य सृजन की धारा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तरता के साथ प्रवहमान है। वैदिक काल से लेकर आज तक सतत गतिशील रहने वाला एवं वैश्विक जन समूह को सकारात्मक रूप में प्रभावित करने वाला यह संस्कृत साहित्य सम्पूर्ण साहित्यों मे प्राचीन, अविच्छिन्न व्यापक और कलापूर्ण होने के कारण अद्वितीय है। मध्यकालीन यवन साम्राज्य की विद्वेषपूर्ण व संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण संस्कृत की साहित्य संपदा को नुकसान हुआ पर फिर भी साहित्य का अविराम निर्माण होता रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल से संस्कृत साहित्य रचना में एक नवीनता व परिर्वतन दिखायी पड़ता है। काव्य रचना की शैली, विषयवस्तु एवं काव्यनिर्मिति के प्रयोजन की दृष्टि से एक नवोन्मेष दृष्टि में आता है और लेखन पद्धति में अधिक व्यापकता और स्वाभाविकता का समावेश दिखाई पड़ता है। ''भारतपारिजातम्'' नामक महाकाव्य में प्रणेता भगवदाचार्य ने 'संस्कृत के प्रति मोह' को काव्य रचना का प्रयोजन बताया है। श्रीपाद हरसूरकर ने श्रीशिखगुरुचरितामृतम् की प्रस्तावना में लोक जाग्रति को प्रयोजन बताया है। इसी तरह यशःप्राप्ति, अर्थप्राप्ति से आगे बढ़कर समाजहित, छात्रहित, प्रेरणा, संस्कृति व संस्कृत की सेवा काव्य रचना मे नये प्रयोजन स्थापित किये गए हैं।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संस्कृत में आधुनिक रचनाओं के स्वरूप को जान सकेगें।
- आधुनिक संस्कृत रचना में छन्दों को जान सकेगें।
- संस्कृत ग़ज़लो से परिचित हो सकेगें।
- आधुनिक संस्कृत रचना के नवीन काव्य प्रयोजन जान सकेगें।
- वैदेशिक छन्दों में संस्कृत साहित्य रचना से परिचित हो सकेगें।

3.3 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाएं

3.3.1 संस्कृत साहित्य की आधुनिक विधाओं का सामान्य परिचय

संस्कृत साहित्य रचना परम्परा के आधुनिक कालखण्ड में विविध नूतन विधाओं के आविर्भाव व रूपान्तरित विधाओं के प्रयोग के साथ यह परम्परा निरन्तर पल्लवित व पुष्पित हो रही है। समृद्ध शब्दकोश एवं परम वैज्ञानिक व्याकरण होने से अत्यन्त विश्वसनीय संस्कृत भाषा प्राचीन शैली और भावबोध परम रचनाओं सहित युगानुकूल नवोन्मेशी रचनाओं की नूतन विधाओं में सर्जना के अप्रतिम अवसर प्रदान करती है। आधुनिक कालखण्ड में भी निरन्तर नवीन शैली की श्रेष्ठ रचनाएं विशालतम शब्दकोश वाली संस्कृत भाषा की अद्भुत सृजन शक्ति व जीवन्तता का बोध कराती है। आधुनिक संस्कृत साहित्य रचना में प्राचीन छन्दों के साथ साथ नये छंद विधान एवं वैदेशिक छंदो का अनुकरण भी दिखाई पड़ता है। संस्कृत रचनाकारों मे छन्दोमुक्त नवकाव्य रचना के प्रति आकर्षण बड़ा है।

3.4 प्रमुख विधाएं

वस्तुतः अमरवाणी संस्कृत आदिकाल से ही साधना, निष्ठा एवं तपश्चर्या की भाषा रही है। संस्कृत में रचना धर्मिता की तापस प्रकृति के कारण ही इतिहास के सभी काल खण्डों में उसका प्रवाह निरन्तर बना रहा है। संस्कृत रचना की प्रमुख आधुनिक विधाएं आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्त, गज़ल, कव्वाली, गीतियां, उपन्यास, लघुकथा, हास्यकणिका, मुक्तककाव्य, रेडियो रूपक, सॉनेट, हाइकु, तान्का, सीजो आदि हैं।

3.5 गज़ल

भाषा और धरोहर का अनुपम मिश्रण संस्कृत की अद्वितीय विशेषता है। आधुनिक संस्कृत साहित्य मात्रा, विषय वैविध्य तथा विधा बाहुल्य के स्तर पर अन्य किसी भी भारतीय भाषा के समकक्ष है। संस्कृत कवियों ने नए नए प्रयोग कर पौराणिक मिथकों को पुनर्नवा रूप में प्रस्तुत कर संस्कृत की संजीवनी शक्ति को स्थापित किया है। संस्कृत गज़ल का एक समृद्ध परिदृश्य प्राप्त होता है। परन्तु गज़ल लोकधर्मी प्रयोग नहीं है यह आंचलिक न होकर वैदेशिक छन्द है। एवं गज़ल परम्परागत संस्कृत छन्दशास्त्र से इतर अस्तित्व लिये हुये है आधुनिक संस्कृत काव्य में गज़ल की एक सुदीर्घ परम्परा दिखाई दे रही है। गज़ल मूलतः अरबी शब्द है। काव्य विधा के रूप में गज़ल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ईरानवासी रौदकी (840 - 940) ने किया। कालांतर में फारसी भाषा में इस विधा का आगमन हुआ जो बाद में उर्दू की मुख्य साहित्य विधाके रूप में प्रसिद्ध हुई। यह अरवी साहित्य की सुप्रसिद्ध व लोकप्रिय काव्यविधा है। जो बाद में फारसी, उर्दू, हिन्दी, नेपाली और अब संस्कृत साहित्य में भी अत्यन्त लोकप्रिय हो रही है। ईरानी और भारतीय संगीत के सम्मिश्रण से इस विधा को गाने के लिए संगीत की अलग शैली निर्मित हुई।

3.5.1 - गज़ल का स्वरूप (परिभाषा)

गज़ल का सर्वसाधारण अर्थ प्रेमिका से बातचीत का माध्यम लिया जाता है। उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय रघुपतिसहाय फिराक गोरखपुरी के अनुसार दर्द में निकले करुण स्वर को गज़ल कहते हैं। उनके शब्दो में **'विवशता का दिव्यतम रूप में प्रगट होना, स्वर का करुणतम हो जाना ही गज़ल का आदर्श है।'**

अंग्रेजों के शासनकाल के समय जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान्, फारसी एवं संस्कृत दोनों भाषाओं के श्रेष्ठ कवि महामहोपाध्याय भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने गज़ल गीत को फारसी गज़लकारों की तरह ही संस्कृतभाषा में भी प्रतिष्ठित किया। अतः संस्कृत गज़लों के पहले रचनाकार भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जी माने जाते हैं। तदनन्तर संस्कृत की गज़ल परम्परा को विकसित करने में आचार्य बच्चूलाल अवस्थी का नाम अग्रगण्य है। मुगलवंश के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह जफर के शासनकाल में मिर्जा गालिब नाम के एक महान कवि थे जिन्हें गज़ल का बाहशाह कहा जाता है। मिर्जा गालिब की परम्परा में मीर आदि प्रसिद्ध गज़लकार हुए जिन्होंने फारसी से समानता रखने वाली उर्दू भाषा में गज़लें कीं। उर्दूभाषा की यही गज़ल परम्परा बीसवीं सदी के आरम्भ में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जी द्वारा संस्कृतभाषा में भी प्रचलित हुई। शास्त्री जी के साहित्यवैभवम् तथा गीतिवीथी नाम से प्रकाशित दो काव्य संग्रहों में लगभग 22 बहरों का प्रयोग करते हुए रची गई अनेकों गज़ल गीतियां संकलित हैं। संस्कृत में इस गज़ल परम्परा को विशेषरूप से आचार्य बच्चूलाल अवस्थी ने आगे बड़ाया। सहृदय मन को अभिव्यक्त करने वाली करुणतम रचना होने के कारण ही अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने इस विधा का संस्कृत नामकरण

गलज्जला या गलज्जलिका किया। ''अभिराजयशोभूषणम्'' नामक काव्य लक्षण ग्रन्थ में ग़ज़ल का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा- ग़ज़ल नामक गीति सम्वेदना से ओत प्रोत होती है जिसमें प्रेम की गंभीरता तथा नैष्ठिकता वर्णित होती है। प्रो. मिश्र ने ग़ज़ल का गलज्जलिका नामकरण भी किया है नेत्र जल की वृष्टि कराने के कारण इस गीति को गलज्जलिका कहते हैं। आचार्य मिश्र जी ने इस बात का उल्लेख अपनी कृति वाग्वधूटी में करते हुए कहा कि- सर्वप्रथम मैंने ही ग़ज़लगीति के लिए गलज्जलिका शब्द का प्रयोग किया है।

3.5.2 - ग़ज़ल की संरचना(मतला, मक्ता, शेर)

सामान्यभाषा में जिसे मुखड़ा कहा जाता है ग़ज़ल का वह प्रारम्भिक युगल वाक्य फारसी में मतला कहा जाता है। और यह मूल भाव को प्रकाशित करता है। अन्तिम बन्ध को मक्ता कहते हैं। मतला व मक्ता के मध्य आने वाले बन्ध शेर कहलाते हैं। जो मूलभाव के पोषक अथवा भिन्न अभिप्रायों के प्रकाशक हो सकते हैं। संस्कृत निष्ठ संरघटना में इसे मतला को आरम्भिका, शेर को मध्यिका, और मक्ता को अन्तिका कहते हैं। इस प्रकार मतला आदि से युक्त फारसी भाषा की ग़ज़लगीति ही संस्कृतनिष्ठ आरम्भिका, मध्यिका, अन्तिका से सुशोभित गलज्जलिका है।

संस्कृत कविता की तरह अक्षर विस्तार की जो स्थिति गणों से प्रदर्शित होती है उसी तरह ग़ज़ल की भी एक सुन्दर गण व्यवस्था है जिसे बहर कहते हैं। इस गीति विधा में नाना प्रकार का बन्ध विस्तर दिखाई पड़ता है। इसको प्रदर्शित करने लिए फारसी में बहर शब्द का प्रयोग किया जाता है। ग़ज़ल गीति में कहीं छोटी तो कहीं बड़ी बहर दिखाई पड़ती हैं जो ग़ज़लकारों की क्षमता की परिचायक होती हैं। यह सुनिश्चित है कि किस बहर में कौन सा गणक्रम प्रयोग में लाया जायेगा। संस्कृत छन्दशास्त्र में गणों के विस्तार का जैसा क्रम वार्णिक छन्दों में एक अक्षर से प्रारम्भ होकर 26 अक्षरों जैसा होता है उसी तरह बहर में विस्तारक्रम में अगणित वृत्त जन्म लेते हैं।

3.5.3 - प्रमुख संस्कृत ग़ज़लकार

संस्कृत साहित्य में ग़ज़ल के प्रवर्तक के रूप में महामहोपाध्याय भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का नाम अग्रगण्य है। अनेक बहरों में ग़ज़ल रचना करते हुए उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ग़ज़ल किसी भाषा विशेष का एकाधिकार नहीं है अपितु यह एक ऐसा शिल्प है जो भावात्मक सम्वेदना की अभिव्यक्ति का सफल सन्धान करता। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने ब्रज भाषा के दोहा, सोरठा, कवित्त सवैया, घनाक्षरी का संस्कृत भाषा में प्रयोग किया है इसके अतिरिक्त ग़ज़ल को फारसी ग़ज़लकारों जैसी प्रतिष्ठा के साथ संस्कृत में प्रणीत किया। भट्ट जी का ग़ज़ल लेखन के प्रति जो दृष्टिकोण था उसमें उनकी शास्त्रीय दृष्टि और विधिवत सैद्धान्तिक प्रक्रिया अनुस्यूत थी। इन विधाओं के व्यापक फलक पर संस्कृत कविता को स्थापित करने के लिये भट्ट जी ने सार्थक प्रयत्न किये जिससे संस्कृत भाषा को युगानुरूप और सरल तरल आलोक में प्रस्तुत किया जा सके। उन्होंने अपने विशाल मुक्तक संकलन 'साहित्यवैभवम्' में 'उर्दू छन्दासि' शीर्षक अध्याय में छोटी-बड़ी 19 बहरों के नाम, लक्षण देकर स्वनिर्मित ग़ज़लों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। इन विविध भावभूमियों, विभिन्न छन्दों और शैलियों की ग़ज़लों में कव्वालियाँ भी हैं, नात भी, प्रेम गीतियाँ हैं, नीति उपदेशात्मकगीतियाँ भी, युगीन विद्रूपताओं पर प्रहार भी हैं और क्रान्ति का आह्वान भी। उर्दू शैली की उनकी एक छोटी बहर की ग़ज़ल दृष्टव्य है

रतिविगमोऽद्य मानसे कोऽयम्
अवमनुते मुधैव लोकोऽयम्
विरहकृशं विलोक्य मामाह
न परिचिनोमि वर्तते कोऽयम्?
अयि भिषजो! मुधा निदानं वः
दुरवगमो ममाऽस्ति रोगोऽयम् (गीतिवीथी - 56/30)

यहाँ विरहावस्था तो पूर्णतः उर्दू भावभूमि की है परन्तु बिम्ब भारतीय संस्कृति से जुड़े हुये हैं। इसी प्रकार निर्ममता का उलाहना और मन की पीड़ा को न समझने की अनुदारता को व्यक्त करती हुई

वस्तुतः इस कालखण्ड के बाद भट्ट जी की ही शैली में गिरिधर शर्मा नवरत्न, रामनाथ प्रणयी, जानकी वल्लभ शास्त्री, हरिशास्त्री आदि कवियों ने इस विधा को पल्लवित एवं पुष्पित किया, तदनन्तर पं० बच्चूलाल अवस्थी ने व्याकरण भाषा में सही वजन और चलन की गजलें लिखकर संस्कृत पाठकों को चमत्कृत कर दिया उनकी गजलों में संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ गज़ल की नजाकत भी विद्यमान है। उन्होंने अपनी रचना प्रतानिनी में प्रेम, आशिकी, आँसू, वियोग से विलग नये भावबोध की गज़ल का रंग अत्यन्त विलक्षण प्रस्तुत किया है। वस्तुतस्तु बच्चूलाल अवस्थी ने विरह मिलन की अनुभूतियों को तो उर्दू काव्य परम्परा में रससिक्त होकर ही लिखा परन्तु कल्पना की मौलिकता और भारतीय मिथकों एवं बिम्बों के तीर सन्धान ने उसे और पैना बना दिया। इस सदी के अन्तिम दो-तीन दशकों में पं० जगन्नाथ पाठक और अभिराज राजेन्द्र मिश्र जैसे श्रेष्ठ कवियों ने नये रूप से पाठकों का परिचय कराया।

पं० जगन्नाथ जी की गजलों में मनोवेदना और सूक्ष्म भावों की व्यञ्जना है। उर्दू फारसी की गज़ल शैली पर आधारित गीतियाँ अपनी रागात्मकता से हृदय में अलौकिक आनन्द का संचार करती हैं। 'कापिशायिनी' में कवि ने वैयक्तिक प्रेम की सम्पूर्ण मधुशाला को एक ही चषक में पी लिया है। यह चषक प्रिया की ऐसी मधुर मुस्कान है जो पूरी मधुशाला पर भारी है। पाठकजी के काव्य में साधना चिन्तन और विकास की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। वह समाज की विद्रूपताओं को किनारे खड़े रहकर देखते हैं और जब दृष्टा की चेतना साक्षीभाव से जुड़ जाती है तो उनका लौकिक भाव अलौकिक बन जाता है। आपकी गज़ल और रुबाइयों में सौन्दर्य, बोध, लय और बिम्बों की नवीनता बहुत ही चित्ताकर्षक है। गालिबकाव्य को 'गालिबकाव्यम्' बना देने वाले पाठक जी निस्संदेह स्मरणीय हैं। उनकी पिपासा में गज़ल की तृष्णामयी अनुभूति है। परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके काव्य में जहाँ सोहर, कजरी और क्षेत्रीय लोकगीतों की महक है वहीं मधुपर्णी, मत्तवारणी और शालभञ्जिका की गज़ल गीतियों में सम्पूर्ण विश्व की चेतना संरक्षित है। मिश्र जी की गज़लों में वेदना, अन्तर्द्वन्द और विरह का ताप ही नहीं अपितु वैयक्तिक अनुभूतियों का उदात्त चित्रण हैं। अभिराज ने गज़ल विधा को जिस नए भावबोध के साथ उतारा है उसमें संस्कृत भाषा की निष्ठा भी विद्यमान है और उर्दू, फारसी की परम्परा भी। यद्यपि उर्दू गज़ल में शब्दों की मात्राओं के साथ छेड़छाड़ करके गज़ल के वजन और चलन पर दृष्टि रखी जाती है परन्तु संस्कृत गज़ल लिखना तलवार की धार पर चलने जैसा है जिसमें सन्तुलन पर दृष्टि रखनी होती है। परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने रदीक और काफिए के आकर्षक संयोजन के साथ अपनी बहुरंगी गजलों के रंग काव्य क्षितिज पर बिखेरे हैं, मत्तवारणी की भूमिका में आपने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने गजलों को उनके पुश्तैनी बाड़े

(हुस्न इश्क) से बाहर निकालने का यत्न किया है और उन्हें एक बड़ा कैनवास प्रदान किया है जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्रलोक तथा विश्वसमरस है।

वास्तव में अभिराज की गजलो में कथ्य की व्यापकता है, विषयवस्तु की विविधता है और अनेकों बिम्ब एवं प्रतीकों की सहजग्राह्यता है। वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा एवं मधुपर्णी के प्रणयी कवि ने प्रौढ़त्व के छैनी हथौड़े से शालभञ्जिका को गढ़ा है। इसमें झर-झर बहते आँसुओं में प्रिय बिछोह की पीड़ा नहीं, प्रिया से मिलने की तृष्णा नहीं और न ही भोग की चाह है, अब तो सांसारिक कामनाओं के अंकुर सूख गये हैं यह जीवन मुक्ति की तृष्णा में जिया जा रहा है।

शोषमापादिताः सर्वभावाङराः
जीवनं जीव्यते काम्यया साम्प्रतम् (शालभञ्जिका- 134/4)

यही मुक्ति हमारी धरोहर है, परम पुरुषार्थ है जिसके समक्ष लौकिक, यश-अपयश बौने हो जाते हैं। संस्कृत की ग़ज़ल में भावबोध का यही नयापन उसे उर्दू की ग़ज़ल से विलग करता है। संस्कृत साधक का उद्देश्य परमतत्व में एकाकार होना है। प्रेम की लौकिक बात भी अलौकिक प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त समाज के गिरते मूल्य, दोहरे मानदण्ड और परपीड़ा के लिये अभिराज ने जो आचार संहिता निश्चित की है उससे कुछ सामाजिक विसंगतियाँ दूर की जा सकती हैं। आज व्यक्ति अपने दुःख से दुखी नहीं है अपितु दूसरों के सुख से दुःखी है, निरन्तर दूसरों के लिये अवरोध खड़े करता है -

कंटकशिखाऽप्यसह्या प्रतिभाति चेत्वदङ्गे
प्रतिवेशिनित्यमार्गे तदलं निखन्य शंकुम् (मत्तवारणी - 80/4).

आपको काँटे की पीड़ा भी असह्य है और दूसरे के मार्ग में खूँटा गाढ़ने में भी आपको लज्जा नहीं आती कैसा दोहरा व्यक्तित्व है। यहाँ इस शेर में गूढार्थ यह है कि काँटे के चुभने में और खूँटे के गाढ़ने में उद्देश्य भिन्नता है। प्रथमतः काँटा अनायास चुभता है और उसकी पीड़ा भी बहुत छोटे भाग पर होती है और फिर काँटा चुभने में दूसरे के द्वारा जानबूझकर कष्ट देना निहित नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत खूँटा गाढ़ते समय हमें उस विशिष्ट स्थान की तलाश है जहाँ से हमारा प्रतिवेशी नित्य गुजरता है। और फिर खूँटे से टकराने पर पता नहीं चोट कहाँ-कहाँ लगे। यहाँ पड़ोसी को पीड़ा देने में हमारा कलुष चिन्तन कार्यरत है।

प्रेम काव्य की आत्मा है भले ही वह पति-पत्नी का दाम्पत्य प्रेम हो, प्रिया के प्रति समर्पण हो, मात-पिता के प्रति समादर हो, भाई बहिन के प्रति स्नेह हो अथवा अपने देश के लिये मर मिटने का संकल्प हो । प्रेम का सूक्ष्म तन्तु प्रत्येक सम्बन्ध में उसकी चेतना बनकर रहता है। अभिराज ने जिस प्रेम को स्थायी और प्रशंसनीय स्वीकार किया है वह क्षुप के समान धीरे-धीरे विकसित प्रीति है।

अभिराज की विशेषताओं के पुञ्ज को यदि एक शब्द में कहने की शर्त हो तो कहा जा सकता है कि वे बेवाक हैं। वास्तव में उनकी समस्त कृतियों में उनके व्यक्तित्व की पारदर्शिता झलकती है वे जो कहते हैं, वही करते हैं। बाह्य आडम्बर न तो उनके चरित्र और व्यक्तित्व में है और न ही वे ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं।

गज़ल के कैन्वस पर यद्यपि अन्य व्यक्तियों ने भी अपने रंगों को उतारने का प्रयास किया है परन्तु वह उतना स्पष्ट नहीं है। जनार्दन प्रसाद मणि की गोखराणां का कथा यद्यपि गज़ल के समीपवर्ती है परन्तु गीत और गज़ल के मध्य की क्षीणतर रेखा का स्पर्श करते हुये।

इच्छाराम द्विवेदी के प्रश्नचिह्न शीर्षक में लगभग 31 गज़ल संगृहीत हैं। जो भिन्न-भिन्न विषयों को अंगीकृत करके लिखी गई हैं जिसमें कहीं अपने देश की निदाघ कथा है तो कहीं सामाजिक मूल्यों के पतन का निदर्शन है। परन्तु इन गजलों को पढ़ने पर विशुद्ध गज़ल की अनुभूति नहीं होती। इनमें न तो उर्दू शायरी की नज़ाकत है और न ही उसकी लयात्मक गति। कई स्थान पर छोटी बहर की गज़लें बहुत ही सपाट और नीरस प्रतीत होती है। हाँ यह अवश्य है कि कुछ गज़लों में उनका प्रयास सराहनीय है। प्रणवरचनावली में चन्दनत्वं गताः की गेयता प्रभावित करती है।

प्रायः प्रणव की गज़लों में भी प्रेम एवं वियोग के स्थान पर सामाजिक विद्रूपताएँ ही जीवित हैं। राष्ट्रीय प्रेम समाज के गिरते मूल्य, चारित्रिक पतन एवं कुछ मिथकीय प्रयोग कवि ने अपनी गज़लों में किये हैं। सम्भवतः इसका उद्देश्य गज़ल के नवीन आयामों को प्रस्तुत करना रहा होगा।

3.6 आधुनिक छन्द

अर्वाचीन संस्कृत काव्य में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है उसमें छन्दों पर किये गये नवप्रयोग भी उल्लेखनीय है। भले ही वह देशी छन्दों की बात हो अथवा विदेशी छन्दों की कवि ने छन्द शास्त्र की परम्परा से चार कदम आगे बढ़कर स्वयं को लोकधर्मी सिद्ध करने का प्रयास किया है। अतः इस नवप्रयोग में जो भारत की जमीन से जुड़े छान्दस नवप्रयोग हैं उन्हें लोकधर्मी छन्द कहा गया है।

3.6.1 सॉनेट

संस्कृत में अनेकों नाट्यकृतियों के रचनाकार श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने संस्कृत कविता का सॉनेट छन्द से परिचय कराया। सॉनेट अंग्रेजी कविता का प्रसिद्ध छन्द है। एक सॉनेट में चौदह पंक्तियाँ होती हैं और एक ही छन्द में एक कविता पूर्ण हो जाती है। भट्टाचार्य जी ने अपने सॉनेट संग्रह को ‘कलापिका’ के नाम से कलकत्ता (1969 ई०) से प्रकाशित कराया। शेक्सपियर के सॉनेट विधान का प्रभाव इस संग्रह पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पहली एवं तीसरी में तथा दूसरी और चौथी पंक्ति में अत्यानुप्रास का निर्वाह और छन्दोविधान की रक्षा भी कवि ने यहाँ की है। वीरेन्द्र कुमार जी ने सॉनेट का संस्कृत नामकरण संस्तबक किया है। ये समस्त संस्तबक उनके पूर्ण समर्पण एवं साहित्य साधना का परिणाम है। उन्होंने अंग्रेजी के इस छन्द को उसी के विधान में संस्कृत भाषा का उत्तरीय पहनाकर अपनी कल्पना और भाषा सौष्ठव के समन्वय का पूर्णतः निर्वाह किया है। इस प्रकार भट्टाचार्य जी ने सॉनेट को संस्कृत साहित्य में उतारकर विदेशी छन्दों की रचनाधर्मिता का सूत्रपात किया।

इसी श्रृंखला में हर्षदेव माधव ने सॉनेट को उसी भावभूमि में लिखकर संस्कृत साहित्य को विश्वचेतना से जोड़ा है। यद्यपि हाइकू माधव का प्रिय छन्द है परन्तु सॉनेट को भी उन्होंने उतनी ही खूबसूरती से अपने साहित्य में उतारा है। हर्षदेव माधव प्रयोगधर्मी कवि कहे जाते रहे हैं। प्रत्येक छन्द, प्रत्येक विधा के साथ नये-नये प्रयोग करना उनकी जादूगरी है। वे कुछ भी लिख सकते हैं। शब्दों के खेल से कहीं नीचे गिरते शब्द चित्रकाव्य बन जाते हैं तो कहीं शब्दों का

ऊँचा नीचा लेखा-जोखा उसे ग्राफ काव्य का रूप दे देता है। कहीं मदारी और जमूरे के संवाद कविता कह उठते हैं तो कहीं समुद्र और नदी टेलीफोन पर बात करते दिखाई देते हैं, कहीं पहेली है तो कहीं रिक्त स्थानों की पूर्ति, कहीं शब्दों का मेल करने का खेल कविता बन जाता है। अतः माधव कोई भी छन्द को सीधे-सीधे लिखने वाले कवि नहीं हैं। जहाँ सॉनेट सा में उन्होंने चौदह पंक्तियां लिखकर उसकी गति यति का पूर्णतः निर्वाह किया है वहीं छन्दोविधान के दायरे में रहकर भी उन्होंने अन्य स्थान पर सॉनेट का वार्तालाप रूप प्रस्तुत किया है। इसमें प्रिय और प्रियतमा का पारस्परिक संवाद है। प्रिया अपनी रूपराशि पर गर्वित है अतः उसे लगता है कि प्रियतम का स्नेह भ्रमर सदृश है जो फूल के म्लान होने पर नष्ट हो जाता है परन्तु प्रियतम का प्रत्युत्तर बहुत ही सटीक है कि हे प्रिया यौवन श्री भले ही नष्ट हो जाये परन्तु स्मृतियों की सुगन्ध सदैव बाँधती है। अतः यदि उन यादों को संजोकर रखा जाए तो व्यक्ति जीवन भर उसी ऊष्मा में जीता है। स्मृति सुगन्ध के सदृश ही माधव ने पुष्पं परन्तु सॉनेट भी लिखा है ये दोनों ही सॉनेट संवादात्मक शैली में लिखे गये हैं। "पुष्पं परन्तु" में प्रिया को आशंका है कि प्रिय भ्रमर द्वारा भुक्त पुष्प के समान उसकी देह को ही चाहता है और आनन्द के उपरान्त उसे त्याग देता है परन्तु हर्षदेव कहते हैं कि वास्तव में भ्रमर को तो पल भर का सुख मिलता है परन्तु पुष्प का तो जीवन ही सफल हो जाता है।

डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी ने यद्यपि बहुलता से इस छन्द का प्रयोग नहीं किया है परन्तु सन्धानम् के लक्ष्य में सॉनेट आ ही गया है। उन्होंने है दो सॉनेट सन्धानम् में लिखे हैं। इससे प्रतीत होता है कि डॉ० त्रिपाठी अर्वाचीन छन्दोविधान के ऐसे सहयात्री हैं जो देशी विदेशी सभी छन्दों का सहज प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। उनके गद्य में ही आधुनिकता का संचरण नहीं है अपितु काव्य की गति भी समयानुकूल सज्जित होती है। अन्वेषणम् सॉनेट में यति और गति का पूर्ण निर्वाह करते हुये चौदह पंक्तियों में उसे नियमबद्धता से समायोजित किया है। परन्तु एक बात निश्चित रूप से आधुनिक संस्कृत कवियों में दिखाई देती है कि इस प्रकार के नवप्रयोग उन्होंने अपनी बहुआयामी प्रतिभा को सिद्ध करने के लिये ही किये हैं। उनमें उनके काव्य की स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता दिखाई देती है।

3.6.2 हाइकु

जापानी काव्य विधा का सफल प्रयोग हाइकु कहा जा सकता है। इसमें 17 अक्षरों का प्रयोग करके सूत्र के सदृश भावाभिव्यक्ति होती है। यह अक्षर 5-7-5 के क्रम में तीन पंक्तियों में होते हैं इस विषय में झीणाभाई देसाई कहते हैं पाँच-पाँच की पहली और तीसरी पंक्ति से सधने वाला संवाद एवं बीच की टेढ़ी पंक्ति मानो दो पलड़ों को सन्तुलित रखने वाला केन्द्र ! एक बार इस आकार से हमारी रसवृत्ति अभ्यस्त हो जाए तो फिर उसमें से नये-नये उन्मेष जन्मने लगते हैं। यह भी हाइकु सृष्टि का एक अनूठा आनन्द है।

डॉ० अरुणोदय जानी हाइकु के विषय में कहते हैं कि **पादत्रयात्मके सप्तदशाक्षरेऽस्मिन पंक्ति 5-7-5 संख्याका वर्णा सन्तिः। अतः हाइकु इत्यपरपर्यायस्यास्य सत्तरी, सत्तराक्षरी, त्रिदलम् इति नामान्तराणि। हर्षदेवस्तु एतस्य बिल्वपत्रम् इवान्वर्धकं नाम कल्पयति।**

हर्षदेव माधव हाइकु की तीन पंक्तियों को त्रिगुणात्मक विश्वव्यापकता के साथ रखते हैं और हाइकु को बिल्वपत्र कहना पसंद करते हैं। **हाइकुकाव्यमपि त्रिचरणमयं तस्यापि त्रीणि**

चरणानि वर्तन्ते, अतः सूचयति त्रिगुणसमन्वितं विश्वदर्शनप्रभुत्वम्। हाइकु-होऽकु-सत्तरी-सत्तराक्षरी-त्रिदलं-बिल्वपत्रं इत्यादि बहूनि नामानि वर्तन्ते हाइकुमहोदयस्य, किन्तु बिल्वपत्रमेव कथयिष्यामि।

वस्तुतः हाइकु में कवि स्वयं कुछ नहीं कहता छोटा सा यह त्रिदल सब कुछ कह जाता है। यद्यपि सुभाषितों में भी अन्योक्ति भाव को कम शब्दों में व्यक्त किया जाता है परन्तु उनका काव्य उद्देश्य केवल सदाचार एवं उपदेश की सर्जना करना होता है जबकि हाइकु में क्षण भर की संवेदना सम्पूर्ण जीवन का दर्शन समझा जाती है। वास्तव में इसमें बिम्बदृप्रतिबिम्ब का संयोजन बहुत प्रभावी होता है। हर्षदेव माधव ने हाइकु के लक्षण इस प्रकार निर्देशित किये हैं

1. चमत्कृति - ऐसी चमत्कृति जिसमें ध्वनि हो।

2. लाघव - ऐसा लाघव जो शब्द स्वामी ही साधसके। लाघव हो परन्तु काव्यार्थ के लिये हानिकारक न हो।

3.जिसमें काव्य की विविध वाक्छटाएँ भरी हों तथा कल्पना वैभव हो।

4. उसमें प्रकृति सहित सर्व विषय स्वीकार्य हों।

5. हाइकु स्वयं एक सौन्दर्य का अनुभव है।

6. हाइकु में स्वतन्त्र होने पर भी किसी भी छन्द के साथ योजना की जा सकती है।

वस्तुतः कल्पना की सृष्टि से युक्त होने के कारण हाइकु कल्पनावादी कवियों के लिये एक श्रेष्ठ छन्द योजना है। परन्तु यह कल्पना परम्परिक न होकर नवीनता लिये होती है मेघ का इन्द्रधनुष के कंधे से बाल संवारना दृश्यकल्पन की मनोहारी योजना है।

हाइकु में टेलीग्राफिक भाषा का प्रयोग होता है। इसमें एक वाक्य शब्द में और एक खण्ड वाक्य में समाहित हो जाता है। यही उसका वैशिष्ट्य है और यही अर्थगौरव भी। परन्तु हाइकु के भावक का सूक्ष्मदृष्टा होना आवश्यक है जिससे वह अन्तःस्थल में प्रवेश कर सके। इस प्रकार जापानी काव्यविधा हाइकु सूचना, ध्वनि और व्यञ्जना प्रधान काव्य कला का सूक्ष्म शिल्प है। इसमें कम से कम शब्दों में काव्य सिद्धि की जाती है। अतः हाइकु के पाठक को बहुत ही धैर्य के साथ उसकी भावभूमि पर उतरना पड़ता है। इसमें बिम्ब, प्रतीक एवं मिथकों द्वारा गागर में सागर समाने की कला का प्रयोग किया जाता है। जब भी इसे अन्योक्ति, व्यंग्य और कटाक्ष के साथ उतारा जाता है तब यह और भी वेधक बन जाता है।

घुणा खादिता ग्रन्थाः कपोताः सुप्ताः पुस्तकालये।(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि 32/317)

ग्रन्थों में घुन का लगना और पुस्कालय में अनेकों कबूतरों का सोना वहाँ की जनशून्यता को दर्शाता है। यह शून्यता घुन खाई किताबों के कारण थी अथवा व्यक्तियों के द्वारा उपयोग में न लेने के कारण किताबों में घुन लगा यह भावक की भावयित्री प्रतिभा पर निर्भर है। कारण कई हो सकते हैं सम्भवतः वे पुस्तकें बहुत उपयोगी नहीं हैं, पुस्तकालय शहर से बहुत दूर है, सरकारी अनुदान के अभाव में कर्मचारियों की नियुक्ति नहीं हो पा रही अथवा ग्रन्थालय का वातावरण प्रतिकूल है। इन सब बातों को यह हाइकु अपने में सहेजे हुये है आप जैसा सोचते हैं वैसा ही अर्थ उसमें से निकाल सकते हैं।

हर्षदेव माधव ने हाइकु की विविधता से भी पाठकों का परिचय कराया है। वे परम्परागत छन्द-शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, वसन्ततिलका आदि को भी हाइकु के स्वरूप में उतारने हेतु प्रयास कर रहे हैं। भले ही इसके लिये छन्दों को खण्डित करने का दोष भी उन पर लगाया जाता रहा है परन्तु छान्दस तत्व को दृष्टि में रखकर उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार करके

प्रयोगशीलता को निभाया है और ऐसे प्रयोगों द्वारा हाइकु में व्याप्त सम्भावनाओं की ओर संकेत भी किया है।

अतः उन्होंने जापानी छन्द हाइकु को भी भारतीय परिवेश में लिखा है। वात्सायन के कामसूत्र की अभिसारिका जब इस लघुछन्द में कैद की जाती है तो कितनी सरल हो जाती है -

अभिसारिका
हस्ते दीपः नेत्रयो
राग्नेयकीटरू (ऋषेः क्षुब्धे चेतसि 4/33)

रात में उपपति के पास जाने की उत्कण्ठा आँखों में जुगनू की चमक उत्पन्न करती है हाथ में नन्हा दीपक जो हथेली की ओट में भी सुरक्षित नहीं है तेज वायु से कभी भी बुझ सकता है। नायिका के नेत्रों में विविध भाव जुगनू की चमक के समान स्पन्दित हैं। कभी किसी के देख लेने का भय तो कभी मिलन का आनन्द । दीपक आशा का प्रतीक है और जुगनू अस्थायित्व का । वस्तुतः एक छोटा सा हाइकु एक पूरी प्रेम कथा का गवाह बन जाता है। यही है बिम्ब प्रतिबिम्ब और कवि की संवेदनात्मक दृष्टि का प्रवाह। यद्यपि अन्य कवियों ने भी हाइकु पर कुछ प्रयोग किये हैं परन्तु माधव के द्वारा लिखे गये हाइकु बहुत ही स्वाभाविक एवं मुखर हैं।

3.7 लोकगीत

अर्वाचीन संस्कृत काव्य में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है उसमें छन्दों पर किये गये नवप्रयोग भी उल्लेखनीय है। भले ही वह देशी छन्दों की बात हो अथवा विदेशी छन्दों की कवि ने छन्द शास्त्र की परम्परा से चार कदम आगे बढ़कर स्वयं को लोकधर्मी सिद्ध करने का प्रयास किया है। अतः इस नवप्रयोग में जो भारत की जमीन से जुड़े छान्दस नवप्रयोग हैं उन्हें लोकधर्मी छन्द कहा गया है।

अभिराजयशोभूषणम् में डॉ० मिश्र ने गीतभेद निरूपण करते हुये लिखा है कि कर्ण कुहरों के लिये जो गीत अमृत तुल्य होता है वह धातु और मातु से समन्वित होकर नादात्मक एवं अक्षरात्मक इन दो रूपों में विभक्त है। धातुज गीत उसे कहते हैं जो वेणु तथा वीणा आदि यन्त्र समूह से प्रस्फुटित होता है। मातुज गीत को मुँह से कढ़ने वाला भी कहते हैं जो कि गायन के रूप में विद्यमान है। यही गीत जब शास्त्रसम्मत रागों के माध्यम से गाया जाता है तो उस प्रकार के गीत काव्यों को रागकाव्य कहते हैं और जो गीत स्वतन्त्र रीति से सम्प्राप्त कण्ठध्वनि के अनुसार सुखपूर्वक तथा जनपद, ग्राम, कुल, जाति की परम्परा के अनुसार गाया जाता है वह संगीतशास्त्र नियमों से रहित बन्धनमुक्त आनन्द देने वाला गीत लोकगीत कहा जाता है।

तच्च सघोरसानन्ददायकं गतबन्धनम्
शास्त्रनियमनिर्मुक्तं लोकगीतं समुच्चते (254/7)

यहाँ पर रागकाव्य के लिये संगीत शास्त्रसम्मत होने की बात कही गई है और लोकगीतों के लिये जो राग प्रयुक्त किये जाते हैं उनका लोकसम्मत होना आवश्यक है। परन्तु लोकधर्मी छन्दों को प्रयोग करने का उद्देश्य परम्परागत छन्दशास्त्र का उल्लंघन करना अथवा उसकी अवहेलना नहीं था अपितु संस्कृत को जन-जन से जोड़ना है। जब संस्कृत के छन्दों में तत्कालीन समाज और संस्कृति की महक सुवासित होती है जो वह व्यक्तियों को खुद से जोड़ लेती है। वहाँ के आंचलिक छन्द लय के कारण अपरिचित भाषा को भी आत्मसात करने की क्षमता रखते हैं। इन छन्दों में सोहर, रसिया, लोरी, गज़ल, लावनी, ठुमरी, कजरी, कव्वाली आदि लोकगीत

सम्मिलित हैं। क्योंकि यह गीत जनपद, गाँव, कुल तथा स्वजातीय परम्परा के अनुसार कण्ठ-ध्वनि के वैशिष्ट्य से गाये जाते हैं अतः इन्हें लोकगीत कहते हैं। जनपद के अनुसार रसिक (रसिया) लोकगीत ब्रजक्षेत्र में बाउल बंगाल में, पण्डवानी छत्तीसगढ़ में, रागिणी हरियाणा में, सोहर, स्कन्धहारीय चैत्रक, नकटा, पचरा, वटुक, फाग उत्तर प्रदेश में, डाँडिया गुजरात में और अभंग महाराष्ट्र में गाया जाता है। परन्तु ब्रजक्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों को संस्कृत में यथावत रूप से उतारकर जन-जन में लोकप्रिय बनाने का श्रेय ब्रज के मूर्धन्य साहित्यकार वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी को है उन्होंने इस प्रकार के अनेकों लोकगीतों को संस्कृत की ऊष्मा से और भी आकर्षक बना दिया है, एक प्रसिद्ध गीत है -

मैं तौ गोवर्धन कूं जाऊं मेरे वीर नाय मानै मेरौ मनुआ।
अहं तु गोवर्धनं गमिष्यामि मनुते नैव मनो मे(ब्रजगन्धा)

इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत भाषा की लोकप्रियता और जन-जन के कर्णमाधुर्य के लिये कुछ संस्कृत गीतियों को फिल्मी धुन आधारित करके लिखा। उनकी एक प्रसिद्ध सरस्वती वन्दना विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय रही। जिसकी मूलधुन थी - तेरी प्यारी प्यारी सूरत को किसी की नजर ना लगे उस पर सरस्वती वन्दना का यह रूप दृष्टव्य है-

धनसारतुषार सुहारसिते
वरवीणा निनादकरी पाहिमात!।
मधुमञ्जुलतामधुमञ्जुलता
सुतनौ सुतनौ सुतनोतुतता।
सततं सतता सुमहास्ययुता
मकरन्दसुधाश्रितरागरता।
सितवारिजवारिजवेशवृते
वरवीणा निनादकरी पाहिमात!(ब्रजगन्धा)

लोकगीतों की इसी परम्परा में श्रावणगीत, रसिया बटुकगीत आदि का उल्लेख भी आधुनिक संस्कृत काव्य में मिलता है।

3.8 युगबोधपरक कविताएं

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मानव जगत ने आश्चर्यजनक उपलब्धियां प्राप्त की है,जिनके कारण इस सदी की जीवन पद्धतियों में अत्यंत तीव्र वेग से परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। मनुष्य का सारा परिवेश परिवर्तित हुआ है और एक नए कलेवर में उपस्थित हुआ है। इसका प्रभाव संस्कृत साहित्य सर्जना पर भी पड़ा है। आधुनिक समय की इन परिस्थितियों में संस्कृत कवियों ने कविता में नए वातावरण के अनुरूप नए नए मानक गढे हैं व नए नए विषयों का चयन किया है। इस प्रवृत्ति के आरंभ का श्रेय आचार्य भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री, कुलभूषण, हर्ष देव माधव, रहसबिहारी द्विवेदी आदि कवियों को जाता है। आधुनिकता के इस कालखंड में अनेक संस्कृत साहित्यकार कवि, गद्यकार मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और उत्तर आधुनिकतावाद की नई वैश्विक विचारधाराओं से अभिप्रेरित व प्रभावित होकर रचना में संलग्न हुए हैं ।मानव जीवन की यह बीसवीं सदी न केवल उसके औद्योगिक व वैज्ञानिक विकास के लिए अपितु नई-नई समस्याओं के जन्म के लिए भी जानी जा सकती है। मानव समाज की मुखर अभिव्यक्ति के लिए आधुनिक संस्कृत साहित्यकार भी पीछे नहीं हैं। संस्कृत साहित्यकारों को

युगबोध की जितनी सूक्ष्म पकड़ होती है शायद वह अन्यत्र दुर्लभ हो। आज के समय में पर्यावरण संरक्षण ,जिसमें कि जल संरक्षण, वायु संरक्षण, मृदा संरक्षण आदि महत्वपूर्ण विषय शामिल किए जा सकते हैं। आचार्य निरंजन मिश्रा रचित गंगापुत्रावदानम् युगबोध परक रचनाओं का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। वर्तमान समय में घटित निर्भया कांड जैसी अत्यंत दुःखदाई घटनाएं, जो कि मानव समाज को उद्वेलित करती हैं, साथ ही कन्या भ्रूण हत्या, सांप्रदायिक विद्वेष ,महंगाई, शिक्षा का गिरता स्तर, आज के युगबोध के विषय हैं जिन पर संस्कृत कवियों ने अपनी ललित लेखनी को बड़ी ही उत्कृष्टता के साथ बढ़ाया है।

बीसवीं शताब्दी में लिखी जा रही संस्कृत कविताएं न केवल भारत देश में अपितु सारे विश्व में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थलों पर हो रहे विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों व परिस्थितियों के प्रभाव का प्रमाण देती हैं। जिस तरह पारंपरिक रूढ़ विषयों पर संस्कृत साहित्यकारों की लेखनी अविराम गति से चलती आ रही है उसी तरह नवीन स्थितियों और नवीन विषयों पर संस्कृत कविता ने सीधी प्रतिक्रिया देना प्रारंभ किया है ।स्वतंत्रता प्राप्ति के समय व तत्पश्चात के वातावरण को प्रतिबिंबित करते हुए बहुसंख्यक काव्य संस्कृत में लिखे गए हैं। विदेशी आक्रमणों और बांग्लादेश के मुक्ति संग्राम आदि के विषय को लेकर भी संस्कृत कवियों ने काव्य लिखे हैं। इस युग में गांधीवाद का प्रभाव व अन्य विचारधाराओं का प्रभाव भी देखा जा सकता है जिसका प्रभाव संस्कृत कविता पर पड़ा है। यद्यपि तात्कालिक युगबोध की दृष्टि से की जाने वाली इन रचनाओं में साहित्य के शाश्वत मूल्यों और शाश्वत सौंदर्य बोध का प्रभाव कम ही परिलक्षित होता है तथापि समकालीनता को समझने के लिए यह साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी अपनी पुस्तक आधुनिक संस्कृत साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों में लिखते हैं कि "रस बोध की दृष्टि से अवश्य चीन तथा पाकिस्तान के संग्राम के अवसर पर लिखी गई रचनाओं में वीर रस और राष्ट्र के प्रति प्रेम का परिपाक हुआ है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि पारंपरिक रस बोध की कविता समकालीन सर्जना की धारा से जुड़ कर राष्ट्र के प्रति चिंता और विश्वजनीन मानवता के प्रति जागरूकता की भावना से संचालित हुई है।" आचार्य त्रिपाठी का यह मानना एकांगी हो सकता है परंतु यदि संस्कृत कविता के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दृष्टिपात करें तो संस्कृत कविता हर युग में प्रासंगिक और नवीन रही है और उसमें समसामयिक युगबोध के साथ सर्वकालिक व सार्वभौम युगबोध की प्रवृत्ति रही है। युगबोध परक रचनाओं के लिए विशेष रूप से हम पंडित बटुकनाथ शास्त्री खिलाते, डॉ. बीआर राघवन, पंडित राम करण शर्मा, प्रोफेसर शिवजी उपाध्याय, अभिराज राजेंद्र मिश्र, डॉ राधा वल्लभ त्रिपाठी ,हर्षदेव माधव, डॉक्टर निरंजन मिश्रा, पंडित शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, प्रोफेसर कमला पांडे, प्रोफेसर कौशलेंद्र पांडे आदि की रचनाओं को देख सकते हैं। युगबोध परक दृष्टि से की जा रही संस्कृत साहित्य की सर्जना अत्यंत मार्मिक, प्रभावशाली व लोक कल्याणकारी है। इन रचनाओं छंद विधान की बाध्यता से भी मुक्त होकर जो रचनाएं की जा रही हैं, उनसे वर्तमान समय की समस्याओं व उनसे उत्पन्न विकराल परिस्थितियों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया का सहज बोध प्राप्त होता है, जिसमें मानव मन की संवेदनाएं धैर्य की सीमा को अतिक्रमण कर फूटने को तैयार हैं।

पंडिता क्षमा राव का सत्याग्रह गीता, स्वराज्य, रामकुमार शर्मा का वृक्कयौतुकम्, निरंजन मिश्र के महाकाव्य व लघु काव्य और इसी प्रकार बहुतेरे कवियों का काव्य संसार संस्कृत कविता में युगबोध का परिचायक दिया है। निरंजन मिश्र अपने गङ्गापुत्रावदानम् तथा

ग्रन्थिबन्धनम् आदि महाकाव्य में समाज की बहुविध प्रवृत्तियों, रूढ़ियों का मार्मिक चित्रण करते हैं ।विवाह की विधियों के निरूपण में लोकजीवन की सरस छटा से अब उसमें आधुनिक रीतिरिवाज भी सम्मिलित हो गये हैं। यथा –

क्वचित्तु विद्युल्लतिकाविधानं
क्वचिच्च दीर्घं चलचित्रगानम्।
क्वचिल्लताभिः शुभसंविधानं
क्वचिच्च सङ्गीतकलानिदानम्।।

धान्यकुट्टन का मनोहर वर्णन निरंजन मिश्रा कवि ने ग्रन्थिबन्धनम् में इस प्रकार किया है-

श्रेष्ठा वदन्ति भो वत्स गार्हस्थ्यं धान्यकुट्टनम्।
कुरु लज्जां विहायाद्य मार्गोऽयं बुधवन्दितः ।।
श्रेष्ठैर्मुसलदण्डस्य ग्रहणैनैव जीवने।
गार्हस्थ्यस्वीकृतिं मन्ये वरो दिशति कर्मणा।।

3.9 रेडियो रूपक

रेडियो रूपक के रूप में आधुनिक काल की प्रचलित वालों का प्रिय साहित्य विधा है किस विधा का प्रयोग अब संस्कृत साहित्य लेखन में भी प्रगति पर है रेडियो फीचर ही अंग्रेजी का शब्द है इसके लिए हिंदी में रेडियो रूपक शब्द का प्रयोग किया जाता है रेडियो रूपक एक ऐसी विधा है जिसमें तथ्यों और उनकी प्रस्तुति के लिए प्रयोग शील तकनीको विशेष महत्व पूर्ण रूप से प्रयोग किया जाता है अनेक प्रसिद्ध रेडियो रूपक प्रस्तुतकर्ता ओं ने रेडियो रूपक की जो परिभाषाएं दी हैं उन्होंने किसी न किसी रूप में इनके प्रयोग से प्रयोग शील तकनीकी पक्षों को विशेष महत्वपूर्ण माना है स्टैनले फील्ड नए प्रोफेशनल ब्रॉडकास्ट ट्राइटर हैंडबुक नामक पुस्तक में रेडियो फीचर की परिभाषा देते हुए लिखा है कि रेडियो फीचर का प्राथमिक उद्देश्य श्रोताओं को जानकारी देना है और मनोरंजन करना है।

लुई मैथिली द्वारा दी गई रूपक की परिभाषा के अनुसार रेडियो रूपक वास्तविकता की वह नाटक की प्रस्तुति होती है जिसमें रिपोर्टर या कैमरामैन की बनिस्बत अधिक संवेदनशील चयनकर्ता होना चाहिए रेडियो रूपक प्रस्तुतकर्ता को वास्तविक सामग्री का चुनाव करते समय भिन्न भिन्न दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ताकि संपूर्ण प्रस्तुति नाटक जैसी प्रभावकारी साबित हो सके। सुप्रसिद्ध रेडियो रूपककार व प्रसारणकर्मी जीसी अवस्थी ने अपनी पुस्तक ब्रॉडकास्टिंग इन इंडिया में लिखा है रेडियो रूपक लेखन एक तकनीकी काम है। आज संस्कृत साहित्य सर्जन कर्ताओं में भी रेडियो रूपक कि यह साहित्य विधा अत्यंत लोकप्रियता को हासिल कर रही है।

रेडियो रूपक की विभिन्न परिभाषा ओं पर विचार करने पर रेडियो रूपक के संदर्भ में निम्नांकित तथ्य उभरकर सामने आते हैं रेडियो रूपक साहित्य लेखन की एक विशेष तकनीक है रेडियो रूपक का आलेख पत्थरों पर आधारित होना चाहिए।

3.10 सारांश

इस पाठ में हमने संस्कृत साहित्य की लंबी विकास यात्रा को ध्यान में रखते हुए आधुनिक काल में संस्कृत साहित्य की प्रमुख प्रचलित विधाओं का विशेष परिचय प्राप्त किया है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी आदि आधुनिक काल के प्रमुख संस्कृत काव्य के इतिहासकारों के अनुसार 19वीं शताब्दी के साथ संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ माना गया है।

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से संस्कृत साहित्य की सर्जना में गद्य तथा वस्तु परकता की ओर झुकाव बढ़ता हुआ देखा जाता है। तथापि पद्य विधा की लोकप्रियता कम नहीं रही है। राष्ट्रीय नवजागरण तथा पुनरुत्थानवाद का गहरा प्रभाव इस कालखंड में लिखे गए संस्कृत साहित्य में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। धीरे-धीरे संस्कृत का रचनाकार अपनी सामाजिक चेतना को प्रखर करता आया है। 19 वीं शताब्दी के अंतिम तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में राष्ट्रवाद की चेतना व समाजवाद की चेतना में संस्कृत के अनेक गीत व काव्य रचे गए हैं। इनमें सामाजिक चेतना, यथार्थ बोध, व्यक्तिवाद का उदय, वैश्विक विचारधाराओं का प्रभाव, विडंबना शैली व विषयों की नवीनता दिखाई पड़ती है। हमने इस पाठ में बड़ी सहजता के साथ पारंपरिक विधाओं में नव भाव बोध और नवीन छंद विधान का परिचय प्राप्त किया है। नवीन छंदोविधान की दिशा में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक नए प्रयोग किए गए हैं। आधुनिक इतिहास ग्रंथों के अनुसार फारसी उर्दू काव्य परंपरा के छंदों का संस्कृत कविता में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य रचना की एक अलग विशेषता है। जिसका सूत्रपात भट्ट मथुरानाथ शास्त्री से होता है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने दोहा, सोरठा ,कवित्त, सवैया, घनाक्षरी इत्यादि के साथ-साथ उर्दू के काव्य से गजल छंद को लेकर अपने काव्य वैभव का चमत्कार संस्कृत रचना में प्रकट किया है। जगन्नाथ पाठक, राजेंद्र मिश्र, बच्चू लाल अवस्थी, इच्छा राम द्विवेदी आदि इस विधा के चमत्कारी कवि संस्कृत में हुए हैं । इस कालखंड में अनेक कवियों ने लोकगीतों की मधुरिमा से आकृष्ट होकर संस्कृत काव्य रचना में नए नए प्रयोग किए। श्री भाष्यम् विजयसारथी नामक कवि ने तेलुगु भाषा के लोकप्रिय प्रचलित छंदोंको संस्कृत भाषा में कविता के लिए अपनाया। अभिराज राजेंद्र मिश्र की लोकगीत की परक रचनाएं अत्यंत लोकप्रिय हुई हैं।

वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य नाम के एक कवि ने अपने कविता संग्रह कलापिका में सानेट का प्रयोग संस्कृत रचना में किया है। प्रसिद्ध कवि हर्ष देव माधव ने तीन हजार के लगभग जापानी भाषा के हाइकु छंद संस्कृत में लिखे हैं। इसी तरह हाइकु की भांति ताका छंद भी जापानी काव्य का एक प्रचलित छंद है, जिसमें माधव तथा कुछ अन्य कवियों ने अपनी रचनाएं की हैं। इसी प्रकार हर्ष देव माधव ने कोरिया देश की कविताओं से शिजो नामक छंद को लेकर भी संस्कृत कविताएं रची हैं । इस प्रकार हमने इस पाठ में संस्कृत साहित्य रचना के आधुनिक काल खंड में हुए नए-नए प्रयोगों को नवीन विषय विधान व नवीन छंदोविधान की दृष्टि से जाना है।

3.11 शब्दावली

अविच्छिन्न	-	युक्त
नवोन्मेषी	-	नवीनता प्रकट करने वाला
मिथक	-	भ्रान्ति
पुनर्नवा	-	पुनः नवीन हुई
अभिव्यक्ति	-	विचार प्रगट करना
वैयक्तिक	-	व्यक्तिगत
असह्य	-	न सहने योग्य
सिद्धहस्त	-	प्रवीण
जनशून्यता	-	मानव रहित होना

अवहेलना - अपमान

3.12 अभ्यासार्थ प्रश्न- उत्तर

बोध/अभ्यास प्रश्न

प्रश्न.1 आधुनिक संस्कृत रचना में प्रयुक्त होने वाले 4 छन्दों के नाम लिखिए।

उत्तर - गजल, सॉनेट,शीजो, हाइकु।

प्रश्न.2 गज़ल की शुरूआत मूलतः किस भाषा में हुई थी ?

उत्तर - अरबी फारसी में।

प्रश्न.3 संस्कृत साहित्य में गज़ल को लाने का श्रेय किस आचार्य को जाता है ?

उत्तर - भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री को।

प्रश्न.4 हाइकु मूलरूप से किस देश का छन्द माना जाता है ?

उत्तर- जापान का।

प्रश्न.5 अभिराजराजेन्द्र मिश्र के अनुसार गज़ल को संस्कृत भाषा में क्या कहते हैं ?

उत्तर- गलज्जलिका।

3.13 उपयोगी पुस्तकें

1. साहित्यवैभवम् - भट्ट मथुरानाथ शास्त्री,निर्णय सागर प्रेस मुम्बई 1930
2. गीतिवीथी - भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस मुम्बई 1930
3. वाग्वधूटी - प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र
4. मत्तवारणी - प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र
5. शालभञ्जिका - प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र
6. मृद्वीका - प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र
7. प्रतानिनी - पं० बच्चूलाल अवस्थी
8. निष्क्रान्ता सर्वे - हर्षदेव माधव
9. कलापिका - श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य
10. संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र- प्रो.अभिराजराजेन्द्र मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण 2010 ईस्वी
11. आधुनिक सस्कृत काव्य परम्परा - श्री केशवराव मुसलगावकर, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी प्रथम संस्करण 2004
12. संस्कृत साहित्य: बीसवीं शताब्दी - राधावल्लभ त्रिपाठी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान 1999
13. आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र समीक्षाएं- डॉ. रमाकांत पाण्डेय जगदीश संस्कृत पुस्तकालय जयपुर नूतन संस्करण 2009
14. आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र- डॉ. आनंद कुमार, श्रीवास्तव ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली प्रथम संस्करण 1990

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न.1 रेडियो रूपक का शिक्षा में योगदान बताइये।

प्रश्न.2 सॉनेट की परिभाषा व संस्कृत में सॉनेट रचना पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न.3 भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में क्या योगदान है ?

प्रश्न.4 हाइकु की परिभाषा एवं प्रसिद्ध आचार्यों के विषय में लिखिए।

खण्ड- चार (Section-D)
पालि-प्राकृत-अपभ्रंश एवं क्षेत्रीय भाषा

इकाई-1 पालि साहित्य का परिचय

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 पालि साहित्य का परिचय
    1.3.1 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विविध् मत
1.4 भारतीय भाषाओं के विकास में पालि साहित्य का स्थान
    1.4.1 पालि एवं वैदिक भाषा
    1.4.2 पालि एवं संस्कृत भाषा
    1.4.3 पालि एवं प्राकृत भाषा
    1.4.4 पालि एवं साहित्य
    1.4.5 पालि का ध्वनि सिद्धान्त
1.5 पालि साहित्य का उद्भव एवं विकास
1.6 पालि त्रिपिटक साहित्य का परिचय
    1.6.1 विनय पिटक
    1.6.2 सुत्त पिटक
    1.6.3 अभिधम्म पिटक
1.7 अन्य पालि साहित्य
    1.7.1 अट्ठकथा साहित्य का परिचय
    1.7.2 टीका साहित्य का परिचय
    1.7.3 वंश साहित्य का परिचय
    1.7.4 पालि एवं विश्व साहित्य
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.12 अन्य उपयोगी ग्रन्थ
1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) भाषा एवं साहित्य (Indian Language and Literature) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड चतुर्थ से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में पालि-प्राकृत-अपभ्रंश एवं क्षेत्रीय भाषा के अन्तर्गत पालि साहित्य का परिचय स्वरूप एवं उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान एवं पालि साहित्य का उद्भव एवं विकास के परिचय का अध्ययन करेंगे।

संसार में ग्रीक, लैटिन और संस्कृत को प्राचीन भाषाओं का स्थान मिला है। 'पालि' भारत की पुरातन भाषा है। संस्कृत की तरह यह भी एक जीवन्त भाषा है और संस्कृत की ही तरह इसमें पठन-पाठन और धर्मिक कार्य व लेखन की परम्परा विद्यमान रही है। इस इकाई में आप पालि भाषा के उद्भव एवं विकास तथा पालि साहित्य के विषय में पढेंगे। भगवान् बुद्ध ने इसी भाषा में सम्पूर्ण मानव समाज को कल्याणकारी उपदेश दिया तथा सुख और शांति से जीने का मार्ग बतलाया तथा अहिंसा का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। भगवान् बुद्ध के वचन का संग्रह त्रिपिटक भी इसी भाषा में प्राप्त होते हैं।

भारतीय आर्य भाषा के विकास के दूसरे सोपान को मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है, जिसका समय 500 ई.पू. से 1000 ई. सन् तक-डेढ़ हजार वर्ष का माना जाता है। आशय यह कि 500 ई.पू. के आसपास पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भारतीय आर्य भाषा का प्रथम रूप, वैदिक और लौकिक संस्कृत-पाणिनि के व्याकरण द्वारा इस प्रकार स्थिर हो गया था कि संस्कृत परवर्ती समय में मात्र शास्त्र, शिक्षा तथा साहित्य-सृजन की भाषा बनकर रह गई और बोलचाल की लोकभाषा के रूप में उसका प्रयोग क्रमशः सीमित होता गया। यह निश्चित है कि जब संस्कृत बोलचाल की जनभाषा थी, तब भी भारत में अनेक आर्य तथा आर्येतर बोलियाँ थीं। किंतु उनमें साहित्यिक भाषा के रूप में केवल संस्कृत ही प्रचलित थी। आपको ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृत भाषा के साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित हो जाने के साथ ही प्रारंभ से एक शिक्षा-व्यवस्था भी विकसित हो गई थी, जिसे सामान्यतः वैदिक या संस्कृत-शिक्षा व्यवस्था कहा जाता है। आर्य संस्कृति तथा संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ संस्कृत-शिक्षा व्यवस्था भी क्रमशः विकसित हुई जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत भाषा एक अंतः क्षेत्रीय व्यवहार की मानक साहित्यिक भाषा के रूप में सर्वत्र स्थापित हो गई।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- पालि शब्द की व्युत्पत्ति से अवगत हो सकेंगे।
- पालि भाषा की विशेषताओं को समझने में सक्षम हो सकेंगे।
- पालि साहित्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- पालि के भाषिक महत्व के तत्व को जान सकेंगे।
- पालि भाषा का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- पालि भाषा के स्वरूप से अवगत हो पायेंगे।

- ➢ भारतीय वाड्मय में पालि साहित्य के स्थान को जानने में समर्थ हो सकेंगे।
- ➢ पालि त्रिपिटक साहित्य के विषय में जान सकेंगे।
- ➢ भारतीय भाषाओं के विकास में पालि साहित्य के योगदान से अवगत हो पायेंगे।

1.3 पालि साहित्य का परिचय

'पालि' शब्द का अर्थ—

जिसे हम आज पालि भाषा कहते है, वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ईसा की तेरहवी या चौदहवीं शताब्दी से पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। 'पालि' शब्द का सब से पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसबी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है। (1) बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में, (2) 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में। चूंकि 'मूल त्रिपिटक' और 'मूल त्रिपिटक के पाठ' में भेद कहने भर को है, अतः मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल त्रिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ में हो बुद्धघोष महा- स्थविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण- अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा से विभिन्नता दिखाने के लिये मूल त्रिपिटक के किसी बंश को उद्धृत करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमम्ग में "इमानि ताव पालियं, अट्ठकवायं पन...." (ये तो 'पालि' में है, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो......" तथा वहीं "नेव प्रालियं न अट्ठकथायं आगतं (यह न 'पालि' में आया है और न 'अट्ठकथा' में)। इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीर्घ-निकाय की अट्ठ-कथा) की सामञ्ञफलसुत-वण्णना में "नेव पालियं न अट्ठकथायं विस्सति"

पालि भाषा का परिचय—

पालि भाषा भारत की प्राचीन भाषाओं में से एक है। इस विषय में भाषा-शास्त्री विद्वानों के बीच दो प्रकार की राय है। एक मत पालि भाषा को आर्यभाषा परिवार की भाषा मानता है और दूसरे मत के अनुसार यह भाषा प्राचीनतम जनभाषाओं से उद्धूत है। इस विषय में जो भी तथ्य मान्य हो, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह भाषा मूलतः उत्तरभारत की भाषा है और गौतम बुद्ध के उद्भव के पहले से अस्तित्व में रही होगी। बुद्ध के उपदेशों की संवाहिका होने के कारण बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ ही एशिया के अनेक देशों में जा पहुँची। व्याकरण और संरचना की दृष्टि से यह संस्कृत की अपेक्षा सरल है। पालि भाषा का प्रारंभिक नाम 'मागधी' था। इसका 'पालि' नाम तो बहुत बाद में रखा गया। वस्तुतः 'पालि' शब्द का प्रारंभिक प्रयोग बुद्ध वचनों के पाठ के रूप में होता था। बुद्ध वचनों के पाठ के रूप में प्रयुक्त यह शब्द पूरे बुद्धवचन और उस पर विकसित उत्तरकालीन साहित्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। मागधी नाम वाली भाषा का पालि नाम वाली भाषा बनने के पीछे यही भेद है। 'पालि' भाषा 'मगध्' क्षेत्र की राजभाषा रही, इसीलिए इसे 'मागधी' भी कहा जाता रहा है। पालिभाषा में निबद्ध साहित्य में

बुद्धवचनों के साथ-साथ ई.पू. 5 वीं शताब्दी से ई. 5 वीं शताब्दी तक के भारतीय दार्शनिक विचारों, संस्कृतियों राजनैतिक एवं भौगोलिक इतिहास आदि की ज्ञानराशि सन्निहित है।

1.3.1 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विविध् मत

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विचार पृथक्-पृथक् हैं।

पालि साहित्य और बौद्ध विद्या के विशिष्ट विद्वानों के पालि सम्बन्धि विचार इस प्रकार हैं—

1. आचार्य बुद्धघोष— आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठकथाओं' में 'पालि' शब्द का प्रयोग 'बुद्ध-वचन' या 'मूल-त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में किया है। यथा 'इमानि ताव पालियं अट्ठकथायंपन' (विसुद्धिमग्ग)।

इसी प्रकार दीपवंस, चूळवंश आदि में 'पालि' शब्द का प्रयोग 'बुद्ध-वचन'या 'मूल-त्रिपिटक' के अर्थ में किया गया है।

2. म. म. विधुशेखर भट्टाचार्य— महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द का विकास 'पंक्ति' शब्द से माना है। 'पालि' शब्द का क्रमिक विकास निम्न प्रकार है— 'पंक्ति>पन्ति >पत्ति>पल्लि>पालि'।

भिक्षु जगदीश कश्यप ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा कि 'पालि'शब्द 'पंक्ति' अर्थ में तिपिटकों में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यदि 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' होता तो 'अट्ठकथाओं' में उसका बहुवचन में प्रयोग मिलता इसके विपरीत कथाओं में 'पालि' का मौलिक स्वरूप तक नहीं मिलता।

3. भिक्खु सिद्धार्थ— भिक्खु सिद्धार्थ ने 'पालि' शब्द का मूल संस्कृत 'पाठ' शब्द माना है। उनकी अवधरणा है कि वेदपाठी ब्राह्मण जब बौद्ध हुए तो पूर्व परिचित 'वेद-पाठ' के लिए प्रयुक्त 'पाठ' का प्रयोग बुद्ध-वचनों के लिए भी करने लगे। क्रमशः वही 'पाठ' शब्द 'पाळ> पळि > पालि' हो गया।

उक्त अवधरणा के लिए आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में हो, किन्तु भिक्खु जी ने इस दिशा में कोई उद्धरण नहीं दिया है।

4. भिक्खु जगदीश कश्यप— भिक्खु जगदीश कश्यप के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप 'परियाय' शब्द के रूप में मिलता है। तिपिटकों में 'परियाय' शब्द का अनेकधा प्रयोग मिलता है। यथा—'को नाम अयं भन्ते धम्मपरियायोति', 'भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासिती' आदि। उक्त स्थलों में 'परियाय' शब्द का आशय 'बुद्धोंपदेश' से है। इस तरह 'परियाय' शब्द से ही 'पालि' शब्द बना है। भिक्खु जगदीश कश्यप के अनुसार परियाय शब्द का क्रमिक विकास इस प्रकार हुआ है - परियाय >पालियाय > पालियाव > पालि।

इस तरह बौद्ध विद्या के क्षेत्र में 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

5. डॉ. मैक्स वेलेसर— जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. मैक्स् वेल्सन् ने 'पाटलि' या 'पाडलि' अर्थात् पाटलिपुत्र की भाषा का संक्षिप्त रूप 'पालि' माना है, किन्तु अपनी अवधरणा के पुष्टीकरण में ठोस प्रमाण नहीं दिया है।

6. कोश-ग्रन्थों के अनुसार— पालि भाषा के कोश-ग्रन्थ 'अभिधानप्पदीपिका'में 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'पालेति रक्खतीति पालि' अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, उसे पालि कहते हैं। यह व्युत्पत्ति 'महावंस' की निम्न अवधरणा को पुष्ट करती है—

'जब भिक्खुओं ने, जो समग्र तिपिटक और उनकी अट्ठकथाएँ कण्ठस्थ कर ले गये थे, एकत्र होकर जनता के कल्याण के लिए उन्हें लेखबद्ध किया था।'

7. अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट के अनुसार— 'पा रक्षणे' धातु से 'ऋतन्यञ्जि' सूत्रानुसार 'बाहुलकात्' 'आलि' प्रत्यय करके पालि शब्द बना है। अमरकोश के दूसरे टीकाकार भानूजी दीक्षित ने 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से बतलाई है— 'पाल रक्षणे' धतु से 'अच इः' सूत्रानुसार 'इ' प्रत्यय होकर 'पालि' शब्द बना है। पाणिनीय सूत्रा 'राजदन्तादिषु परम्' (2.2.31) में वर्णित राजदन्तादिगण में 'गोपालिधनपूलासम' से 'पालि' शब्द का संस्कृत भाषा में व्यवहार प्राचीन काल से व्यवहृत है।

1.4 भारतीय भाषाओं के विकास में पालि साहित्य का स्थान

भारतीय भाषाओं का इतिहास तीन युगों या विकास-श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

(1) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग (वैदिक युग से 500 ईसवी पूर्व तक

(2) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग (500 ईसबी पूर्व से 1000 ईसवी तक

(3) आधुनिक आर्य-भाषा युग (1000 ईसवी से अब तक)।

प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें उस समय की अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणाम स्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तप्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक, ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकास ग्रहण करती गई। जब भगवान बुद्ध ने मगध प्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की जन-भाषा में उपदेश दिया तो यह वहीं ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूपों में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग्ग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप बाद में राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियों प्रान्तीय भाषाओं और उपभाषाओं का संमिश्रण भी इसमें हो गया। इसे हम आज 'पालि' भाषा कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं—

(1) पालि और अशोक की पर्मलिपियों की भाषा (500 ईसवी पूर्व से 1 ईसवी पूर्वक

(2) प्राकृत भाषाएँ (1 ते 500 ईसकी तक)

(3) अपन से भाषाएँ (500 ईसवी से 1000 ईसवी तक। आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक प्रष्ठभूमि के बाद अब हमें पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि भाषा के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है- वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है। विद्वानों के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती है। कुछ विद्वानों के मतों का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

प्रोफेसर रायस डेविड्स—

पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठी और सातवीं शताब्दी ईसबी पूर्व में बोले जाने वाली भाषा थी। कारण (1) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे (2) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में हो उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

वैस्टरगाई एवं ई० कुहन—

पालि उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी। कारण (1) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है (2) कुमार महेन्द्र (महिन्द) जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि त्रिपिटक को वहाँ पहुंचाया की मातृ-भाषा यही थी।

स्टैन कोनो—

विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम स्थान है। कारण (1) पैशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (2) पैशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्वविद् ग्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसके अनुसार पैशाची प्राकृत केकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। ग्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

डा० ओल्डनवर्ग—

पालि कलिग देश की भाषा थी। कारण (1) लंका के पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (2) खंडगिरि के शिलालेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना है। उनके मतानुसार कलिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगी।

ई० मूलर—

कालिंग ही पालि का उदगम स्थान है। कारण, यहीं से सब से पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म प्रचार करना अधिक संगत है।

ये सभी मत पालि भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिहली परम्परा से असहमत हैं। पालि भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिये कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घूमे-फिरे, अतः उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिये यह अनुमान किया कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसकी पूर्व की कोशल प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगव-शासन की राष्ट्र-भाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुंचा तो यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा होने का गौरव मिला।

जिन विद्वानों ने पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होंने सिहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विन्टरनित्ज, ग्रियर्सन और मायगर के नाम अधिक प्रसिद्ध है। भिक्षु सिद्धार्थ और भिक्षु जगदीश काश्यप जैसे भारतीय बौद्ध विद्वानों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

जेम्स एल्विस और चाइल्डर्स की यह मान्यता है कि 'मागवी' ही पालि भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। जेम्स एल्विस के मतानुसार बुद्धकालीन भारत में 16 प्रादेशिक बोलियां प्रचलित थी। इनमें 'मागधी' बोली में जो मगध में बोली जाती श्री, भगवान् बुद्ध में उपदेश दिये थे। विडिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विटरनित्ज का मत भी इसी के समान है। उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी, जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के समिश्रण से हुआ था, जिनमें 'प्राचीन मागवी प्रधान थी। ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियों के प्रभाव को देखकर उन्हें यह मानना पडा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभावी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। किन्तु उसके इस संबंधी गुणों या ऐतिहासिक महत्व के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपी महासमुद्र में ही आर्य जाति के संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भंडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक अंग ही है। अतः संस्कृत साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्व भारतीय साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना चाहिये हां, भारत की सीमा के बाहर के देशों में पालि अपनी जेष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं कहीं प्रभावशीलता में अधिक गई है। इसका कारण है पालि का तथागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजननी होने तक का सौभाग्य मिल गया है, जो संभवत: आज तक अंशत: संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नही मिला।

1.4.1 पालि एवं वैदिक भाषा

अशोक की धर्मलिपियों में पाई जाने वाली पालि की विभिन्नतानों की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएं पालि की जन्म-जात है। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली है। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम इन भाषाओं के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा की गई। अतः उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का संमिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में इसी भाषा के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलाई । बाह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन कार्य हुवा। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जबकि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस्' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आर्यो के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आयों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें

आज 'पालि' के रूप में होते हैं। मगध साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न भिन्न इंगों से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दों के क्रमशः पालि और संस्कृत में विकसित स्वरूपों को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

वैदिक भाषा की सब से बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। जैसे— अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः' 'कर्णेभिः जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पालि में ये 'देवेभि' 'देवेंहि' 'कण्णेभि' 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित है। वैदिक भाषा में 'विश्वन्' 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा' 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते है। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता' 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पाई जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पचरे' 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है। पालि में भी 'कातवे' 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'व्' को रख लिया है। वैदिक अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवासः' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।

1.4.2 पालि एवं संस्कृत भाषा

पालि एवं संस्कृत दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ हैं। दोनों ही वैदिक भाषा से उद्भव हुई है। किन्तु जैसा कवीर ने पन्द्रहवी शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को कूपजल कह कर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह बद्ध महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरुद्ध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्ती की लहर सतत चलती रही। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना विवर्त धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गई हैं। संस्कृत 'पुराण युवती' है। पुरानी होते हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, वृद्धा स्वरुप हमें दृष्टिगोचर होती हैं। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि त्रिपिटक में उसके बाल्य और तारण्य का सामान्यतः दिग्वर्शत होता है, अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके बुद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार है, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये हैं। जिन भाषा-तत्व-विदों ने उसके

इस रहस्य को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास स्थान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदर्शी मत प्रकट किए है ।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और संस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ है भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नहीं हैं।

1.4.3 पालि एवं प्राकृत भाषा

प्राकृतों का विकास (1-500ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम से कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्ही बोलियों का विकासवाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोलीके, शोरशेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप है। ऐसा हम कह सकते हैं। पहले ये बोलियाँ मात्र थी, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इसका स्वरूप अवरूद्ध हो गया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है, (1) मागघी प्राकृत (2) अवन्ती प्राकृत, (3) प्राच्या, (4) शौरसेनी, (5) अर्द्धमागधी, (6) वाल्हीक (7) दाक्षिणात्य। बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पेशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि में प्राकृतों में चार मुख्य है, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनों और महाराष्ट्री। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री की अधिक महत्व दिया है। महाराष्ट्री प्राकृत का विस्तृत विवेचन करने के बाद उन्होंने अन्य प्राकृतों की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर 'शेष महाराष्ट्रीवत्' कहकर छोड़ दिया है।

भाषा-तत्व की दृष्टि से पालि और प्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उपर्युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृत ही पालि के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक ध्यान देने योग्य है।

पालि और प्राकृत भाषाजों का ध्वनि-समूह प्रायः एक सा ही है। यह ऋ, ॠ, लृ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही नहीं पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में यह ध्वनि अ, इ, उ, स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नहीं मिलता। ष्,श् की जगह मागधी को छोड़ कर और सब प्राकृतों और पालि में 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ल' पालि और प्राकृत दोनों में ही पाई जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्त्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनों में हो पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार है—

(1) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन (2) शब्द के अन्तः स्थित घोष महाप्राण की जगह ह हो जाना (3) शब्द के अन्तःस्थित अपोष स्पशों का घोष हो जाना। (4) महाप्राणत्व (ह-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप (5) आकस्मिक वर्ण-प्रत्यय । ये परिवर्तन पालि में अनियमतः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों में नियमतः पाये जाते हैं। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन में इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा । वास्तव में

बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनों का पालि में सूत्र- पात ही हुका है, उन्ही का विकास हमें प्राकृतों में देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यंजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानत्ता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पाति का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप हैं। मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। अर्द्ध- मागधी के सम्बन्ध में भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप को साक्ष्य हमें जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की पुष्टि से पालि से समानताएँ तो है किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्गम या आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्युत उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार है- (1) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना। पालि के पुरे (पुरः); सुवें (श्वः); भिक्सवे (भिक्षवः) पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। (2) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'से' हो जाना। यह प्रवृत्ति सेय्यथा' (तद्यथा) जैसे पालि के प्रयोगों में रूढ़ हो गई है। (3) इसी प्रकार संस्कृत यद् के स्थान पर 'ये' हो जाना (4) र का ल हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। पालि में भी यह कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है, नियमानुसार नहीं (5) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के बाद आने पर 'एव' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं कहीं दृष्टिगोचर होती है। (6) कही कही वर्ण-परिवर्तन का विधान भी पालि में अर्द्ध-मागधी के समान ही है। उदाहरणत—

संस्कृत	**पालि**	**अर्द्धमागधी**
साक्षं (ऑखों के सामान)	सक्खि (सक्खि भी)	सक्खं
त्सरु (मूंठ, तलवार)	वरु	धरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लांगल (हुल)	नंगळ	नंगळ

लूडर्स ने, अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानतानों पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणों को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उदाहरणतः, सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र' जगह 'ल' हो जाना आदि प्रवृत्तियां जो बर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ है, पालि में कहीं कहीं ही पाई जाती है।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अर्थात् व्रज-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। पालि भी मध्य-मंडल की ही लोक-भाषा रही थी। अतः उसका प्रभाव शौरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्ध-मागधी) न मान कर किसी पच्छिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है। कुछ समानताएं इस प्रकार है। (1) शौरसेनी के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन को लोप नहीं होता और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है (2) शब्द के मध्यस्थित न् में भी साधारणतः परिवर्तन नहीं होता, (3) शब्द के आदि में स्थित 'य्' की जगह 'ज्' नहीं होता, जैसा उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है, (4) 'दानि' और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। (5) इसी प्रकार 'पेक्ख'

'गम्मिस्तिति' 'सक्किति' जैसे रूपों में भी समानता है। इन समानताओं के विषय में हमें यही कहना है कि इनमें से बहुत सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलती, बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पाई जाती है।

इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। इन दोनों भाषाओं की मुख्य समानताएं इस प्रकार है- (1) घोष स्पर्शों (म्. द्. ब्.) के स्थान पर अधोष स्पर्श (क्, त्. प्) हो जाना, (2) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित रहना (3) 'भारिय' 'सिनान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्षों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाना (4) ज्ञ्, और ण्य् का 'ञ्ञ' में परि वर्तन होता, (5) य् का ज् में परिवर्तन न हो कर सुरक्षित रहना (6) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना, (7) धातु-रूपों में समानताएँ (8) र् का ल् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। पालि की ये समानताएँ भी केवल पैशाची प्राकृत के साथ ही नहीं है। अन्य प्राकृतों में भी में पाई जाती है। उदाहरणतः ज्ञ्, और ण्य् और न्य की जगह "ञ्ञ ' मागधी और अन्य अनेक प्राकृतों में भी पाया जाता है। इसी प्रकार का में परिवर्तित न होकर 'य्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का आंकारान्त हो जाना केवल पैशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पश्चिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैशाची से ही अपितु सामान्यतः सभी पश्चिमी बोलिया से समानता रखता है। यही हाल 'र्' के पालि में परिवर्तित ना होने का है पश्चिमी बोलियां में भी ऐसी ही पाया जाता है पैशाची प्राकृत के सब रूपों में 'र्' सुरक्षित ही मिलता हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैसाची के साथ पालि के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पर्शों के स्थान पर अघोष स्पर्श हो जाना पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। अतः पैशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सकते।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। वास्तव में तथ्य यही है कि पालि एक मिश्रित, साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के संमिश्रण के चिन्ह मिलते हैं।

1.4.4 पालि एवं साहित्य

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अंशों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी, ध्वनि- समूह आदि का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो पाया। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई है। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन आर्य- भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, अपनी भाषा के बर्तमान स्वरूप को समझने के लिये हमें पालि भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिहल, ब्रह्म-देश और स्याम देश की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिये अध्ययन का इससे अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूडे और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति

के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि-साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानत: तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्ययन कर हम उस विशाल जन समुदाय से नाता जोड़ते हैं, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नवयुग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दें तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य के अध्ययन का प्रभूत महत्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोरम शैली किसी भी साहित्य से प्रतिस्पर्द्धा ले सकती है।

भारतीय इतिहास के काल क्रम के निश्चय करने में भी सबसे अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उसके सम्यक अध्ययन से हम बौद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्व है। हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालतों में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरुप से बहुत दूर है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्धदर्शन की समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ ही रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभाव- शीलता के लिये विश्व में अद्वितीय है ।

पालि-साहित्य का सबसे बडा महत्व में हम देख सकेंगे कि भगवान् गौतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सियाया था। पालि-साहित्य का सब में बड़ा महत्य वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक रुपों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रुप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सुष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन है। पालिसाहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि यह अभी हिन्दी-साहित्य में अनेक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आभार दे सकती है।

1.4.5 पालि का ध्वनि सिद्धान्त

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय—

पालि के ध्वनि-सिद्धान्त को समझने के लिये वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में 52 ध्वनियों थीं, जिनमें 13 स्वर में और 39 व्यंजन इनका वर्गीकरण इस प्रकार है-

स्वर—

(1) नौ मूल स्वर— अ, आ, इ, ई, उ,ऊ.ऋ.लृ

(2) चार संयुक्त स्वरः— ए, ऐ, ओ. औ

व्यंजन—

(1) सत्ताईस स्पर्श व्यजन—

'क' वर्ग (कंठ से) - क, ख, ग, घ, ड.

'च' वर्ग (तालव्य से) - च, छ, ज, झ

'ट' वर्ग (मूर्द्धन्य से) - ट, ठ, ड, ढ, ण

'त' वर्ग (दन्त से) - त, थ, द, ध, न

'प' वर्ग (ओष्ठ्य से) - प, फ, ब, भ, म।

(2) चार अन्तःस्थ— य,र,ल,व

(3) तीन ऊष्म— श,ष,स

(4) अनुनासिक— (अनुस्वार)

(5) तीन अघोष ऊष्म—

विसर्जनीय या विसर्ग

जिल्ह्वामूलीय

उपध्मानीय

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परि- वर्तन इस प्रकार है- (1) ल्, लह्, जिल्ह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता (2) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम पालि के ध्वनि- समूह पर विचार करें। पालि का ध्वनि-समूह इस प्रकार है-

स्वर—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व ए. ए. ह्त्व जो, ओ

व्यंजन—

कंठ— क, ख, ग, घ, ड.

तालव्य— च, छ, ज, झ

मूर्द्धन्य— ट, ठ, ड, ढ, ण,ल्, लह्

दन्त— त, थ, द, ध, न

ओष्ठ्य— प, फ, ब, भ, म।

अन्तःस्थ— य,र,ल,व

ऊष्म— स्

प्राणध्वनी— ह

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं- (1) ऋ, ऋ,लृ, ऐ, ओ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नहीं मिलता (2) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते हैं. (3) विसर्ग पालि में नहीं मिलता (४) श्, ष् पालि में नहीं मिलते, (5) ल् ल्ह् व्यंजनों का प्रयोग पालि में संस्कृत से अधिक होता है। दो स्वरों के बीच में आने वाले ड् का स्थान यहाँ 'व्' में ल् लिया है, इसी प्रकार 'ढ' का स्थान 'ल्ह'ने । 'ळ्' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (6) स्वतंत्र स्थिति में ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्,र्,ल्,व् अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैयाकरणों ने 'ओरस' या 'हृदय से उत्पन' कहा है। इसी प्रकार ध्वनी परिवर्तनों को संस्कृत की तुलना में पालि में देखा गया है।

इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि- परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते हैं। पहले हम स्वर-परिवर्तनों को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को । स्वर-परिवर्तनों में भी क्रमशः हस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में असंयुक्त और संयुक्त व्यंजनों की दृष्टि से शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यंजन,

मध्य-व्यंजन, अन्त्य-व्यंजन आदि। इसके साथ ही स्वर और व्यञ्जन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर परिवर्तन — साधारण संस्कृत ह्रस्व स्वर अ,इ,उ पालि (एवं प्राकृतों) में सुरक्षित रहते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	**पालि**
वधू:	वधू
अग्नि	अग्नि
अर्थ	अट्ठ
प्रिय	पिय
रूक्ष	रूक्खो
मुखम्	मुखं

संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है। उदाहरण—

संस्कृत	**पालि**
फल्गु	फेग्गु
शय्या	सेय्या

इकारान्त एवं उकारान्त पालि शब्द के रूपों में विभक्तयन्त इकार और उकार का दीर्घ होकर क्रमश: ईकार और उकार हो जाता है। यथा- ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसू। इस प्रकार अग्नि (अग्नि),भिक्खु (भिक्षु),विष्णु (वेण्हु), पुष्कर (पोक्खर) आदि।

संस्कृत में जहॉ संयुक्त व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर होता है, वहां पालि में उनका रूप ह्रस्व हो जाता है। जैसे- चैत्य (चेतिय), मौर्य (मोरिय)

ऋ का परिचर्तन पालि में त्रिविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। जैसे- हृदय (हदय) मृग (मग),कृत (क्ति), मृत (मित), पृच्छति (पुच्छति) इसी प्रकार से दोंनो में ध्वनी परिवर्तन को देखा गया है।

1.5 पालि साहित्य का उद्भव एवं विकास

पालि साहित्य के उद्भव के सन्दर्भ में विद्वानों ने इस विषय में कई सिद्धान्तों को उद्‌भावना की है, उनमें से मुख्य है प्राचीन 'मगध क्षेत्र', प्राचीन 'कोसल' क्षेत्र, मध्यप्रदेश का साँची विदिशा क्षेत्र, मध्यप्रदेश का भरहुत क्षेत्र, गुजरात का गिरनार क्षेत्र तथा प्राचीन उत्कल प्रदेश आदि स्थलों को पालि का उद्भव स्थल माना जा सकता है।

भगवान बुद्ध की सम्यक सम्बोधि ही पालि साहित्य का आधार है। भगवान् बुद्ध ने उपदेशों के माध्यम के रूप में लोक भाषा को स्वीकार किया। बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। बुद्ध के समय में उपदेशों का लेखन नहीं हुआ था। उस समय धार्मोपदेशों को स्मृति में रखने की विशेष परम्परा थी। बुद्ध वचनों को धारण करने वाले अनेक भिक्षु थे। बुद्ध जय-जय बोलते, तीव्र स्मृति के धानी भिक्षु उन्हें कण्ठस्थ कर लेते थे। ऐसे भिक्षुओं के लिए विनयधार, धाम्मधार, सुत्तन्तिक मातृकाधार आदि विशेषण प्राप्त होते है।

सम्बोधि प्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध ने 45 वर्ष के लम्बे समय में जो कुछ भी धर्म प्रर्वतन किया, उसका वाड़मय इतना विशाल और बहुआयामी था कि स्थूल या सूक्ष्म रूप से

विभाजन किये बिना उसके आदि अन्त को समझना कठिन था। अतः भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद अनेक संगीतियां आयोजित की गयी थी। बुद्ध ने अपने जीवनकाल में जो कुछ भी सोचा या कहा वह सभी त्रिपिटक में संग्रहीत है। त्रिपिटक का अर्थ प. राहुल सांकृत्यायन के मत में तीन पिटारियॅा में है। अत: वाद में यह संग्रह त्रिपिटक' के नाम से जाना गया। त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेशों का वर्गीकरण तीन भागों में किया। इन तीन पिटकों के नाम है (1) सुत्तपिटक (2) विनयपिटक (3) अभिधम्मपिटक। इनमें से प्रथम विनयपिटक में पाँच ग्रन्थ है। इसमें भिक्षु और भिक्षुणी संघ के लिए पालनीय आचार नियमों का संकलन किया गया है। जिस भाग में विद्वानों और साधारण समाज के लिए उपदेश संग्रहीत है उसे सुत्तपिटक नाम दिया गया। सुत्तपिटक पालि वाड्मय का सबसे विशाल ग्रन्थ है। जिस भाग में विद्वानों और साधकों द्वारा समझने योग्य गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित किया गया है उसे अभिधम्मपिटक कहा गया है।

कुछ विद्वानों ने बुद्ध वचन को कई श्रेणियों में विभाजित किया है। उन विभाजन की विधाओं में पिटकों के रूप में विभाजन सर्वप्रसिद्ध है। वह विभाजन इस प्रकार है।

त्रिपिटक

विनयपिटक	**सुत्तपिटक**	**अभिधम्मपिटक**
भिक्खुविभंग	दीघनिकाय	धम्मसंगिण
भिक्खुनीविभंग	मज्झिमनिकाय	विभंग
महावग्गो	संयुत्तनिकाय	धातुकथा, पुग्गलपञ्जति
चुल्लवग्गो	अंगुत्तरनिकाय	कथा वत्थु
परिवार	खुदकनिकाय	यमक, पट्ठान

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ—

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विचार का जो निर्देश किया गया है, उसने यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान है। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता हैं। फिर भी पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलक्षित होती है, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएं हैं और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वापर रूपों को समझ सकते हैं और उनकी संगति लगा सकते हैं। पालि- भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार है। (1) त्रिपिटक में आने वाली मात्राओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की सी हो अनेकरूपता इसमें मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कही कहीं तो इस भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती हैं और कहीं कहीं पालि का अपना विशेष रूप-विधान भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ 'पित' और 'रञ्ञा' जैसे शब्द प्राचीन आर्य भाषा से पालि में आ गये है. किन्तु इन्हीं से क्रमशः 'पितुस्स' और 'राजिनों' जैसे रूप पालि ने स्वयं बना लिये हैं। इस प्रकार वह भाषा बुद्ध-कालीन मध्य-देश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुबिद्ध है। सुत्तनिपात की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (2) त्रिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा इसमें एकरुपता अधिक है।

(3) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हुमें मिलिन्द-प्रश्न और अर्थकथा-साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार त्रिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमें

अलंकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पाई जाती है। विशेषतः मिलिन्द-प्रश्न और वुद्धघोष की अर्थकथाओं में हमें एक विकसित और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते हैं। (4) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा। यह भाषा बिलकुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखकों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार कहीं तो प्राचीन रूपों का ही अनुकरण किया है या कहीं कहीं अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपों को स्वीकार किया है। इस भाषा में एक जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। महावंस, दीपवंस, जैसे ग्रन्थों में इस भाषा के स्वरूप देखा जा सकता है।

1.6 पालि त्रिपिटक साहित्य का परिचय

आप जान चुके हैं कि भगवान् बुद्ध के वचनों का संग्रह त्रिपिटक साहित्य में निबद्ध है। त्रिपिटक साहित्य में मुख्य रूप से विनय पिटक, सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक आते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय आप यहाँ जानेंगे।

1.6.1 विनय पिटक

विनय पिटक के अन्तर्गत पाँच ग्रन्थ आते हैं। इनमें भिक्खुओं और भिक्खुणियों के द्वारा पालनीय नियम व अनुशासन की बातें संग्रहित हैं। विनय पिटक के अन्तर्गत निम्नोक्त ग्रन्थ हैं - सुत्त विभंग के अन्तर्गत दो 1. पाराजिक 2.पाचित्तिय खन्धक के अन्तर्गत तीन 3. महावग्ग 4. चूळवग्ग 5. परिवार।

बौद्ध भिक्खु-भिक्खुणियों के द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों और अनुशासन की बातें विनय पिटक में प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से यह बौद्ध भिक्खुओं के लिए एक संविधान है। बुद्ध ने इसे निब्बाण (निर्वाण) प्राप्ति के लिए एकायन मार्ग माना है। इसे धम्म और विनय का एक समन्वित रूप कहा जा सकता है। प्रारम्भ में विनय की अधिक आवश्यकता महसूस नहीं की गई। परन्तु संघ के विकास के साथ स्वच्छन्दवादी भिक्खुओं के आचरण को संयमित करने के लिए विनय का यथारीति निर्धारण किया जाने लगा। बुद्ध के महापरिनिब्बाण (महापरिनिर्वाण) के बाद तो यही विनय भिक्खुओं का दायाद बन गया।

विनय पिटक मात्रा विनय का संग्रह नहीं। उसमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति के अनेक मनोरंजक पहलू भी उपलब्ध होते हैं। विनय के विकास के साथ साधु-जीवन की विकृत स्थिति का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही इसमें बौद्धेतर सम्प्रदायों के विनय नियम, आभूषण, केश, कंघी, दर्पण, वस्त्र, विहार निर्माण, विविध रंग, उपानह आदि का भी सुन्दर वर्णन दिया गया है। इस प्रकार विनय पिटक जहाँ बौद्ध संस्कृति का उद्घाटन करता है वहीं तत्सम्बन्धित भारतीय संस्कृति के अनेक अध्यायों को भी प्रस्तुत करता है।

1.6.2 सुत्त पिटक

सुत्त पिटक में भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सद्वचन संग्रहित हैं। इसका विषय भगवान् के उपदेशों का संग्रह करना है। सुत्त पिटक में विद्वानों और सामान्य जनता के लिए प्रदत्त उपदेश संग्रहित हैं, इसी कारण इसका नाम सुत्त पिटक है। इसमें प्राप्त वर्णन के अनुसार, भगवान् बुद्ध बहुत्र स्वयं उपदेश देते हैं, कदाचित् वे सारिपुत्रा, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे अपने वरिष्ठ शिष्यों को धम्मोपदेश देने का आदेश देते हैं और कहीं कहीं वे शिष्यों के द्वारा उपदिष्ट विषय का अनुमोदन भी करते हुए मिलते हैं। इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के 45 वर्षों के भ्रमण काल की जीवनचर्या का चित्रण सुत्त पिटक में मिलता है। इसी वर्णन क्रम में भारतीय

संस्कृति और तत्कालीन इतिहास भी इसमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। सर्वास्तिवादी सुत्त पिटक में 'निकाय' के स्थान पर 'आगम' शब्द का प्रयोग मिलता है।

सुत्त पिटक में गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक सुत्त यह स्पष्ट करता जाता है कि भगवान् बुद्ध प्रदत्त धम्मोपदेश कहाँ और किसके द्वारा किया गया है। उपदेश समाप्त होने के बाद श्रोता अथवा प्रश्नकर्ता अपने कृतज्ञतापूर्ण उद्गार व्यक्त करता है और साथ ही भगवान् बुद्ध की शरण में और उनके धर्म तथा संघ की शरण में जाने का भी संकल्प करता है। सुत्त पिटक पाँच भागों या सुत्तों में विभक्त है। दीर्घ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय। उपर्युक्त खुद्दक निकाय के अन्तर्गत अधेलिखित छोटे-बड़े ग्रन्थ शामिल हैं।

1. खुद्दकपाठ 2. धम्मपद 3. उदान 4. इतिवुत्तक 5. सुत्तनिपात 6. विमानवत्थु 7. पेतवत्थु 8. थेरगाथा 9. थेरीगाथा 10. अपदान 11. बुद्धवंस 12. चरियापिटक 13. जातक 14. महानिद्देस 15. चूळनिद्देस 16. पटिसम्भिदामग्ग ब्रह्मदेश की परंपरा के अनुसार, 17 नेत्तिपकरण, 18 पेटकोपदेस और, 19 मिलिन्दपंह ये तीन ग्रन्थ भी अपने वैशिष्ट्य व महत्ता के कारण तिपिटक के अभिन्न अंग माने जाने लगे हैं। इन्हें अनुपिटक भी कहते हैं।

1.6.3 अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म पिटक दोनों पिटकों की अपेक्षा बाद की है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्वों व गूढ़ दर्शन की चर्चा मिलती है। इसके अन्तर्गत अधेलिखित ग्रन्थ आते हैं- 1. धम्मसंगणि, 2. विभंग, 3. धातुकथा, 4. पुग्गलपंजति, 5. कथावत्थु 6. यमक, 7. पट्ठान।

अभिधम्म पिटक जनसाधरण के लिए नहीं, अपितु एक विशिष्ट बुद्धिवादी वर्ग के लिए संग्राह्य है। परम्परानुसार अभिधम्म के प्रमुख ज्ञाता सारिपुत्रा थे। शायद इसीलिए उन्हें प्रधान शिष्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। धर्म और विनय का संगायन तो प्रथम-द्वितीय संगीति में हो चुका था परन्तु अभिधम्म तृतीय संगीति का ही परिणाम है, यह सुनिश्चित है। अभिधम्म सात ग्रन्थों का समुदाय है।

1.7 अन्य पालि साहित्य

मूल तिपिटक (त्रिपिटक) साहित्य के अतिरिक्त पालि भाषा में तिपिटकों की अट्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ) तथा उन पर टीकाएँ भी बौद्धाचार्यों के द्वारा प्रणीत की गई। इन अट्ठकथाओं और टीकाओं के अलावा विभिन्न कालखण्डों और विश्व के विभिन्न देशों में विविध प्रकार का महत्त्वपूर्ण बौद्ध धम्म विषयक साहित्य पालि भाषा में रचा गया। इस तिपिटकेतर साहित्य का संक्षेपतः परिचय हम आगे पढ़ेंगे।

1.7.1 अट्ठकथा साहित्य का परिचय

अट्ठकथा (अर्थकथा) का शाब्दिक अर्थ है अर्थ की कथा अथवा अर्थ की व्याख्या। तिपिटकों में आई हुई घटनाओं की व्याख्या करना तथा उनका अर्थ बताना अट्ठकथाओं का प्रमुख कार्य है। भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सद्वचनों का अर्थ करना, उनका सन्दर्भ देना तथा बुद्धभाषित वचनों को स्पष्ट करना अट्ठकथाओं का प्रमुख उद्देश्य है। इसके अलावा यथासम्भव काल, स्थान और सम्बन्धित ऐतिहासिक परिस्थितियों का स्पष्टीकरण भी अट्ठकथाओं में प्राप्त होता है। ये अट्ठकथाएँ तथ्यों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी निरूपित करती है। इनमें शब्द, अर्थ और सम्बद्ध घटना की दृष्टि से भी विचार प्राप्त होते हैं। अट्ठकथा के लिए 'अत्थवण्णना' तथा 'अत्थसवण्णना' शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। पालि साहित्य के महान् अट्ठकथाकारों में

आचार्य बुद्धदत्त, आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। तिपिटकों के अन्तर्गत आने वाले सभी ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ) उपलब्ध होती है।

1.7.2 टीका साहित्य का परिचय

टीका का अर्थ होता है निर्दिष्ट ग्रन्थ में आये हुए कठिन और विषम शब्दों की व्याख्या करना। टीका में दिये गये सूत्र की स्पष्ट और सरल व्याख्या दी जाती है। इस दृष्टि से तिपिटक अट्ठकथाओं की टीकाओं का महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है।

श्रीलंका के पराक्रम बाहु प्रथम (1156-1186 ई) का शासन-काल पालि साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके शासन काल में श्रीलंका में एक सभा आयोजित की गई। इस सभा का संयोजन विनय के महान् आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित व विख्यात उदुम्बगिरि विहार के प्रसिद्ध सिंहली स्थविर महाकस्सप ने किया था। इसी समय से अट्ठकथाओं पर टीका और अन्य महत्त्वपूर्ण पालि साहित्य प्रणयन की परम्परा आज तक सातत्य से चली आ रही है। तिपिटक के ग्रन्थों की सभी अट्ठकथाओं पर टीकाएँ उपलब्ध होती है।

1.7.3 वंश साहित्य का परिचय

'वंश' साहित्य पालि साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि वंश' (पालि 'वंस') नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु जिसे छान्दोग्य उपनिषद् में 'इतिहास-पुराण' कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि 'वंश' ग्रन्थों से की जा सकती है। 'इतिहास-पुराण' या ठीक कहें तो 'पुराण-इतिहास' ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही है। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाजों के साथ साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी संनिवेश है। इनका निश्चित आधार ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी-जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में ओत- श्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता हैं। संस्कृत के पुराण-इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के 'वंश' ग्रन्थों के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का यह अवश्य है कि पालि 'वंश'-कारों ने भारतीय 'पुराण' कारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में केवल 'राजतरंगिणी' को छोड़कर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास पुराण के पांच लक्षण कहे गये हैं, सर्ग (सृष्टि-कम-वर्णन) प्रतिसर्ग (प्रलय के बाय पुनः सुष्टि-कमका वर्णन), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें वंश और बंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। राजाओं की विस्तृत वंशावलियाँ विष्णु, वायु, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दी हुई हैं। पालि का वंश-साहित्य श्री प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इनके अलावा बहुत कुछ है। धर्म-वृत्त और कथाएँ दोनों के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। अब हम पालि के वंश- साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते हैं।

पालि में 'वंश' साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आती है और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवी या बीसवीं शताब्दी तक मिलता है। पालि के मुख्य वंश-ग्रन्थ में है— 1. दीपवंस, 2. महावंस, 3. चूल्लवंस, 4. बुद्धघोसुप्पत्ति, 5. सद्धम्मसंगह, 6. महाबोधिवंस, 7. धूपवंस, 8. अत्तनगलुविहारवंस, 9. दाठावंस, 10. जिनकालमालिनी, 11. छकेसधातुवंस, 12. नळाटधातुवंस, 13. सन्देस कथा, 14. गन्धवंस, 15. संगीति-वंस, 16. सासनवंस और 17. सासनवंसदीप।

उपर्युक्त पालि साहित्य के अतिरिक्त पालि वाङ्मय में वंस साहित्य, काव्य, व्याकरण के ग्रन्थ, कोश ग्रन्थ, छन्दः शास्त्र के ग्रन्थ और अभिलेखादि भी प्रचुरतया प्राप्त होते हैं। पालिभाषा में विशाल वंशसाहित्य विकसित हुआ। किन्तु वह कालपरिधि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि वंश साहित्य आज तक लिखे जा रहे हैं। इनकी रचना चौथी पाँचवीं सदियों से प्रारंभ हुई जब सबसे पहले दीपवंस प्रकाश में आया।

नैतिक आदर्शवाद, उच्च धार्मिक भावना और इतिवृत्तात्मक विशेषताओं के साथ पालि में अनेक काव्य रचे गये। संस्कृत भाषा और साहित्य के अनुकरण पर आधारित काव्यलेखन, कथा-लेखन आदि प्रमुख है। समय के साथ पालि में कई खंडकाव्य भी प्रकाश में आये, उनमें प्रमुख है- 1. दाठावंस, 2. सासनवंस 3. अनागतवंस, 4. तेलकटाहगाथा. 5. जिनालंकार, 6. जिनचरित, 7. पन्जमधु, 8. लोकप्पदीपसार, 9. रसवाहिनी, 10. बुद्धालंकार, 11. सहस्सवत्थुप्पकरण और 12. राजाधिराजविलासिनी। इनके अतिरिक्त व्याकरण में कच्चायन व्याकरण, मोग्गल्लान व्याकरण और अग्गवंस प्रणीत सद्दनीति व्याकरण प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोश ग्रन्थों में मोग्गल्लान कृत अभिधानप्पदीपिका और सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) रचित एकक्खरकोस (एकाक्षर-कोश) दो ही प्रसिद्ध है। इनके अलावा 'वुत्तोदय' आदि छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ और सुबोधालंकार जैसे काव्यशास्त्र के ग्रन्थ भी पालि में उपलब्ध होते हैं।

पालिभाषा में विशाल शिलालेखीय साहित्य मिलता है। सम्राट् अशोक के अभिलेखों से प्रारंभ करके आज तक अभिलेख, शिलालेख, भित्तिलेख आदि के रूप में प्रकाश में आते रहे हैं विशेषकर श्रीलंका, म्याँमार (वर्मा), थाईलैंड आदि देशों में। भारत के सन्दर्भ में कुछ बौद्ध संस्थानों में पालि में भित्तिलेख मिलते हैं, उनमें नव नालन्दामहाविहार का भित्तिलेख उल्लेखनीय है।

इनके अलावा स्फुट रूप में भी पालि रचनायें प्रकाश में आई हैं, उनमें बीसवीं सदी ईसबों के प्रारम्भ में लिखी हुई मिलिन्दपञ्हों की टीका (म्यांमार में लिखी गई), अभिध म्मत्यसंगहो पर आचार्य धम्मानन्द कोसांबी द्वारा लिखित नवनीत टीका, आचार्य भरतसिंह उपाध्याय द्वारा लिखित महाबुद्धवत्यु, आचार्य संघसेन द्वारा लिखित सेतल पुप्फंजलि आदि मुख्य है।

1.7.4 पालि एवं विश्व-साहित्य

जर्मन कवि-दार्शनिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवी-करण कहा है। दुनिया का सायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर खरा उतर सके जितना पालि साहित्य । भारतीय भाषाओं में यदि किसी के भी साहित्य में विश्व जनीत तत्व सबसे अधिक हैं तो निश्चय ही पालि में। पालि साहित्य एक धार्मिक संप्रदाय का ही साहित्य नहीं है, बल्कि यह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है, जो वैश्विक भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि

से उद्‌भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशों में भी हुआ है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नहीं है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओं को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है जिनमें देश वा राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नहीं होता। बुद्ध धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि-साहित्य में ही हो जाता है। यहां कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं, कोई ऐसा कर्मकांड का विधान नहीं, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नहीं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहां केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझकर मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण है, तो पालि-साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गढ़बन्धन में बंधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है तो उसके लिए भी पालि साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है। विश्व- धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय तो निश्चय ही यह भारतीय जनता को संसार के शेष मनुष्यों के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-संस्कृति को अपने उस महत् दान को दे भी नहीं सकता जिसे उसने बुद्ध-धर्म के रूप में कभी उसे दिया था।

बोध प्रश्न- 1

निम्नलिखित में से सही या गलत का चयन करें।

1. उपनिषद पालि भाषा में लिखे गये थे।
2. बुद्ध वचन प्रमुख रूप में पालि में मिलते हैं
3. संस्कृत और पालि की संज्ञा रूपावली में कोई अंतर नहीं है।
4. पालि की ध्वनि व्यवस्था संस्कृत के समान है।
5. पालि में संस्कृत की आत्मेनपदी क्रियाएँ लगभग समाप्त हो गयीं।
6. पालि भाषा का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी दिखाई पड़ता है।
7. संरचना की दृष्टि से पालि के अधिक निकट संस्कृत है।

बोध प्रश्न-2

लघुउत्तरीय प्रश्न—

1. पालि का प्रारंभिक नाम क्या था।
2. बुद्ध के वचनों को स्मरण कर रखने वाले क्या कहलाते थे ?
3. तिपिटकों के अन्तर्गत कित्तने पिटक शामिल है ?
4. तिपिटक का क्या अर्थ है ?
5. विनय पिटक में कितने ग्रन्थ है ?
6. सुत्तपिटक के अन्तर्गत कितने निकाय है ?
7. सुत्तपिटक में क्या संग्रहित है ?
8. सुत्तपिटक कितने भागों में विभक्त है ?

1.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप 'पालि' का परिचय एवं उसके व्यापक अर्थ से परिचित हुए, साथ ही साथ आपने पालि भाषा की प्रकृति का भी अध्ययन किया। पालि भाषा के सिद्धान्तों को आपने जाना। मगध की राजभाषा होने के कारण यह 'मागधी' भी कहलाई। बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये जो बाद में संगीतियों के माध्यम से तीन भागों में संकलित किये गये और 'तिपिटक' कहे गये। 'तिपिटक' यानी तीन पिटारी। ये तीन हैं- विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक।

पालि-साहित्य का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। प्रमुखतः पिटक-अनुपिटक-वंस-अट्ठकथा-व्याकरण-काव्य व कथा तथा भित्तिलेख व शिलालेख आदि। कुल मिलाकर सात प्रकार के भेद मिलते हैं। बुद्ध के प्रधान शिष्यों ने बौद्ध धम्म संघ को चिरकाल तक जीवित रखने के लिए एक संगीति बुलाने का निश्चय किया। बाद में बौद्ध संगीतियों में बुद्ध भाषित प्रत्येक पंक्ति का संगायन किया गया। इन बुद्ध वचनों को संकलित करने हेतु छः ऐतिहासिक धम्म-संगीतियों का आयोजन किया गया। अत: प्रस्तुत इकाई में आपने पालि साहित्य की उत्पत्ति के साथ उसके विकास या परिवर्तन को भी जाना।

1.9 शब्दावली

शब्द	अर्थ
बुद्ध	विशिष्ट बोधि प्राप्त
भिक्षु	गृहत्यागी
सनातन	सार्वकालिक
साधु	ठीक
कोशल	काशी का प्राचीन नाम
विदिशा	मध्य प्रदेश की सांस्कृतिक केन्द्र
मागधी	मगधप्रदेश की भाषा का नाम
पल्लि	पंक्ति, पालि
सुगति	उत्तम गति
सील	आचरण
अधुना	इस समय
भरहुत	बौद्ध स्तुप स्थल विशेष, (म.प्र.)
गिरनार	गुजरात का एक नगर
उत्कल	उड़ीसा का प्राचीन नाम
तिपिटक	तीन पिटारियों का संग्रह (विनयपिटक, अभिधम्मपिटक, सुत्तपिटक)
अनुपिटक	छोटी पिटारी
अट्ठकथा	अर्थकथा

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. गलत 2. सही 3. गलत 4. गलत 5. सही 6. सही 7. सही

बोध प्रश्न-2

1. पालि का प्रारंभिक नाम मागधी था, यह मगध क्षेत्र की राजभाषा थी।

2. बुद्ध के वचनों को स्मरण कर रखने वाले विनयधार, धाम्मधार सुत्तन्तिक तथा मातृकाधार आदि कहलाते थे।
3. तिपिटकों के अन्तर्गत तीन पिटक शामिल है।
4. तिपिटक का अर्थ है- तीन पिटक या तीन पिटारी अथवा तीन, पिटारियों का संग्रह।
5. विनय पिटक में पाँच ग्रन्थ है।
6. सुत्त पिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय है।
7. सुत्त पिटक में भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सद्वचन संग्रहित है।
8. सुत्तपिटक पाँच भागों या सुत्तों में विभक्त है।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पालि प्रवेशिका- डॉ कोमलचन्द्र जैन, तारा बुक एपेन्सी, वाराणसी।
2. पालि साहित्य का इतिहास- कोमलचन्द जैन, भारतीय बुक कारपोरेशन, वाराणसी।
3. पालि व्याकरण- द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वाराणसी।
4. पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2008 ।
5. भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2019।
6. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, डा. भोलाशंकर व्यास , विश्विद्यालय प्रकाशन वाराणसी 2013।
7. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, खण्डेलवाल पब्लिकेशन्स ,वाराणसी 2001।

1.12 अन्य उपयोगी ग्रंथ

1. पालि साहित्य का इतिहास- भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
2. पालि साहित्य का इतिहास- भिक्षु धर्मरक्षित, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला वाराणसी।
3. पालि साहित्य का इतिहास- राहुल सांकृत्यायन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ।
4. पालि लिटरेचर एवं लेंगवेज

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पालि साहित्य का परिचय दीजिए।
2. पालि साहित्य पर दस पंक्तियॉ लिखिए।
3. पिटकेतर साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. तिपिटकों की विषय वस्तु का विवेचन कीजिए।
5. पालि भाषा का उद्धव एवं विकास को बतलाइए।
6. भगवान बुद्ध के उपदोशों का सार लिखें।

इकाई-2 प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की पृष्ठभूमि

2.3.1 भाषा का अर्थ एवं परिभाषाएं

2.3.2 भारतीय आर्य भाषाओं वर्गीकरण

2.3.2.1 प्राचीन भारतीय आर्य भाषा- वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

2.3.2.2 मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा- पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश

2.3.2.3 आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

2.3.3 प्राकृत भाषा की विशेषताएं, संस्कृत एवं प्राकृत

2.3.4 अपभ्रंश भाषा की विशेषताएं, अपभ्रंश एवं संस्कृत

2.4 प्राकृत भाषा साहित्यका परिचय

2.4.1 प्राकृत भाषाएवं साहित्य का उद्भव एवं विकास क्रम

2.4.1.1 प्रथम प्राकृत या अभिलेखी प्राकृत

2.4.1.2 द्वितीय प्राकृत या साहित्यिक प्राकृत

2.4.1.3 तृतीय प्राकृत या परकालीन प्राकृत (अपभ्रंश)

2.4.2 प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण-

2.4.2.1 जैन आगम प्राकृत साहित्य

2.4.2.1.1 द्वादशांग

2.4.2.1.2 द्वादशोपांग

2.4.2.1.3 दश प्रकीर्ण

2.4.2.1.4 छेद एवं मूल सूत्र

2.4.2.2 आगमोत्तर प्राकृत साहित्य

2.4.2.2.1 प्राकृत भाषा के सामान्य ग्रन्थ

2.4.2.2.2 दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ

2.4.2.2.3 प्रकरण- ग्रन्थ

2.4.2.2.4 प्राकृत- कथाएँ

2.4.2.2.5 प्राकृत- काव्य

2.4.2.2.6 संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत

2.4.3 प्राकृत भाषा के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ
2.5 अपभ्रंश भाषा साहित्य का परिचय
2.5.2अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य का उद्भव एवं विकास
2.5.3अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण-
2.5.3.1 अपभ्रंश-काव्य
2.5.3.2 अपभ्रंश-रूपक
2.5.3.3 अपभ्रंश-कथा
2.5.4 अपभ्रंश भाषा के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएं
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची
2.10 उपयोगी पुस्तकें
2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

'सहितस्य भावं इति साहित्यं' अर्थात् हित के भाव को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य कहा गया है, जिसमें समाज के विविध पक्ष दृष्टिगत होते हैं, अत एव ''साहित्यसमाज का दर्पण''इस नाम से अभिधेयित है। साहित्य के विकास का आधार उसकी भाषा है, जो मनुष्य की सांस्कृतिक वातावरण का बोध कराती है। अतः सर्वप्रथम भाषा की पृष्ठभूमि से अवगत होना आवश्यक है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की भाष् धातु से हुई है,जिसका अर्थ है स्पष्ट वाणी। विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही भाषा कही गयी है । सामान्यतः हम कह सकते हैं की विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा कहलाती है। इस दृष्टी से खण्ड 2 की इस इकाई 2 के अंतर्गत प्राकृत एवं अपभ्रंश कालीन साहित्य के पृष्ठभूमि के रूप में भाषा का अर्थ एवं परिभाषा, प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में-वैदिक संस्कृत तथा उत्तर वैदिक संस्कृत अर्थात् लौकिक संस्कृत । मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में-पाली, प्राकृत एवं प्रारंभिक अपभ्रंश। तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के स्वरुप पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला जाएगा। साथ ही प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के उद्भव एवं विकास के क्रम में उनका विकास, संस्कृत एवं प्राकृत तथा संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा की सूक्षम समीक्षा, प्राकृत एवं अपभ्रंश कालीन रचनाएँ एवं तत्कालीन लेखकों का परिचय आदि का वर्णन किया गया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

- भाषा का अर्थ एवं परिभाषा तथा उसके स्वरुप को समझेंगे ।
- भारतीय आर्य भाषाओं से परिचित होंगे।
- प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं से अवगत होंगे ।
- संस्कृत,प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध को जानेंगे।
- प्राकृत भाषा एवं साहित्य के उद्भव तथा विकास क्रम को जानेंगे ।
- अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य के उद्भव तथा विकास क्रम को जानेंगे ।
- प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा साहित्य को पुष्ट करने वाले कवियों, कथाकारों, नाटककारों आदि के विषय में जानेंगे ।

2.3 प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2.3.1 भाषा का अर्थ एवं परिभाषाएं

ईश्वर की विवेकशील शक्ति से संपन्न मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एवं उसके समाज के निर्माण में उसकी भाषा का प्रमुख योगदान है, समाज में रहते हुए वह लिखित, मौखिक एवं सांकेतिक रूप में अपने भावों या विचारों का विनिमय करता है । विद्वानों ने प्रायः भाषा के इन तीनों रूपों में स्पष्ट वाणी अर्थात स्पष्ट अर्थ प्रकट करने वाले शब्द समूह को ही भाषा के अर्थ में ग्रहण किया है । भाषा को भासित करने वाले शब्द के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ऐसाकोई ज्ञात विषय नहीं है जो शब्द का आश्रय न लेता हो, सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से ही उत्पन्न हुआ है-**नसोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दनुगामादृते ।**

अनुबिद्धमिव ज्ञानम् सर्व शब्देन भासते। ।

भाषा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की भाष् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है कहना या बोलना है, अतः भाषा का अर्थ अपने भावों या विचारो को स्पष्ट रूप में व्यक्त करना है। भाषा के आशय के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न- भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं-पतंजलि के अनुसार- वर्णों में व्यक्त वाणी को भाषा कहते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है- **'वाग्वै सम्राटम् परमम् ब्रह्मं'**अर्थात् वाणी संसार का सम्राट है। काव्यादर्श के प्रणेता आचार्य दण्डी ने भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि-**वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते**। वस्तुतः हमारी लोकयात्रा वाणी से ही हो पाती है। डॉ0 बाबुराम सक्सेना के मत में- जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है उनको भाषा कहते हैं। भोला नाथ तिवारी के अनुसार- भाषा मानव के उच्चारण अवयवों से उच्चरितध्वनि प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था, जिसके द्वारा समाज के लोग विचार विनिमय करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा मानव विकास की लोकयात्रा का परिचायक है, जो मानव जीवन की सार्थकता का उजागर करती है।

2.3.2 भारतीय आर्य भाषाओं वर्गीकरण-

भारत में आर्यभाषाओं का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के साथ ही हुआ, भारत में आर्य ईरानियों और दरद आदि जाति समुदाय से पृथक होकर 1500 ई0 के आस-पास भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से भारत में प्रविष्ट हुए। भारत में वैदिक सभ्यता का विकास आर्यों के आगमन के साथ ही आरम्भ हुआ है। वैदिक संस्कृति की पोषक संस्कृत ही आर्यों की भाषा थी, इसी आधार पर भाषा वैज्ञानिकों ने भारतीय आर्यकालीन भाषाओं तथा परवर्ती विकास क्रम को प्रस्तुत किया जो निम्न प्रकार से स्पष्ट है-

2.3.2.1 प्राचीन भारतीय आर्य भाषा- वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

भारतीय आर्यों की भाषा का उल्लेख वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होता है। पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर के मत में वेदों का समय 1200 ईस्वी पूर्व का माना जाता है। अत एव आर्यों का समय इससे भी पूर्व 800-900 ईस्वी पूर्व का माना जाता है, तत्पश्चात उनका भाषाई साहित्य उनके प्रचलन में आया होगा। कतिपय विद्वानों का मानना है की प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का समय 2000 ईस्वी से 500 ईस्वी पूर्व तक का है एवं इस काल में लिखित एवं मौखिक रचनाओं का आधार वैदिक संस्कृत तथा आम बोलचाल की भाषा वैदिकेतर संस्कृत थी। इस दृष्टी से इस काल प्रचलित भाषा को दो वर्गों में रखा जाता है- वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृत में स्तुति परक संस्कृत मंत्रो के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा वेदांगों विकास हुआ। विद्वानों द्वारा वैदिक संस्कृत का समय 2000 ईस्वी पूर्व से 800 ईस्वी पूर्व तक माना गया है। इसे प्राचीन संस्कृत, वैदिकी, वैदिक संस्कृत या छन्दस आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। अतः इस भाषा का विकास वैदिक साहित्य में प्रायः देखा जा सकता है। वैदिकोत्तर भाषा को ही लौकिक संस्कृत कहा जाता है। लौकिक भाषा के अर्थ में संस्कृत का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में देखने को मिलता है। भोलानाथ तिवारी ने इस भाषा को क्लैसिकल संस्कृत कहा है। विद्वानों के द्वारा लौकिकसंस्कृत का समय 800-500 ईस्वी पूर्व तक अंगीकार किया गया है।

2.3.2.2 मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा- पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश

संस्कृत, पाणिनि के कठोर व्याकरणीय नियमों में परिणत होकर आम जनमानस हेतु दुरूह बन गई। परिणाम स्वरुप भाषा की एकरूपता का ह्रास होने लगा तथा इसके क्षेत्रीय रूप

प्रकट होने लगे। आमजनमानस ने इस भाषाव्याकरणीय नियमों का त्याग कर अपनी सुविधानुरूप उच्चारण कर प्रयोग किया। दीर्घकालीन प्रभाव के कारण यह भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक में परिणत होकर इससे पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का विकास हुआ। डा० उमाशंकर ऋषि ने मध्यकालीन आर्य भाषाओं का समय 500-1000 ईस्वी पूर्व माना है एवं इसके विकास क्रम को तीन चरणों में वर्गीकृत किया- प्राचीन प्राकृत तथा पाली, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रंश।

2.3.2.3 आधुनिक भारतीय आर्य भाषा

क्षेत्रीय स्वरुप में परिवर्तन के परिणाम स्वरुप अपभ्रंश भाषा के विविध स्थानीय रूप 1000 ई0 के आस-पास आधुनिक भाषाओं में परिणत हुए, जिसमें अनेक भाषाएँ थी। डा० उमाशंकर ऋषि ने इन्हें नव्य भारतीय आर्य भाषा कहा है। तत्कालीन संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात करती हुयी ये भाषाएँ जनसाहित्य के विकास में प्रवृत्त होने लगी। डा०सुनीति कुमार चटर्जी के मत में विदेशी आक्रान्ताओं में तुर्क अफगान विजेताओं ने अपनी संस्कृति के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ आधुनिक आर्य भाषा क्षेत्रों को ग्रहण करके साहित्य रचना का मार्ग भी प्रशस्त किया है। आधुनिक आर्य भाषाओं में गुजरती, राजस्थानी, मराठी, पंजाबी, डोगरी, नेपाली, हिंदी, मैथली, बंगला, उड़िया तथा असमिया आदि प्रमुख भाषाएँ हैं, जिनमें सांस्कृतिक परिचय की उद्भावना में लोकसाहित्य का सूत्रपात भी होने लगा। डा० राजमल बोरा के मत में आधुनिक आर्य भाषाओं में- कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, मलयालम, तमिल, तेलगु, उड़िया, बंगला और असमी ये ११ प्रमुख भाषाएँ थी। 1000 ई0 पूर्व का प्राचीन साहित्य भी कदाचित इन भाषाओं में भी प्राप्त हुआ किन्तु मुख्य रूप से आधुनिकता का प्रतिनिधित्त्व करने वाली इन भाषाओं में कथा, लोकगाथाएं, लोकोक्तियाँ आदि का विकास विभिन्न संस्कृतियों के परिचायक के रूप में हुआ है।

2.3.3 प्राकृत भाषा की विशेषताएं, संस्कृत एवं प्राकृत

प्राकृत को आम तौर पर जैन धर्म की भाषा माना जाता है, जिसमें प्राकृत साहित्य का प्रणयन हुआ। प्राकृत भाषा की सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं-

- प्राकृत भाषा में स्वरों के लिए ध्वन्यात्मक प्रणाली सरल है, इसमें पांच दीर्घ और पांच लघु स्वर हैं एवं संयुक्त व्यंजनों का प्रायः अभाव है। प्राकृत में व्यंजन समूहों को सरल बनाया गया है। जैसे- धर्म को धम्म और रक्त को रत्ता।
- प्राकृत में किसी शब्द के अंत में व्यंजन नहीं होता। प्राकृत में संख्या प्रणाली प्रायः एकवचन और बहुवचन में है। प्राकृत में कर्ता के भेद आठ होते हैं एवं संप्रदान कारक की उपेक्षा की जाती है।
- प्राकृत में विसर्ग नहीं पाया जाता है एवं प्राकृत में क से लेकर म् तक के स्पर्शवर्ण हैं तथा प्राकृत में तीनों ऊष्म वर्णो के स्थान पर केवल एक और विशेषतः स् ही अवशिष्ट पाया जाता है।
- ध्वनि की दृष्टी से प्राकृत भाषाएँ (शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, पैशची) पालि के पर्याप्त निकट मानी जाती है। इनमें भी ए, ओ, ल एवम् ह का प्रयोग एक जैसा हीहैं तथा अन्य मूल ध्वनियाँ-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, एँ, ए, ओ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्,ढ़्।

- प्राकृत क्षेत्र में पश्चिमोत्तर प्राकृत क्षेत्र में श्, ष्, स्, ध्वनियाँ कुछ समय तक ही रही तत्पश्चात ष् ध्वनि श्, में परिवर्तित हो गई।
- प्राकृत भाषाओं में सर्वाधिक ध्वनि परिवर्तन महाराष्ट्री तथा मागधी में हुए। स्वर मध्य "ग" अघोष अल्पप्राण स्पर्श का घोष : मूक>मूगो, लेष्टु>लेड्डू। घोष व्यंजनों के उच्चारण में शीथिलता के कारण पूर्ण स्पर्श अपूर्ण स्पर्श में परिवर्तित होकर मात्र स्वर शेष रहा। यथा- सागर>साअर, कमल>कअल।

उपर्युक्त प्राकृत भाषा की विशेषताओं के तत्पश्चात संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के भाषाई तथ्यों पर विचार करें तो संस्कृत भाषा वैदिक काल के पश्चात लौकिक में वाग्व्यवहार के रूप में प्रचलित हुई एवं समाज के शिक्षित व उच्च वर्ग के लोगों द्वारा ही प्रयोग में लाई जाती रहीएवं इस भाषा के विकृत रूप का वाग्व्यवहार निम्न वर्ग के लोगो में प्रचलित हुआ। संस्कृत का यही विकृत रूप प्राकृत का प्रारम्भिक स्वरुप था । पाणिनि के व्याकरण ने जहाँ एक ओर सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्रों को भाषाई दृष्टी से एक सूत्र में बाँध दिया। वहीँ प्राकृत भाषा अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण परिवर्तित हुई एवं इसके कई भाषाई रूपों शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी आदि विकसित हुए। संस्कृत के मूल शब्द ही तत्सम शब्द हैं, जो वैयाकरणीय दृष्टी से सिद्ध हैं किन्तु यही तत्सम शब्द विभक्ति रहित होकर प्राकृत तद्भव, देशी आदि रूपों में प्रयुक्त हुए। इस प्रकार संस्कृत एवं प्राकृत में कितना भी भेदाभेद का निर्वचन क्यों न हो परन्तु साहित्यिक दृष्टी से कवियों की रचनाओं में संस्कृत एवं प्राकृत एक साथ मंजुल प्रयोग भी दृष्टीगत होता है। महाकवि दंडी ने काव्यादर्श में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के मिश्रित रूप को आर्यों का साहित्य कहा है-

तदेतद् वाङमयम् भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्। ।

2.3.4 अपभ्रंश भाषा की विशेषताएं, अपभ्रंश एवं संस्कृत

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अपभ्रंश भाषा प्राकृत भाषा का विकृत रूप है, यह भाषा भी आम जन भाषा के रूप में लोकप्रिय हुई। इसकी सामान्य विशेषताओं के विषय में अनुशीलन करने पर अवगत होता है कि–

- इसमें स्वतंत्र ध्वनियाँ अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,एँ,ए,ओँ,ओ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य,र,ल,व,स,ह,ळ,ळह,म्ह,न्ह,ण्ह,ल्ह, र् ह्, ड़, ढ़ थीं।
- ऋ अतिरिक्त अन्य स्वरों का अनुनासिक प्रयोग।
- अपभ्रंश एक उकार बहुला भाषा है। इसमें शब्द के अंतिम श्वर को ह्रस्व प्राकृत की अपेक्षा बढ़ गई ।
- अपभ्रंश में स्वराघात प्रायः आद्य अक्षर पर किया जाता है, अतः उसका आद्य अक्षर प्रायः यहाँ सुरक्षित
  मिलता है। जैसे- मणिक्य-माणिक्क, घोटक-घोटअ।
- पालि एवं प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का विकास स्वतंत्र रूप में हुआ है। यह भाषा अपने विकसित रूप में संस्कृत से पूर्णतः पृथक हो गई, किन्तु साहित्यिक रचनाओं में प्राकृत एवं अपभ्रंश मिश्रित शैली का प्रयोग होता रहा है।

अपभ्रंश की उपर्युक्त विशेषताओं के बाद संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा की समीक्षा करें तो संस्कृत एक आद्य भाषा है, पालि-प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं की जननी है एवं इसका साहित्य अपने आप में विशाल तथा ज्ञान वर्धक है। जबकी अपभ्रंश भाषा प्राकृत का विकृत रूप है जो कि संस्कृत के निकट नहीं है। संस्कृत का व्याकरण अपभ्रंश की अपेक्षा अधिक परिनिष्ठित है जबकि अपभ्रंश स्थान एवं समय की दृष्टी से प्राकृत की भांति ही परिवर्तित रही है। साहित्यिक दृष्टी से संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा में बृहद अंतर है , किन्तु संस्कृत के रूपकादि ग्रंथों एवं काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में प्राकृत की भांति ही अपभ्रंश का भी संकेत अवश्य उपलब्ध होता है।

2.4 प्राकृत भाषा साहित्य का परिचय

2.4.1 प्राकृत भाषा साहित्य का उद्भव एवं विकास

प्राकृत भाषा के अर्थ की दृष्टी विद्वानों का मतैक्य नहीं है- कतिपय भाषा वैज्ञानिकों का मत है की प्राकृत भाषा की व्युत्पत्ति दो शब्दों के योग से हुई है- **प्राक्+कृत**। जिसमें प्राक् का अर्थ है पूर्व तथा कृत का अर्थ है बनाई गई। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने प्राकृत भाषा के सन्दर्भ में कहा है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत रूप प्राकृत है। **नेमी साधू** ने अपनी रचना काव्यालंकार की टीका में प्राकृत से आशय है-**प्राकृतेति सकल जगत जन्तुनां व्याकरणादिरनाहत संस्कारः सहज वचन व्यापारः प्रकृति तत्र भवः सेव वा प्राकृतम्।** इस रूप में प्राकृत पुरानी भाषा है एवं संस्कृत उसकी संस्कार की हईबाद की भाषा है। आचार्य लक्ष्मीधर ने प्रकृत संस्कृत की विकृति को ही प्राकृत कहा है-**प्रकृते, संस्कृयास्तु विकृतिः प्राकृती मता**। आचार्य हेमचन्द्र के मत में- प्रकृति या मूल संस्कृत है, एवं संस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव हुआ है- **प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतम्।** आचार्य सिंह देवमणि ने प्राकृत का उद्भव प्राकृत संस्कृत से माना है-**प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्।** आचार्य वासुदेव के मत में-संस्कृत ही प्राकृत की जननी है-**प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनिः**। इसी प्रकार संस्कृत हिंदी शब्दकोश के रचनाकार **वामन शिव राम आप्टे** के अनुसार प्राकृत शब्द **प्रकृति+अण** प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है-मौलिक, नैसर्गिक, अपरिवर्तित।

प्राकृत साहित्य का स्वरुप प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास क्रम से अवगत होता है। प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रायः जैन धर्म की धार्मिक एवं साहित्यिक भाषा के रूप में किया जाता रहा है। जैनधर्म के 24वें तीर्थ कर महावीर स्वामी के प्राकृत भाषा में दिए गए उपदेशों के परिणाम स्वरुप प्राकृत भाषा आमजनमानस में लोक प्रिय बनी। परन्तु दीर्घकालीन परिवर्तनों के बाद भी यह भाषा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत से पूर्ण रूप से पृथक नहीं रह पाई। इस कारण विद्वानों ने इसे संस्कृत भाषा में हुए दीर्घकालीन परिवर्तनों का निष्कर्ष कहा है। अतः यह कहा जा सकता है तत्कालीन समाज में जैनोपदेश होने के बाद भी कुछ समय तक ही यह भाषा आमजनमानस की सरल एवं सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बनी, किन्तु शिक्षित वर्गों द्वारा इस भाषा में स्वतंत्र साहित्य का विकास दीर्घ काल किया जाता रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राकृत संस्कृत का विकृत रूप है जो जैनोपदेश से आम जन भाषा के रूप में अधिक प्रसारित हुई एवं शनैः शनैः इस भाषा में साहित्य का सृजन होने लगा। इसका विकास तीन रूपों में हुआ- प्रथम प्राकृत, मध्यकालीन प्राकृत या द्वितीय प्राकृत, परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश।

प्रथम प्राकृत (अभिलेखी प्राकृत एवं पाली)

इस भाषा का विकास काल 500-100 ई.पू. तक माना जाता है, जिसमेंमहावीर स्वामी के उपदेश, जैनसूत्रों की भाषा एवं प्रारम्भिक नाटकों की भाषा प्राकृत थीएवं भगवान् बुद्ध के उपदेश, महावंश, जातक आदि कथाएं पाली में सन्निबद्ध थी। प्राकृत भाषा के पर्याय रूप में अभिलेखी प्राकृत एवं पाली भाषा का विकास हुआ। अभिलेखि प्राकृत में तृतीय शताब्दी ई.पू. से प्रथम शती ई. तक के शिलालेख इसके अंतर्गत आते हैं एवं पाली भाषा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ ही विकसित हुई। अभिलेखी प्राकृत में शिला पर उत्कीर्ण लेखों का उल्लेख प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाता है। सम्राट अशोक ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी धार्मिक एवं शासनिक आज्ञाएं एवं सूचनाएं प्राकृत भाषा में शिलाओं पर अंकित कराई थीं। इन्हीं कोपरवर्ती काल में अभिलेखी प्राकृत कहा गया। प्राकृत भाषा में ये अभिलेख तीन प्रकार से से वर्गीकृत हैं-चट्टानों पर उत्कीर्ण अभिलेख, स्तंभों पर उत्कीर्ण अभिलेख, गुफाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख। जिनका उल्लेख परवर्ती जैन साहित्यिक इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में किया है। अशोक कालीन प्राकृत अभिलेखों के पश्चात भारत के विविध क्षेत्रों में-पश्चिमोत्तरी, दक्षिण-पश्चिमी, मध्यपूर्वी तथा पूरब में प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण अभिलेख मिले हैं, जिनमें शाहबाजगढ़ी, गिरनार, कालसी, सौह्गोरा, हाथी का गुम्फा अभिलेख प्रमुख है, जो तत्कालीन प्राकृत भाषा के विकसित होने उत्कृष्ट निदर्शन हैं।

मध्यकालीन प्राकृत या द्वितीय प्राकृत

मध्यकालीन प्राकृत को साहित्यिक प्राकृत भी कहा जाता है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भारतमुनि ने सर्वप्रथम प्राकृत भाषा के सन्दर्भ में अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए प्राकृत को दो भागों में वर्गीकृत किया-मुख्य प्राकृत तथा गौण प्राकृत। मुख्य प्राकृत में-मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीक तथा दाक्षिणात्य एवं गौण प्राकृत में-शाबरी, अभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्रविड़ी, उद्स्ता तथा वनेचरी प्रमुख हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध वैयाकरणाचार्यों में **वररुचि** ने मध्यकालीन प्राकृत या साहित्यिक प्राकृत के चार भेद माने हैं-शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी तथा पैशाची। वररुचि द्वारा बताये गए इन चार प्राकृत भाषाई रूपों में हम सर्वप्रथम शौरसेनी प्राकृत के विषय में अधयन करेंगे-

शौरसेनी प्राकृत

शौरसेनी प्राकृत का विकास मथुरा या सूरसेन के आस-पास के क्षेत्रों में हुआ, या यह कह सकते हैं कि यह शूरसेन व मथुरा में बोली जाने वाली बोली थी। कुछ भाषा वैज्ञानिकों का मानना है कि इस भाषा का विकास स्थानीय भाषा पाली से हुआ है। यह भाषा तत्कालीन लेखकों के नाटकों की प्रिय भाषा रही है एवं संस्कृत नाटकों की गद्य की भाषा के रूप में दृष्टीगत हई। भरतमुनि ने इस भाषा को नाटको की प्रधान भाषा कहा है-शौरसैनं समासृत्य भाषा कार्य तु नाटके। वररुचि ने प्राकृत भाषा का आधार संस्कृत को कहा है-प्रकृतिः संस्कृतम्। रामशर्मन ने अपने ग्रन्थ प्राकृतकल्पतरु में-**"विरच्यते सम्प्रति शौरसेनी पूर्वैव भाषा प्रकृतिः किलास्याः"** रूप में महाराष्ट्री को शौरसेनी काआधार माना है। आचार्य राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी का समस्त गद्य भाग शौरसेनी प्राकृत में वर्णित है। अश्वघोष के नाटकों में भी शौरसेनी का प्राचीनतम रूप दृष्टीगत होता है। अश्वघोष के अतिरिक्त भास एवं कालिदास के नाटकों की गद्य भाषाकहीं-कहीं शौरसेनी प्राकृत है। जैन दिगंबर सम्प्रदाय ने भी अपने

साम्प्रदायिक ग्रंथों के लेखन में शौरसेनी प्राकृत का उपयोग किया एवं इसे दिगम्बर शौरसेनी कहा है।

महाराष्ट्री प्राकृत—

प्राकृत महाराष्ट्री, महाराष्ट्र क्षेत्र में बोली जाने वाली बोली है। इसके नाम से ही स्पष्ट इसके मूल आधार क्षेत्र के विषय मेंअवगत होता है। कतिपय विद्वानों ने इसे महाराष्ट्रतक सीमित न मानकर सम्पूर्ण मध्य भारत की भाषा कहा है। डा० भोलानाथ तिवारी के अनुसार प्राकृत कालीन कवियों ने महाराष्ट्री प्राकृत भाषा की कोमलता की प्रसंशा की है। महाराष्ट्री प्राकृत में उपनिबद्ध ग्रन्थ वज्जालग्ग में जयवल्लभ कहते हैं कि ललित, मधुर, युवतीजन के प्रिय श्रृंगार रस से पूर्ण प्राकृत काव्य के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है?-

ललित महुरक्खरए जुवई यण वल्लहे स सिंगारे।
संते पाउव कव्वे की सक्कइ सक्कयं पढिउं। ।

महाराष्ट्र के अतिरिक्त उत्तर भारत में इसका प्रचार एवं प्रसार था, यही कारण है कि भास, कालिदास, हर्ष आदि कवियों के नाटकोंमें महाराष्ट्री प्राकृत भी दृष्टीगत होती है। महाराष्ट्री प्राकृत में भी प्रचूर साहित्य का सृजन हुआ। अत एव विद्वान महाराष्ट्री प्राकृत को काव्य की कृतिम भाषा मानते हैं। प्राकृत में सर्वाधिक साहित्य सामग्री महाराष्ट्री प्राकृत में उपलब्ध होती है। महाराष्ट्री प्राकृत की प्रसिद्ध रचनाओं में राजा हाल कृत गाहा सत्तसई (गाथा सप्तशती), प्रवरसेन कृत रावनवहो (सेतुबंध), वाक्पतिराज कृत गउडवहो (गौडवध), जयवल्लभ कृत वज्जालग्ग एवं हेमचंद्राचार्य कृत कुमारपालित प्रमुख हैं।

मागधी एवं अर्धमागधी प्राकृत—

मागधी मगध एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों की भाषा है, प्रसिद्ध वैयाकरणाचार्य वररुचि ने इस भाषा को शौरसेनी प्राकृत का पर्याय माना है। लंका में मागधी प्राकृत को पाली भाषा कहा जाता है। मागधी भाषा में कोई स्वतंत्र रचना उपलब्ध नहीं होती, परन्तु शूद्रक प्रणीत मृच्छकटिकम् एवं कालिदास के तीन नाटकों में उल्लेखित निम्न पात्रों के व्यवहार में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा मागधी के संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। अर्धमागधी भाषा का विकास कोसल प्रदेश (आधुनिक गोरखपुर क्षेत्र) में हुआ। मागधी एवं शौरसेनी के गुण वैशिष्ट्य के कारण भाषा वैज्ञानिकों ने इस भाषा को मागधी और शौरसेनी की मध्य की भाषा के अंतर्गत रखा है।

पैशाची—

पैशाची भाषा का विकास पचिमोत्तर प्रान्त एवं अफगान क्षेत्र में माना जाता है। भाषा वैज्ञानिकों द्वारा इस भाषा को पैशाचिकी, पिशाचिका, ग्राम्या, भूत भाषा, भूतवचन एवं भूत भाषित आदि नामों से अभिहित किया गया है। महाभारत में पिशाच जाति का उल्लेख है अत एव महाभारत में इसे पिशाचों की भाषा कहा गया है। हिंदी के प्रसिद्ध इतिहासकार गिर्यर्सन इस भाषा को दरद भाषा (कश्मीर एवं पश्चिमोत्तर प्रान्त की भाषा) प्रभावित माना है। आचार्य वररुचि ने पैशाची भाषा का आधार संस्कृत स्वीकार किया है। आचार्य मार्कण्डेय द्वारा इस भाषा के तीन रूप अंगीकृत किए गए हैं-कैकेय, पांचाल, एवं शौरसेन। इसी प्रकार प्राकृत सर्वस्व में देश तथा जाति के आधार पर पैशाची भाषा के11 भेदों का उल्लेख किया गया है। पैशाची भाषा में साहित्य का विवरण उपलब्ध होना नगण्य है, परन्तु इसके प्राचीन स्वरुप में गुणाढ्य की वृहत् कथा संग्रह ‘‘वृहत् कथा’’ मूलतः पैशाची भाषा में ही है। आचार्य हेमचन्द्र कृत कुमारपालित एवं

काव्यानुशासन तथा हम्मीरमदमर्दन में पैशाची भाषा का प्रचूर प्रयोग है एवं काव्यानुशासन में इन्होंने पैशाची भाषा का एक रूप चूलिका पैशाची बताया है।

परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश—

तृतीय प्राकृत में प्राकृत भाषा का विकृत रूप अपभ्रंश भाषा है। यह भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की मध्य की कड़ी है। भाषा वैज्ञानिकों का मत है की इस भाषा का विकास पांचो प्राकृत से हुआ है। अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग दंडी, व्याडि, पतंजलि, भर्तृहरि भामह आदि संस्कृत कवियों द्वारा किया गया। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में अपभ्रंश के प्राचीन उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कतिपय साहित्यकारों का मानना है की आचार्य दंडी के समय में ही अपभ्रंश का प्रयोग प्रारंम्भ हो चुका था एवं अपभ्रंश भाषा में तत्कालीन साहित्य का प्रचूर विकास हुआ है। अपभ्रंश भाषा की प्रमुख रचनाओं में-हरिषेण कृत पउमचरित, पुष्पदन्त कृत महापुराण और जसहर चरिउ, विद्यापति कृत कीर्तिलता, अद्यहमाण कृत सन्देश रासक आदि प्रमुख हैं।

2.4.2. प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण—

प्राकृत साहित्य स्वरुप एवं विषय की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है तथा भारतीय संस्कृति के सर्वांग परिशीलन के लिये उसका स्थान अद्वितीय है, उसमें उन लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व किया गया है, जिन्होंने वैदिक काल एवं संभवत: उससे भी पूर्वकाल से लेकर देश के विविध भागों को गंगा यमुना आदि महानदियों के समान प्लावित किया है और कवियों, लेखकों, कथाकारों आदि ने प्राकृत साहित्यभूमि को उर्वरा बनाया हैं।प्राकृत साहित्य के अध्ययन को भाषा विद्वानों व साहित्यकारों ने स्वमतानुसार वर्गीकृत किया है। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ने प्राकृत साहित्य को 10 भागों में वर्गीकृत किया है-

1.जैन आगम-साहित्य- ई0 सन् के पूर्व 5वीं शताब्दी से ई0 सन् की 5वीं शताब्दी तक।

2.आगम व्याख्या साहित्य-ई0 सन् दूसरी शताब्दी से 16वीं शताब्दी।

3.दिगंबर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्र -प्रथम शताब्दी से 16वीं शताब्दी।

4.आगमोत्तर कालीन जैन साहित्य- प्रथम शताब्दी से 10 वीं शताब्दी।

5.प्राकृत कथा साहित्य- ई0 सन् 4वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी।

6.प्राकृत चरित साहित्य-ई0 सन् 4वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी।

7.प्राकृत काव्य साहित्य- ई0 सन् प्रथम शताब्दी से 18वीं शताब्दी।

8.नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत- ई0 सन् प्रथम शताब्दी से 18वीं शताब्दी।

9.व्याकरण, छान्द्कोश एवं अलंकार ग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृत- ई0 सन् 6टवीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी।

10.शास्त्रीय प्राकृत साहित्य- ई0 सन् प्रथम शताब्दी से 14वीं शताब्दी।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुशीलन के पश्चात प्राकृत साहित्य को निम्नलिखित दो रूपों में वर्गीकृत कर अध्ययन किया जा सकता है-

1. जैन आगम प्राकृत साहित्य
2. आगमोत्तर प्राकृत साहित्य

2.4.2.1 जैन आगम प्राकृत साहित्य

जैन आगम परंपरा महावीर स्वामी के धार्मिक उपदेशों के फलस्वरूप तत्कालीन समाज में प्रकीर्ण हई। प्रसिद्ध जैन मुनि भद्रबाहु के अनुसार अर्हत भगवान ने आगमों का प्रारूपण किया

एवं उनके गणधरों द्वारा इन्हें सूत्रबद्ध किया। इन्हें ही जैन आगम कहा जाता है। आगमों की भाषा अर्धमागधी है, क्योंकि महावीर स्वामी के अर्धमागधी प्राकृत में दिए गए उपदेशों को उनके गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में उपनिबद्ध किया गया था। इसके अतिरिक्त गुरु शिष्य परंपरा में मौखिक रूप में प्रचलित संवाद श्रुतांग कहलाया। गुजरात वल्लभी में जैन मुनि क्षमाश्रवण की अध्यक्षता में आयोजित द्वितीय जैन संगीति में 12 आंगों, 12 उपांगो, 6 छेद सूत्रों, 4 मूलसूत्र तथा 10 प्रकीर्णकों एवं 02 चूलिकाओं को ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया गया, इस प्रकार प्राकृत में प्रथम 46 ग्रन्थ व्यवस्थित हो गए जो आज भी उपलब्ध होते हैं। इन्हें निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है-

2.4.2.1.1 द्वादशांग

जैन परंपरा में प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध सबसे प्राचीन ग्रन्थ द्वादशांग हैं। यहाँ आंग शब्द से तात्पर्य उपदेश से है,जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ वेद हैं एवं इनकी संख्या 4 है, उसी प्रकार जैन धर्म के इन ग्रंथों की संख्या 12 है। इसलिए इन्हें द्वादशांग कहा जाता है-आचरांग,सूत्रकृतांग,स्थानांग,समयांग,भगवतीव्याख्याप्रज्ञप्ति,न्यायधर्मकथा (णायाधम्महाओ), उपासकदशा,अंतकृदशा, अनुत्तेरोपपातिक,प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र एवं दृष्टीवाद। इन द्वादशांगों मेंमुनियों के आत्मसात करने योग्य सदाचार का विवरण, क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि का प्ररूपण तथा निराकरण,अच्छे और बुरे-कर्मो से फलित होनेवाले सुख-दु:खों का कर्मसिद्धांतनुसार वर्णन किया गया है।

2.4.2.1.2 द्वादशोपांग

जैनधर्म में द्वादशांगों के पश्चात् द्वादश उपांगों का अति महत्त्व बताया गया है। इनमें औपपातिक, राजप्रश्नीय,जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञाप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला, वृष्णिदशा है। इन उपांगोंमें नाना साधनाओं द्वारा पुनर्जन्म के स्वरूप, प्रश्नोंत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेदप्रभेदों का वर्णन, विविध लोकों का जैन मान्यतानुसार वर्णन, स्त्री-पुरुषों की धार्मिक साधना, स्वर्गसुखों और महावीर की वंदना के लिये आगमन का वर्णन किया गया है।

2.4.2.1.3 दशप्रकीर्ण

प्राचीन जैन आगम साहित्य में अध्ययन क्रम की दृष्टी से द्वादशांग तथाद्वादाशोपांगों के पश्चात् दस प्रकीर्णों का क्रम है, ये सभी प्रकीर्णक प्रायः पद्यात्मक हैं एवं इनमें मुनियों द्वारा जीवन में आत्मसात करने योग्य नीति का उपदेश दिया गया है। इनकी संख्या 10 है-चतु:शरण, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा,तंदुल वैचारिक, संस्तारक, गच्छाचर, गणिविद्य, देवद्रस्तव। इनमें दुष्कृत की निंदा एवं सुकृत के प्रति अनुराग की अभिव्यक्ति, गाथाओं में दुष्चरित्र की निंदा, एकत्व भावना, माया का त्याग, पुद्गलों से अतृप्ति, पञ्च महाव्रत आदि विषयों एवं साधू-साध्वियों के हितार्थ सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है।

2.4.2.1.4 छेद एवं मूलसूत्र

छेद सूत्रों को जैन आगम का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इन सूत्र आगमों में पाप कर्मो की प्रायश्चित आदि विधियों तथा नित्य कर्म के प्रतिपादक 6 आवश्यक क्रियाअनुष्ठानों, धार्मिक स्तुतियों में काव्यमय उपमा संवाद एवं दृष्टान्तोंका उल्लेख किया गया है, इनकी संख्या 06 है-

निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, कप्प, पञ्चकप्प। बारह उपांगों की भांति मूल सूत्रों का उल्लेख जैन आगमों में प्राप्त नहीं होता है। महावीर स्वामी के उपदेशों के सामान ही इन्हें मौखिक रूप में प्रचलित किया गया था। इनकी संख्या 05 मानी जाती है- उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति।

2.4.2.2 आगमोत्तर प्राकृत साहित्य

जैन विद्वानों के अनुसार आगमोत्तर कालीन जैन साहित्य का विकास 5वीं से 10 वीं शताब्दी के मध्य स्वतंत्र रूप में हुआ। जैन विद्वानों ने तत्वज्ञान, आचार-विचार, क्रियाकांड, तीर्थ, पट्टावलि, ऐतिहासिक-प्रबंध पर भी प्राकृत भाषा में विभिन्न ग्रंथों की रचनाएं की हैं, जिनमें कतिपय सामन्य ग्रन्थ, दार्शन सम्बन्धी ग्रन्थ, सैद्धांतिक ग्रन्थ, श्रावकाचार तथा प्रकरण सम्बन्धी ग्रन्थ प्रमुख थे-

2.4.2.2.1 सामान्य ग्रन्थ

सामान्य ग्रन्थों को अध्ययन क्रम की दृष्टी से विद्वानों के द्वारा तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है- विशेषावश्यकभाष्य, प्रवचनसारोद्धार, विचारसार प्रकरण। विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता "जिनभद्रगाणि क्षमाश्रवण हैं, इन्होंने इस भाष्य में 3603 गाथाएँ हैं। इसी भाष्य में सर्वप्रथम मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवल ज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रवचनसारोद्धार भाष्य के कर्ता नेमिचंद्रसूरी हैं, जिनका समय 13वीं शताब्दी का माना जाता है। से सम्बंधित विभिन्न विषयों का उल्लेख होने के कारणइस ग्रन्थ को जैनधर्म का विश्वकोष कहा जाता है। विचारसार प्रकरण भाष्य के प्रणेता देवसूरी के शिष्य प्रद्युम्न सूरी माने जाते हैं, जिनका समय 1325ई. माना जाता है। इस भाष्य में कर्मभूमि, अकर्मभूमि, अनार्यदेश, आर्य देशों की राजधानियां, तीर्थकरों के पूर्वभव, आदि विषयों का 900 गाथाओं के अंतर्गत संकलन किया गया है।

2.4.2.2.2 दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ

तत्त्व की मिमांसा एवं उसके प्रति दृष्टी कोण ही दर्शन की प्रथम परिभाषा है। जैन मुनि भी चिरकाल से विभिन्न तत्त्वों की मीमांसा में प्रवृत्त रहे हैं,परिणाम स्वरुप विभिन्न दार्शनिक ग्रंथों का प्रणय हुआ,जिनकी भाषा प्राकृत थी। इन ग्रंथों में- सन्मतिप्रकरण, धर्म संग्रहणी, प्रवचन परीक्षा, उत्सूत्रखंडन, युक्तिप्रबोध प्रमुख हैं। **सन्मतिप्रकरण**के प्रणेता 5वीं सदी के विद्वान सिद्धसेन दिवाकर हैं। यह ग्रन्थ जैनधर्म और न्याय का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें नयवाद का विवेचन एवं अनेकान्तवाद की स्थापना की गयी है। यह ग्रन्थ तीन कांडों में विभक्त है-इसके प्रथम काण्ड में 54 गाथाएँ, द्वितीय काण्ड में 43 तथा तृतीय काण्ड में 69 गाथाएँ हैं। **धर्म संग्रहणी** नामक दार्शनिक ग्रन्थ के प्रणेता हरी भद्र सूरी हैं। इस ग्रन्थ के पूर्वाद्ध भाग में पुरुषवादिमतपरीक्षा, अनादिनिघ्नत्व, अमूर्ततत्त्व, परिणामित्त्व और ग्यायकत्त्व तथा उत्तराद्ध भाग में कर्तित्त्व, भोक्तृत्त्व और सर्वज्ञसिद्धि नामक विषयों का उल्लेख किया गया है। **प्रवचन परीक्षा**एक खंडनात्मक ग्रन्थ है। इसे कुमतिमतकुद्दल भी कहा गया है, इसके रचनाकार 1572 ईस्वी में हुए तपागच्छ माने जाते हैं। **उत्सूत्रखंडन**धरमसागर उपाध्याय द्वारा लिखित है। इस दार्शनिक ग्रंथ में स्त्री को पूजा करने का निषेध,मलारोपन, पटलाधिकार आदि दोषों का उल्लेख किया गया है। **युक्तिप्रबोध** दार्शनिक ग्रन्थ के रचयिता मेघविजय महोपाध्याय हैं। 18वीं शताब्दी में रचित इस ग्रन्थ में महोपाध्याय द्वारा 25 गाथाओं का संकलन किया गया है। इस ग्रन्थ

में जैन मुनियों के मत-मतान्तरों के खंडन-मंडन के साथ ही दिगंबर तथा श्वेताम्बरों के मतभेदों काविवेचन किया गया है।

2.4.2.2.3 प्रकरण ग्रन्थ

लघु ग्रंथों को प्रकरण ग्रन्थ भी कहा जाता है। जैन मान्यता के अनुसार प्रकरण ग्रन्थ साधुओं के लिए उपयोगी बताये गए हैं। जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयों का प्रतिपादन करने के लिए प्राकृत साहित्य में अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे गए हैं, जिनमें- जीवविचारप्रकरण, नवतत्त्वगाथाप्रकरण, दण्डप्रकरण,समयसारप्रकरण, षोडशप्रकरण,पंचाशकप्रकरण, नवपद्प्रकरण, सप्ततिशत्स्थानप्रकरण प्रमुख हैं। जीवविचारप्रकरणग्रन्थ के रचनाकार शंतिसूरी हैं। इस प्रकरण ग्रन्थ में वर्णित 51 गाथाओं में जीव के स्वरुप का उल्लेख किया गया है। रत्नाकरसूरी, ईश्वराचार्य तथा मेघ विजय ने इस प्रकरण ग्रन्थ पर अपनी टीका लिखी हैं। नवतत्त्वगाथाप्रकरण में देवगुप्त द्वारा 53 गाथाओं का संकलन किया गया है। दण्डप्रकरण के प्रणेता प्रसिद्ध जैन मुनि गजसार हैं। इसेविचार षट्त्रिंशिका भी कहा गया है। समयसारप्रकरणके प्रणेता देवानंद मुनि हैं। इस प्रकरण में जीव, अजीव, सम्यकदर्शन, सम्यक्ज्ञान आदि विषयों का उल्लेख किया गया है। षोडशप्रकरणके रचनाकार हरिभाद्र्सूरी हैं। इसमें उल्लेखित 16 प्रकरणों में धर्म परीक्षा, प्रतिष्ठा विधि, पूजाफल, दीक्षाधिकार आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। पंचाशकप्रकरणके रचनाकार हरिभद्र्मुनि हैं। इस प्रकरण में 50 गाथाओं का संकलन किया गया है, जिनमें पूजाविधि, साधुधर्म, आलोचनाविधि, यात्रा विधि अदि विषयों का वर्णन किया गया है। नवपद्प्रकरण के रचयिता देवगुप्तसूरी हैं, जिन्हें जिनचंद्र के नाम से भी जाना जाता था। इस प्रकरण में जैनधर्म के 12 व्रतों का उल्लेख किया गया है।

2.4.2.2.4. प्राकृत-कथाएं

वेदों, ब्राह्मणग्रंथों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत में शिक्षाप्रद एवं मनोरंजनात्मक विभिन्न कथाओं व आख्यानों का उल्लेख उपलब्ध होता है। बौद्धों की जातक कथाएँ कथा साहित्य का अनुपम भण्डार है। पैशाची भाषा में लिखी गुणाढ्य की बृहदकथा कहानियों का अक्षयकोष कहा गया है। इसी प्रकार प्राकृत भाषा में अनेक कथाएं तथा आख्यान उपलब्ध होते हैं, जो शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ प्रेरणादायक व मनोरंजक हैं। प्रसिद्ध जैन विद्वान् पूर्णभद्र्सूरी का प्राकृत भाषा में लिखा **पंचतंत्र** प्राकृत कथा साहित्य का अक्षयकोष कहलाता है। 16-17वीं शदी को प्राकृत कथा साहित्य का उत्कर्ष काल कहा गया है, इस समय **"नायाधम्म कहाओ"** से प्राकृत कथाओं का आरम्भ माना जाता है। प्राकृत भाषा की अन्य कथाओं में **तरंगवइ, तरंग्लोला, वसुदेवहिण्डी, समारादित्य, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, निर्वाणलीलावती, नाम्मयासुन्दरी, मलयसुंदरी, जिन्दत्ताख्यान, सिरिवाल्कथा, महिवाल्कथा** आदि प्रमुख हैं- तरंगवइ या तरंगवती कथा के रचनाकार प्रसिद्ध जैन कवि **"पाद्लिप्त्सूरी"** हैं, जिन्होंने स्वतंत्र कथा ग्रन्थ लिखकर प्राकृत कथा में एक नई परंपरा का आरम्भ किया। संस्कृत कवि धनपाल ने अपनी तिलक मंजरी में इस कथा की प्रसंशा की है। इस कहानी की पात्र जैन शिष्या तरंगवती है, जो सेठ धर्मदास की पत्नी को विभिन्न उदाहरण देकर उपदेश करती है। **तरंग्लोला-** इसकथा के प्रणेता वीरभद्र आचार्य के शिष्य **नेमिचंद्र्गणि** हैं। यह कथा ग्रन्थ तरंगवती का ही संक्षिप्त रूप है जो 1000 वर्ष बाद लिखा गया था। इसमें उल्लेखित पात्र भी तरंगवती कथा के हैं। **वसुदेवहिण्डी**-यह कथा दो खण्डों में विभक्त है, इसके प्रथम खंड में 11000 तथा द्वितीय खंड में 28000 श्लोक हैं, प्रथम खंड के कर्ता संघदास गणि वाचक तथा द्वितीय खंड के कर्ता

धर्मसेनगणि माने जाते हैं। इस कथा में श्री कृष्ण के पिता वासुदेव का भ्रमण वृत्तांत का उल्लेख किया गया है। **समारादित्य कथा** में उज्जैन के राजा समरादित्य और प्रतिनायक अग्निशर्मा के 9 जन्मों की कथा का वर्णन है। इस कथा के रचयिता संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विद्वान् **हरिभद्र सूरी** हैं। **धूर्ताख्यान** के प्रणेता भी हरिभद्र सूरी हैं, इस कथा में लेखक ने बड़े ही विनोदात्मक ढंग से रामायण, महाभारत और पुराणों पर व्यंग्य करते हुए उनकी असार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। **कुवलयमाला** के कर्ता दाक्षिन्य चिन्ह **उद्योतनसूरी** हैं। 779 ईस्वी में लिख गए इस ग्रन्थ में राजस्थान जोधपुर के दक्षिण में स्थित जवालिपुर (जालोर) का वर्णन किया गया है। **निर्वाणलीलावती कथा** के प्रणेता जिनेश्वर सूरी हैं। पदलालित्य, श्लेष आदि अलंकारों से विभूषित एवं प्राकृत पद्यों से युक्त इस कथा का प्रणयन सन् 1025 से 1038ई. के मध्य माना जाता है। **नाम्मयासुन्दरी या नर्मदा सुंदरी** एक धर्म प्रधान कथा है, जिसके प्रणेता महेंद्रसूरी हैं। 1130ईस्वी में लिखी यह कथा गद्य-पद्यमय शैली में है। इस कथा में महासती नर्मदा सुंदरी के चरित्र्र का वर्णन किया गया है। **मलयसुंदरी कथा** के कर्ता का नाम दुर्भाग्यवश अज्ञात है, परन्तु 14 वीं शताब्दी में संस्कृत कवि **धर्मचन्द्र ने** इससे सम्बंधित संकृत में **मलय सुंदरी कथा** की रचना की। इस कथा में महाबल और मलयसुन्दरी की प्रणय कथा का विवेचन किया गया है। इन कथाओं के अतिरिक्त श्रीपालकथा, जिन्दत्ताख्यान, सिरिवाल्कथा, महिवाल्कथा, रत्नशेखरी,णाणपंचमी आदि कथाओं ने प्राकृत कथा साहित्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया।

2.4.2.2.5.प्राकृत- काव्य

प्राकृत में लोक कथाओं की प्रसिद्धि के पश्चात तत्कालीन समाज में गेयात्मकता को उद्भासित करनेवाले छन्दोबद्ध तथा छन्दमुक्त काव्यों का प्रणयन होने लगा। इन सभी का उपजीव्य प्रायः संस्कृत महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रबंधकाव्य आदि की शैलियाँ रही हैं। प्राकृत काव्यों में-गाहसत्तसई, वज्जालग्ग, गाथासहस्री, सेतुबंध, कामदत्ता, गाउडवहो, हरिविजय आदि प्रमुख हैं। **गाहासत्तसई या गाथासप्तशती** का नाम उल्लेखनीय है। यह श्रृंगार रस प्रधान, एक मुक्तक काव्य है, जिसमें प्राकृत के कवि एवं कवयित्रियों द्वारा संकलित 700 गाथाओं का संग्रह है। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरितम में गाथा सप्तशती का उल्लेख किया है। संस्कृत के शास्त्रीय कवियों में-रुद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट, विश्वनाथ और गोवर्धनाचार्य ने भी इस काव्य की प्रसंशा की है। गाथा सप्तशती के अनुकरण पर संस्कृत में **आर्यासप्तशती** तथा हिंदी में **बिहारी सतसई** का प्रणयन हुआ। आंध्र सातवाहन हाल कवि को इसका संग्रहकर्ता माना जाता है। श्रृंगार रस प्रधान इस काव्य में साध्वी, पतिव्रता, वेश्या, स्वकीया, परकीया, संयमशील, चंचल नायिकाओं की मनःस्थिति का वर्णन किया गया है। **वज्जालग** काव्य को भी प्राकृत के समृद्ध साहित्य का संग्रह माना जाता है। यह एक कवि द्वारा रचित नहीं अपितु इसमें अनेक कवियों के प्राकृत पद्यों का सुभाषित संग्रह है, जिसे श्वेताम्बरमुनि जयवल्लभ ने संकलित किया था । **गाथासहस्री** नामक काव्य के रचयिता सकल चंद्रगनी के शिष्य समसुन्दरगनी माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में 1000 सुभाषित पद्यों का संकलन है, जिसमें साधुओं के गुण , ध्याता के स्वरुप, प्राणायाम, ३२ प्रकार के नाटक, 16 श्रृंगार, शकुन और ज्योतिष आदि से सम्बंधित विषयों का विवेचन किया गया है। **सेतुबंध** प्रवरसेन द्वारा रचित एक मुक्तक काव्य है, इसे प्राकृत भाषा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे गए इस महाकाव्य का उल्लेख संस्कृत कवि दण्डी तथा बाणभट्ट ने भी किया है। संस्कृत शैली में अनुप्राणित इस महाकाव्य में 15 आश्वास हैं,

जिनमें वानरसेना के प्रस्थान से लेकर रावण वध तक की घटना का विवेचन किया गया है। **कामदत्ता** नामक प्राकृत काव्य का संकेत शूद्रक विरचित पद्मप्राभृतकम् के पृष्ट संख्या 12 में उपलब्ध होता है, जो पांचवी शताब्दी में लिखा गया था। **गाउडवहो या गौड़वध** लौकिक चरित्र पर लिखा हुआ एक प्रबंध काव्य है, इस काव्य के प्रणेता वाक्पतिराज माने जाते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में उपनिबद्ध इस काव्य में राजा यशोवर्मन की प्रसंशा की गयी है। इसमें 1209 गाथाओं का प्रणयन है एवं विभाजन सर्गों में न होकर कुलकों में किया गया है साथ ही इसमें ब्रह्मा, हरी, नृसिंह, महावराह, वामन, कूर्म, कृष्ण, बलराम, शिव, गौरी, गणपति, लक्ष्मी आदि देवताओं का मंगलाचरण किया गया है। तत्पश्चात कवियों के वर्णन के एवं राजा यशोवर्मन के चरित्र का प्रारंम्भ है। **हरिविजय** नामक काव्य के प्रणेता सर्वसेन हैं, यह कृति अनुपलब्ध है, परन्तु हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन की 'अलंकारचूड़ामणि' एवं विवेक नामक टीकाओं तथा सेतुबंध, शिशुपालवध तथा किरातार्जुनियम में इसका संकेत उपलब्ध होता है।

2.4.2.2.6 संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत

प्राकृत का प्रथम नाटकीय रूप संस्कृत रूपकों से दृष्टीगत होता है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्रप्रथम प्रमाण है। इस नाट्यशास्त्र में श्रमण, तपस्वी, भिक्षु,उन्मत्त बाल, नीच ग्रहों से पीड़ित व्यक्ति, स्त्री तथा नपुंसकों को प्राकृत बोलने का निर्देश दिया गया है। अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास, श्री हर्ष, भवभूति, विशाखदत्त, भट्ट नारायण आदि संस्कृत कवियों के नाटकों के अनुशीलन से अवगत होता है कि उच्च वर्ग के पुरुष, अग्रमहिषि, राजमंत्रियों की पुत्रियाँ आदि संस्कृत में एवं साधारण स्त्रियाँ, विदूषक, श्रेष्ठी, दास-दासी एवं निम्न वर्ग के लोग प्राकृत में वार्तालाप करते थे। अश्वघोष प्रणीत शरिपुत्रप्रकरण में भगवान् बुद्ध बौद्ध धर्म की शिक्षा देते हैं, जिसमे वे संस्कृत में वार्तालाप करते हैं एवं अन्य पात्र प्राकृत आदि का प्रयोग करते हैं। अश्वघोष के पश्चात महाकवि भास के 13 नाटकों में अविमारक प्राकृत भाषा कि दृष्टी से महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रमाण विदूषक की इस उक्ति से लगाया जा सकता है, जिसमें वह नगर की शोभा का वर्णन करता है। जो शौरसेनी प्राकृत में है- अहो णअरस्स सोहा सोहासंपदि। अत्थं आसादिदो भअवं सुय्यो दीसइ दहीपिंड पंडरेसू पासादेसू ......विअ। शूद्रक प्रणीत मृच्छकटिकम्में 30 पात्र हैं, जिनमें सूत्रधार, नटी, रद्रिक, मदनिका, वसंतसेना, चेटी, कर्णपूरक, चारुदत्त की ब्राह्मणी एवं श्रेष्ठी शौरसेनी प्राकृत भाषा में वार्तालाप करते हैं। यथा-वसंतसेना की शौरसेनी में यह उक्ति- **चिरअदि मदणिआ ता कहीं णु क्खु सा?**(मृच्छकटीकम अंक 4)।

इसी प्रकार कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् विक्रमोर्यवशियम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में प्राकृत का प्रयोग दृष्टीगत होता है। शकुंतला राजा दुष्यंत के दर्शन के पश्चात उन पर मुग्ध होकर महाराष्ट्री प्राकृत में यह गीत गाती हुई प्रतीत होती है- तुझ्भ ण जाणो हिअअं मम उण कामो दिवापि रत्तिम्म। इसी प्रकार विक्रमोर्यवशियम् में रम्भा,मेनका, चित्रलेखा, उर्वर्शी आदि राज महिषी एवं मालविकाग्नि मित्रम् में चेटी, बकुलावालिका, कौमुदिका, राजा कि पटरानी, मालविका, परिचारिका एवं विदूषक प्राकृत में वार्तालाप करते हैं। हर्ष प्रणीत नागानंद एवं प्रियदर्शिका में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों की संख्या अधिक है, जिनके संवादों में प्राकृत का प्रचुर प्रयोग दृष्टीगत होता है। प्रियदर्शिका नाटिका में आरण्यिका, वासवदत्ता, कांचनमाला तथा रत्नावली में वासवदत्ता एवं उसकी परिचारिकाएँ प्राकृत में वार्तालाप करते हैं। नागानंद संस्कृत प्राधान्य नाटिका परन्तु इसमें नटी आदि पात्र प्राकृत बोलते हैं। भट्टनारायण कृत वेणिसंहारम् के तृतीय अंक में राक्षस एवं उसकी पत्नी के संवादों में शौरसेनी प्राकृत की

प्रधानता दृष्टीगत होती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य संस्कृत नाटकों में भी प्राकृत भाषा की अभिन्नता भूयशः अभिलक्षित है।

2.4.3 प्राकृत भाषा के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ

प्राकृत साहित्य विशाल एवं समृद्ध है। परंतु यहाँ प्रमुख कवियों का ही परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है-**जिनभद्रगणि-** जिनभद्रगणि का समय संवत १०१० अर्थात् ५४० ईस्वी है, जैन आचार्यो ने इन्हें जिन प्रवचन को प्रकाशित करने के लिए प्रदीप के सामान बताया गया है। इनका प्रख्याप्ति प्राप्त ग्रन्थ "विशेषावाश्यकभाष्य" है एवं अन्य ग्रंथों में जीत्कल्पतरु, जीत्कल्पसूत्र, अंगुल्पदचूर्णी प्रमुख हैं। **नेमिचंद्र सूरी-**इनका समय १३वीं शताब्दी माना जाता है। "प्रवचनसारोद्धार" इनकी प्रमुख रचना है जिसमे १५९९ गाथाओं में जैन धर्म सम्बन्धी विभिन्न विषयों की चर्चा गयी है, इस कारण इनके ग्रन्थ को प्राकृत जैन साहित्य का विश्वकोष कहा जाता है। **प्रद्युम्न सूरी**- इनका समय १३२५ ईस्वी पूर्व माना जाता है, इनका प्रख्याति प्राप्त ग्रन्थ विचारसार प्रकरण है। **सिद्धसेन दिवाकर**- इनका समय विक्रम संवत ५वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी विशिष्ट प्रसिद्धि एक दार्शनिक के रूप में हुई है। जैन एवं न्यायदर्शन की मीमांसा पर आधारित इनकी प्रसिद्ध रचना सन्मतिप्रकरण है। **हरिभद्र्सूरी**- हरिभद्र सूरी प्रसिद्ध जैन दार्शनिक तथा नैयायिक थे। इन्होंने उदार दृष्टी से विपुल साहित्य का प्रणयन किया किन्तु अपने जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रायः मौन रहे। भद्रेश्वर प्रणीत कहावली में इन्हें ब्राह्मण कुल में उत्पन्न तथा चित्तौड़ का निवासी बताया गया है, इनके पिता का नाम शंकर भट्ट एवं माता का नाम गंगा देवी था। इनकी प्रमुख कृतियों में "अनेकान्तजयपताका","अनेकान्तवादप्रवेश", "शास्त्रवार्तासमुच्चय", "षड्दर्शनसमुच्चय", "जैनन्याय","अष्टकप्रकरण", "धर्मबिन्दु", "धूर्ताख्यान" आदि प्रमुख हैं। **प्रवरसेन**- वाकाटक राजवंश की नन्दिवर्धन प्रवारपुर के शासक प्रवरसेन रुद्रसेन द्वितीय एवं गुप्तसम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्त के पुत्र थे। जैन विद्वानों द्वारा इनको "रावणवहो या सेतुबंध"के प्रणयन के रूप में महाराष्ट्री प्राकृत-कवि का श्रेय दिया जाता है। इनके इस काव्य में राक्षस-राज रावण के अनीति परक कर्मों विरुद्ध लंका में श्री राम के द्वारा किये गए कृत्यों का विवरण है। **वाक्पतिराज**- प्राकृत भाषा के प्रख्यात कवि वाक्पतिराज कन्नौज के मौखरी वंश के राजा यशोवर्मन के दरबार के राजकवि थे इनका प्राकृत भाषा में रचित ग्रन्थ गौड़वहो में राजा यशोवर्मन के विषय में जानकारी मिलती है। राजशेखर ने अपनी रचना काव्यमीमांसा में इनका समय 10वीं शताब्दी माना है। **सोमदेव सूरी-** मारवाड़ के प्रसिद्ध जैन संत एवं कवि सोमदेवसूरी का जन्म पीपाड़ नगर में हुआ था। इन्होंने अपने गुरु आचार्य जयमल से शिक्षा ग्रहण की थी। विद्वानों द्वारा इनका समय वि.स. १८२१ से १८५८ के मध्य माना जाता है। इनकी रचनाओं में "विचारसारप्रकरण" जैन परंपरा की प्रमुख रचना मानी जाती है। **देवसेन**- प्रसिद्ध जैन ग्रंथकार देवसेन का समय 10 वीं शताब्दी माना जाता है। ये मालवा प्रदेश के निवासी थे। इनके द्वारा 'श्रावकाचार' की रचना 933 ई. की गयी थी। इस ग्रंथ में 250 दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। देवसेन के अन्य ग्रंथों में 'नयचक्र', 'दर्शन सार', 'भाव संग्रह', 'आराधनासार', 'तत्त्वसार तथा 'सावय धम्म दोहा' प्रमुख है।**विमलदेव सूरी-** संस्कृत साहित्य में जो गौरवपूर्ण स्थान महाकवि कालिदास का है। प्राकृत साहित्य में वही स्थान विमलदेव सूरी का है। इनकी प्रमुख रचना "पउमचरियम्" है, जिसमें महाराष्ट्री प्राकृत में उपनिबद्ध रामकथा का प्रणयन है। विद्वानों द्वारा विमलसूरि कृत पउमचरियं का समय प्रथम शती से तीसरी-चौथी शती के मध्य माना गया है।**उद्योतनसूरी-** भारतीय कथा आख्यान परम्परा का नेतृत्त्व करने वाले बृहत् कथा के रचनाकार गुणाढ्य की भाँति ही उद्योतनसूरी की प्राकृत रचना

"कुवलयामाला"है। यह कथा चम्पू शैली में लिखी गयी है, जिसमें रानी कुवलयामाला सहित पांच आत्माओं कि कथा का वर्णन किया गया है। इसमें 4180 गाथाओं एवं 36 छंदों का प्रयोग उपलब्ध होता है। **आचार्य हेमचन्द्र**-कलिकाल सर्वज्ञ महान गुरु, समाज-सुधारक, धर्माचार्य, गणितज्ञ एवं अद्भुत प्रतिभाशाली आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात में अहमदाबाद से १०० किलोमीटर दूर दक्षिण-पश्चिम स्थित धंधुका नगर में विक्रम संवत ११४५ के कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था। माता-पिता शिवपार्वती उपासक मोढ वंशीय वैश्य थे। पिता का नाम चाचिंग अथवा चाच और माता का नाम पाहिणी देवी था। आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं में सिद्धहेमशब्दानुशासन, सिद्धहेमलिङ्गानुशासन, धातुपारायण, शब्दानुशासन,काव्यानुशासन, द्वायास्रय, अभिधानचिन्तामणीमाला, अनेकार्थसङ्ग्रह, निघण्टुशेष, देशीनाममालाआदि प्रमुख हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य कवि भी हैं, जिन्होंने प्राकृत भाषा साहित्य के उत्कर्ष में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

2.5 अपभ्रंश भाषा साहित्य का परिचय

2.5.1 अपभ्रंश भाषा साहित्य का उद्भव एवं विकास

संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश, इस विकास क्रम में संस्कृत के विकृत रूप में पालि एवं प्राकृत कालीन जन भाषा के विकृत रूप में लगभग ५०० से १००० ईस्वी के मध्य विकसित हुई भाषा को भाषा वैज्ञानिकों द्वारा अपभ्रंश कहा गया है। **वामन शिव राम आप्टे** के अनुसार अपभ्रंश शब्द **अप्+भ्रंश+घञ** प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- नीचे गिरना, पतन, अशुद्ध शब्द आदि। भोलानाथ तिवारी के अनुसार अपभ्रंश को अवहंश, ग्रामीण भाषा, देशी भाषा, अभिरोक्ति, अभीरी आदि पर्याय नामों से भी जाना जाता है। "अपभ्रंश" शब्द का प्रमाणिक प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में उपलब्ध होता है- **भूयांशऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।** अर्थात शब्द कम हैं एवं अपशब्द अधिक, एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं। जैसे- गो शब्द के गावी, गोवी, गोपा, गोपोतलिका। (महाभाष्य १.१.१)जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अपभ्रंश भाषा का काल ५००-१००० ईस्वी पूर्व के मध्य का काल है, कतिपय विद्वानों ने इसका काल ६००-११०० तथा कतिपय भाषा वैज्ञानिकों ने इसका आरंभिक काल १३ वीं सदी माना है एवं कुछ इतिहासकार प्राकृत भाषा के साथ-साथ हि इसके विकास का आरम्भ मानते हैं। अपभ्रंश से उत्पन्न अन्य भाषाओं के विषय में चर्चा करें तो प्राकृत कि भांति ही इनके पांच अपभ्रंशो से विभिन्न बोलियों का उद्भव हुआ–१.शौरसेनी- पश्चिमी हिंदी-राजस्थानी, गुजराती। पहाड़ी भागों में- पहाड़ी बोली। २.पैशाची- लहंदा, पंजाबी। ३.ब्राचड़- सिन्धी। ४.महाराष्ट्री-मराठी ५.अर्धमागधी-पूर्वी हिंदी-अवधि, बघेली, छत्तीसगढ़ी। ६.मागधी- बंगाली, बिहारी, असमिया, उड़िया।

भाषा विज्ञान के आचार्यों ने अपभ्रंश भाषा का समय भले ही ५००-१००० निर्धारित किया है, किन्तु इस भाषा में ८वीं सदी से ही साहित्य रचनाओं का प्रणयन आरम्भ हो चुका था। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में सर्वप्रथम स्वयंभू के कर्तृत्त्व को देखा जा सकता है, उन्होंने प्राकृत कि भांति ही अपभ्रंश में रचनाएं लिखी। इसके अतिरिक्त पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयंदी, कंकामर, धहिल इत्यादि प्रतिभाशाली कवियों का अपभ्रंश के उत्कर्ष में योगदान रहा है। संस्कृत कवियों

द्वारा लिखे प्रबंधचिंतामणि, विक्रमोर्वशियम् तथा प्राकृत जैन कवियों द्वारा लिखे पुराण-महापुराण एवं बौद्धों द्वारा लिखे गए स्वतंत्र पदों व गीतों आदि उदाहरणों के रूप में दिए गए अनेक फुटकर पद्यों के रूप में अपभ्रंश साहित्य के उपलब्ध होने से उसके आरम्भ होने का प्रमाण है।

2.5.2 अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण

संस्कृत एवं प्राकृत में जिस प्रकार काव्यों, महाकाव्यों, खंडकाव्यों, प्रबंधकाव्यों, गद्यकाव्यों का सृजन हुआ। उसी प्रकार अपभ्रंश में भी रचनाएं हुई,किन्तु अपभ्रंश साहित्य, संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य की भांति विस्तृत नहीं है। इसमें कई रचनाओं के विषय में संकेतमात्र का उल्लेख संस्कृत एवं प्राकृत रचनाओं में उपलब्ध होता है। अत एव स्वतंत्र रूप अपभ्रंश में रचनाओं का आभाव है। कतिपय उपलब्ध रचनाओं में-काव्यों, कथाओं, रूपकों आदि को आधार मानकर अपभ्रंश साहित्य को निम्लिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है-

2.5.2.1 अपभ्रंश-काव्य

अपभ्रंश काव्य साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम इनकी प्रमुख रचनाओं में पउमचरिउ (पद्म चरित) ,रिटठणेमिचरिउ(हरिवंश पुराण),अनुशीलन किया जाता है, जिनके प्रणेता स्वयंभू को माना जाता है। **पउमचरिउ**-यह एक महाकाव्य है, जिसे पद्मरामायण भी कहा जाता है। पांच खण्डों में (विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड और उत्तरकाण्ड) उपनिबद्ध इस महाकाव्य में राम कथा का प्रणयन किया गया है। इसमें कुल ९० संधियाँ (सर्ग)हैं। (आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में ‘‘सर्ग’’कोअपभ्रंश में कुडवक कहा है-अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिनसर्गाः कुडवका। सा० द० 6.327)इसमें राम कथा का आरम्भ कुछ लोक प्रचलित शंकाओं के समाधान के साथ किया गया है, एवं राम कथा की तुलना बहती हुई सुन्दर नदी से की गई है। **(रामकहा सरि एह सोहंती प.च.१.२)रिटठणेमिचरिउ या हरिवंश पुराण**-इस महाकाव्य में, कृष्ण जन्म, कृष्णबाललीला, कृष्ण-विवाह सम्बन्धी कथाओं, कौरव-पांडव जन्म, उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनके मध्य वैमनस्य, युद्ध आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। ११२ संधियों तथा १९३७ कडवकों में उपनिबद्ध इस महाकाव्य में चार काण्ड-यादव,कुरु और युद्ध, उत्तर हैं। **स्वयंभू छंद**-दुलारा छंद में उपनिबद्ध इस रचना को प्राकृत-अपभ्रंश छन्दशास्त्रकोष भी कहा गया है। इस रचना में एक छंद और है जिसे कवि ने अपने पिता द्वारा रचित कहा है, जिसे माउरदेवकृत कहा गया है। विद्वानों का मानना है कि यह नाम उनके पिता का था। **महापुराण**- महापुराण पुष्पदन्त कृत एक महाकाव्य है। यह तीन खण्डों में विभक्त है, प्रथम खण्ड को आदिपुराण द्वितीय खंड उत्तरपुराण तथा तृतीय खण्ड को उत्तर पूरण का तृतीय भाग कहा गया है। इन तीनों खण्डों में १०२ संधियाँ हैं। इसमें भरत के चरित्र के साथ-साथ जैन तीर्थकरों का वर्णन उपलब्ध होता है। **भविसयत्त कहा** या **भविष्यत कथा**- धनपाल विरचित खण्ड व भाग विहीन इस महाकाव्य को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम- व्यापारी के पुत्र भविसयत्त कि संपत्ति का वर्णन, द्वितीय- कुरु एवं तक्षशिला के राजाओं के मध्य युद्ध, तृतीय-भविसयत्तएवं उसके साथियों के पूर्वजन्म एवं भविष्य के जन्मों कि कथा। **पद्मपुराण एवं बलभद्रपुराण**-रइधू कवि द्वारा इस विरचित इस महाकाव्य में ११ संधियों तथा २६५ कडवकों में राम कथा वर्णन उपलब्ध होता है। **णाय कुमार चारिउ या नागकुमार चरित**-पुष्पदन्त कृत यह खण्ड काव्य ९

संधियों में उपनिबद्ध है। इसमें मान्यखेट के राजा श्रोणिक तथा महावीर का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य भी प्राकृत एवं अपभ्रंश मिश्रित शैली में लिखे गए हैं।

2.5.3.2 अपभ्रंश-रूपक

अवस्थानुकीर्तिर्नाट्म......रुपकं तत्समारोपात्अर्थात काव्य ग्रंथों में उपनिबद्ध राम आदि की अवस्थाओं का अनुकरण ही नाट्य हैइसे ही दिखाई देने के कारण रूप एवं अभिनय करने वाले नट में राम आदि की अवस्थाओं के आरोप से रूपक कहा गया है, जिसका उद्देश्य मनोरंजन करना है। अमूर्त की मूर्त अभिव्यक्ति का परम साधन रूपक या नाट्य है एवं प्राचीनकाल से ही इसके विविध रूपों-नाटक, प्रकरण, भाण आदि विविध विधाओं में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में रचनाएं होती रही है। अपभ्रंश में भी रूपक साहित्य समृद्ध तो हुआ, किन्तु उसमें भी प्रायः प्राकृत-अपभ्रंश मिश्रित शैली का ही अनुप्रयोग था। अपभ्रंश भाषा में स्वतंत्र रूपक युक्त रचनाओं का प्रायः आभाव रहा है। नाट्य विधा में प्रथम "**उपमितिभावप्रपञ्च कथा**"थी, जिसका रचनाकाल 962 ईस्वी माना जाता है। इसकी भाषा मूलतः संस्कृत थी, किन्तु इसमें उपलब्ध उदाहरण प्राकृत एवं अपभ्रंश में थे। 10वीं शताब्दी में कृष्णकुमार विरचित एक रूपक **"प्रबोधचंद्रोदय"** भी प्राकृत एवं अपभ्रंश से शैली से युक्त था, इसमें मोह, विवेक, ज्ञान, विद्या, दंभ, श्रद्धा, भक्ति आदि विषयों को स्त्री एवं पुरुष पात्रों का रूप दिया गया था। 13वीं शताब्दी में यशपाल द्वारा विरचित **"मोहपराजय"** नामक नाटक में ऐतिहासिक पात्रों के साथ लाक्षणिक चरित्रों का सम्मिश्रण उपलब्ध होता है। 14 वीं शताब्दी में नागदेव कृत नाटक **मदनपराजय** अपभ्रंश भाषा का प्रतिनिधित्त्व करता है। स्वतंत्र रूप में अपभ्रंश युक्त नाटक "**मयण पराजयचरिउ**"है। इसकी रचना हरिदेव ने की थी। इस सम्बन्ध में 1576 ईस्वी में आमेर शास्त्र-भण्डार में एक हस्तलिखित प्रति से सूचना प्राप्त सोमदत्त को प्राप्त हुई थी। कवि वच्चराय कृत **मयन झुज्झ** नामक एक अपभ्रंश रूपकात्मक कृति है, जिसका उल्लेख राजकुमार जैन द्वारा मदन पराजय की प्रस्तावना में 1589 में की गई।

2.5.3.3 अपभ्रंश-कथाएं

प्राचीन काल से ही लोक मनोरंजन एवं शिक्षा का प्रमुख साधन कथा या कहानियां रही हैं। कथा के दो रूपों में कवियों द्वारा रचनाएँ होती रही हैं, प्रथम रूप कथा अर्थात कहानी यह कवि कल्पित होती है। जैसे-कादम्बरी आदि। द्वितीय रूप मेंआख्यायिका अर्थात इतिहास प्रधान इतिवृत्त से युक्त कथा है। जैसे- रामायण, महाभारत एवं पुराणों आदि में उल्लेखित कथाएं। इसी प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी कथा सम्बन्धी बीजों का प्रस्फुटन परवर्तीकाल में होने लगा तथा प्राकृत-अपभ्रंश मिश्रित कथाएं तत्कालीन समय में लोकप्रिय हुई। इन कथाओं में प्रथम हरिसेनकृत**धर्म परिक्खा(धर्मपरीक्षा)**का नाम उल्लेखनीय है। 11 संधियों से युक इस कथा में ४४ या उससे अधिक कडवक अर्थात सर्ग है। इस कथा में ब्राह्मण धर्म पर व्यंग्य करते हुए पौराणिक आख्यान एवं घटनाओं को असंगत बताते हुए जैन धर्म के प्रति आस्था एवं श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। श्री चन्द्र कवि कृत **कथाकोष** को अपभ्रंश कथा साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा गया है। 53 संधियों एवं 53 कथाओं से युक्त इस ग्रन्थ में धार्मिक उपदेश परक प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। श्री चन्द्र कवि द्वारा **रत्न करंद शास्त्र** भी एक कथा संग्रह है। 21 संधियों में उपनिबद्ध इस ग्रन्थ में कथा कोष की भांति हि धार्मिक उपदेशात्मक प्रसंगों का निर्वाचन किया गया है। **स्थूल भद्रि कथा** सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपाल प्रतिबोधान्तर्गत एक छोटी सी कथा है, जिसमें लेखक ने ब्रह्मचर्य व्रत के महातम्य का प्रतिपादन

किया है। अमरकीर्ति विरचित **छक्कम्मोवएस** भी अपभ्रंश कथा साहित्य की दृष्टी से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। 14 संधियों और 15 कडवकों से युक्त इस कथा में गृहस्थ धर्म के विभिन्न कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। लक्षमण द्वारा रचित **अणुवयरयण पईऊ(अणुव्रतरत्नप्रदीप)**नामक कथा का रचना काल विक्रम संवत 1313 माना गया है। इस कथा ग्रन्थ में कवि ने गृहस्थ के विभिन्न धर्मों का पालन विविध प्रसंगों के माध्यम से रुचिपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार उपर्युक्त कथा ग्रंथो के अतिरिक्त अन्य कथा ग्रन्थ भी लिखे गए हैं, जिन्हें अपभ्रंश कथा साहित्य का उत्कर्ष कहा गया है।

2.5.3 अपभ्रंश भाषा के प्रमुख कविएवं उनकी रचनाएं

संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य को समृद्ध अवस्था तक पहुंचाने वाले विभिन्न कवियों ने भी अपभ्रंश का संकेत अपनी रचनाओं में दिया है। अपभ्रंश का स्वतंत्र दर्शन स्वयंभू की रचनाओं में होता है, तत्पश्चात अन्य कवियों में-पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, कनकामर,नयंदी, धहिल आदि की रचनाएं अपभ्रंश साहित्य को स्वतंत्र रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया।

स्वयंभू-स्वयंभू का समय 734 से 840 ईस्वीके बीच माना जाता है। इनके पिता का नाम मारुत देव और माता का नाम पद्मिनी था। स्वयंभू के कई पुत्र थे, जिनमें सबसे छोटे त्रिभुवन स्वयंभू थे। स्वयंभू को विद्वानों के द्वारा अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा गया है। स्वयंभू की प्रसिद्ध रचनाओं में पउमचरिउ,णिट्ठ नेमि चरिउ, स्वयंभू छंद,पंचमी चरिउ,स्वयंभू व्याकरण,सोद्धय चरिउ आदि प्रमुख हैं।

- **पुष्पदन्त-**कवि पुष्पदंत अपभ्रंश भाषा के एक महत्वपूर्ण कवि थे। उनका समयविक्रम संवत 1044 से पहले माना जाता है। कवि कुल तिलक, सरस्वती निलय एवं काव्य पिसल की उपाधि से शुशोभित उन्हें जैन दर्शन का दार्शनिक विद्वान मन जाता है। उनकी रचनाओं में तिसत्थिमहापुरिसगुणालंकार या महापुराण, णाय कुमार चरिउ, और जसहर चरिउ प्रमुख हैं।
- **धवल-**कवि धवल का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। किन्तु उन्होंने बाद में जैन धर्म को अपनाया। इनके पिता का नाम सूर एवं माता का नाम केसुल्ल था। इनके गुरु का नाम अम्बसेन था। इनका समय लगभग 11वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी एकमात्र रचना हरिवंश पुराण है,122 संधियां से युक्त इसमें कई तरह के छंद, अलंकार, और साहित्य की कई विधाओं का उपयोग किया गया है।
- **धनपाल-**धनपाल का जन्म 973 (संवत 1029) में उज्जैन में हुआ था। एवं विद्वानों के द्वारा इनकी मृत्यु तिथि का निर्धारण समय 1050 के दशक में बताया जाता है। धनपाल ने 'भविस्सयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) की रचना की थी. यह श्रुतपंचमी के अवसर पर कही जाने वाली लोकप्रचलित प्राचीन कथा है। धनपाल की रचनाओं में बहुलता से पद्धडिया छंद के कडवकों और घत्ताओं का प्रयोग उपलब्ध होता है। धनपाल के समय में विमान नहीं थे, किन्तु अपनी इस रचना में उन्होंने विमानयात्रा का वर्णन बहुत सुंदर और सजीव किया है।
- **कनकामर-**कवि कनकामर, अपभ्रंश भाषा के साहित्य में बहुत सम्मानित कवि के रूप में दिगंबर मुनिराज थे। जैन विद्वानों द्वारा कवि कनकामर का समय 12वीं शताब्दी के

अंत का निर्धारण किया गया है। ऐसा माना जाता है किकवि कनकामर ने आसायई नगरी में जाकर अपने काव्य करकंडु चरिउ की रचना की थी।

इन कवियों के अतिरिक्त **शालीभद्रसूरी** एवं उनकी कृति भरतबाहुबलीरास, **जिनपद्मसूरी** कृत सिरीथूली भद्द फाग, **विनयचन्द्र सूरी** कृत नेमिनाथ चतुष्पादिका, **धर्मसूरी** की कृति जम्बू स्वामी रासु **विजयसेन सूरी** कृत रेवंत गिरी रास आदि रचनाओं ने अपभ्रंश साहित्य को उत्कर्ष अवस्था तक पहुँचाया।

बोध प्रश्न-1

1. "हमारी लोक यात्रा वाणी से ही हो सकती है" किसका कथन है?
   क. दंडी ख. शिव ग. युधिष्ठिर घ. मम्मट
2. प्राचीन आर्यभाषाओं में निम्नलिखित में सम्मिलित हैं-
   क. अपभ्रंश ख.पाली ग. प्राकृत घ.वैदिक संस्कृत
3. प्रथम प्राकृत भाषा का विकास काल माना जाता है-
   क. २०००-१३०० ख.५००- १००० ग. ५००-१६०० घ.१०००-५००
4. गुणाढ्य की "बृहत् कथा" मूलतः किस भाषा में लिखी गई है?
   क. पाली ख.पैशाची ग. अपभ्रंश घ.मागधी
5. जैन प्ररम्परा में प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध द्वादशांगों में एक नहीं है-
   क. कृत्यांग ख. सूत्रकृत्यांग ग.आचरांग घ.समयांग
6. जैन साहित्य का दार्शनिक ग्रन्थ "सन्मतिप्रकरण" के रचयिता कौन हैं?
   क. सिद्धसेन दिवाकर ख.जिन भद्र गनी ग. धर्म सागारोपाध्याय घ.सिद्धसेन भास्कर
7. प्राकृत साहित्य का अक्षयकोष कहलाता है-
   क. न्याय धम्म कहा ख. सत्तंत्र ग. पंचतंत्र घ.महतंत्र
8. अपभ्रंश का वाल्मीकि किसे कहा गया?
   क.धर्मसूरी ख.स्वयंभू ग.विनयचन्द्र सूरी घ.जिनपद्मसूरी
9. अपभ्रंश भाषा में "कुडवक" कहा गया है?
   क.सर्ग ख.संधि मुक्त छंद ग.छंद घ. ये सभी
10. अपभ्रंश कथा संग्रह धर्म्परिक्खा (धर्म परीक्षा) के रचनाकार कौन है?
    क.हरिकृष्ण ख.जिनभद्र गणि ग.हरिदत्त घ. हरिसेन

2.6 सारांश

भाषाएँ संस्कृति की पोषक एवं साहित्य की समृद्धि का वाहक होती है। इस दृष्टी इस इकाई के अंतर्गत आपने प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा की पृष्टभूमि के रूप में मूल उद्भावक भाषा संस्कृत भाषा का भी अध्ययन किया। प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास में आपने शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृत के क्षेत्रीय भाषाओं का भी अनुशीलन साथ ही प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा साहित्य को उत्कर्ष अवस्था तक पहुँचाने वाले विभिन्न कवियों का परिचय एवं उनकी की रचनाओं में- कथा, काव्य, रूपक, दर्शन तथा प्रकरण सम्बन्धी ग्रंथों का भी अध्ययन किया। इस इकाई में प्रतिपादित विषयों के अनुशीलन से अवगत होता है कि किसी भी संस्कृति का विकास भाषा के विकास का परिणाम है एवं यह विकास के बीज उस भाषा के साहित्य से

उद्भासित होते हैं। संस्कृत भाषा, विश्व की प्राचीनतम वैदिक संस्कृति की पोषक है एवं इसके विकास का अंकुरण उसके साहित्य में दृष्टीगत होता है। संस्कृत के विकृत रूप प्राकृतभाषा भी साहित्य में परिणत हो जाने पर जैन संस्कृति की संरक्षक बनी एवं इस भाषा में जैनियों की संस्कृति का निर्वचन करने वाले विभिन्नधार्मिक एवं लौकिक ग्रंथों की रचना हुई। किन्तु प्राकृत के साहित्य में परिणत हो जाने से एक ह्रासमान स्थिति, निम्नवर्ग के लोगों में अप्रियता का कारण बनी एवं इसके विकृत रूप के परिणामस्वरुप अपभ्रंश भाषा का उद्भव हुआ। प्राकृत की भांति ही इसके विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंश शौरसेनी आदि रूपों का विकास हुआ एवं स्वयंभू जैसे विद्वानों ने इसमें साहित्य का परिगणन किया। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृत रुपी हिमनद से प्राकृत एवं अपभ्रंश रुपी नदियों का उद्भव एवं विकास से भले ही भिन्न-भिन्न संस्कृति का निर्माण क्यों न हुआ हो किन्तु इनके संगम के स्थल का निर्माण एक संस्कृति में भी दृष्टीगत होता है।

2.7 शब्दावली

अपभ्रंश	विकृत या बिगड़ा रूप।
दिगंबर	दिशाओं को वस्त्र मानने वाला अर्थात्
स्वयंभू	स्वयं उत्पन्न होने वाला।
व्युत्पत्ति	जिसकी उत्पत्ति का पूर्व आधार हो।
उत्पत्ति	जिसकी उत्पत्ति स्वतंत्र हो।
कहा	कथा
दीक्षाधिकार	दीक्षा पाने का अधिकारी (जैनानुसार)
धर्म्परिक्खा	धर्मपरीक्षा
कुडवक	सर्ग
गाउडवहो	गौड़वध
आख्यायिका	आख्यात प्रसिद्ध (इतिवृत)

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1.क 2.घ 3.ख 4.ख 5.क 6.क 7.ग 8.ख 9.क 10.घ

2.9 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1.मित्तल(श्रीमती)डॉ० संतोष, संस्कृत शिक्षण,पृष्ठसंख्या 01
2.''ऋषि'' डॉ० उमाशंकर शर्मा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या 16-20
3.उपाध्यायआचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या 04
4.आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत हिंदी शब्दकोश, पृष्ठ संख्या 60, 660
5.गौड़ डॉ० विशनलाल, "चन्द्रिका" हिंदी व्याख्या (पतंजलि प्रणीत व्याकरणमहाभाष्य 1.1.1)पृष्ठ संख्या 13
6.तिवारी भोलानाथ, भाषा विज्ञान, पृष्ठ संख्या 151-154,162-167,175-177

7.जैन डॉ० जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या 3, 44, 104, 123, 133, 328, 331-661

8.कोछड़ डॉ० हरिवंश, अपभ्रंश साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या 49, 128, 129, 246, 247, 266, 334-360

8.द्विवेदी रामानंद, ''जयंती'' संस्कृत-हिंदी व्याख्या (शूद्रक प्रणीत मृच्छकटिकम्) पृष्ठ संख्या 212

9.पाण्डे बैजनाथ, ''आलोक'' व्याख्या (धनञ्जय विरचित दशरूपकम्) पृष्ठ संख्या 9-11

10.वाचस्पति विद्या, ''विमला'' व्याख्या (विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण) पृष्ठ संख्या 226

2.10 उपयोगी पुस्तकें

1.बोराडॉ० राजमल, भारत की प्राचीन भाषाएँ, भारत की भाषाएँ।

2. शर्मा प्रो० डी डी, संस्कृत भाषा का इतिहास।

3. शर्मा रामविलास, भाषा और समाज।

4. चाटुर्ज्या सुनीति कुमार, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी।

5.राजपुरोहित, डॉ० भगवतीलाल, संस्कृत भाषा और साहित्य।

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. अपभ्रंश रूपक साहित्य पर एक लेख लिखिए।
2. प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के प्रमुख कवियों की सूची बनाकर उनकी रचनाओं का उल्लेख कीजिये।
3. प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास क्रम को स्पष्ट कीजिए।
4. संस्कृत नाटकों में प्राकृत का प्रचूर प्रयोग दृष्टीगत होता है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
5. ''कथाएँ'' लोक मनोरंजन एवं शिक्षा का प्रमुख साधन होती हैं, इस दृष्टी से प्राकृत भाषा की प्रमुख कथाओं का उल्लेख कीजिय।
6. अपभ्रंश भाषा साहित्य के उद्भव एवं विकास क्रम को स्पष्ट कीजिये।

इकाई-03 क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान परम्परा

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 ज्ञान परम्परा
3.4 ज्ञान परम्परा का संरक्षण और विकास
3.5 क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान परम्परा
3.6 अभ्यास प्रश्न
3.7 सारांश
3.8 शब्दावली
3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.10 सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें
3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीय भाषाओं में निहित ज्ञान परंपरा हमारे समाज की सांस्कृतिक धरोहर का अभिन्न हिस्सा है। ये भाषाएँ न केवल संवाद के माध्यम हैं, बल्कि इनमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान, उनके अनुभव, उनके आदतें, रीति-रिवाज, और प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण भी समाहित होते हैं। भारत जैसे विविधताओं से भरे देश में क्षेत्रीय भाषाओं में एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान और समझ परंपरागत रूप से संचित होती रही है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP) 2020 भारत में शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव और सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसका उद्देश्य भारतीय शिक्षा प्रणाली को अधिक समावेशी, सशक्त और वैश्विक प्रतिस्पर्धा के अनुरूप बनाना है। इस नीति में भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहित करने और उन्हें शिक्षा के प्रमुख माध्यम के रूप में स्थापित करने का विशेष जोर दिया गया है। NEP-2020 में भारतीय भाषाओं को एक केंद्रीय भूमिका दी गई है। यह नीति मानती है कि भारतीय भाषाएँ हमारी सांस्कृतिक धरोहर का अभिन्न हिस्सा हैं और उनका संरक्षण और संवर्धन आवश्यक है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् छात्र विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषाओं, जनजातीय भाषाओं की प्रकृति और संरचना, भारत की हर प्रमुख भाषा में कुछ पदों व पंक्तियों तथा प्रत्येक के समृद्ध और उभरते साहित्य के बारे में भी सीख पाएंगे । इस प्रकार की गतिविधियां उन्हें भारत की एकता, सुंदर सांस्कृतिक विरासत तथा इसकी विविधता की भावना से ओतप्रोत करेगी और अपने पूरे जीवन भर वे भारत के अन्य हिस्सों के लोगों से मिलने-जुलने में सहज महसूस करेंगे।

3.3 भारत में क्षेत्रीय भाषाएँ

हम जानते हैं भाषायी विविधता में भारत एकस्पन्न देश है। भारत में भाषा परिवार की एक विविध और विस्तृत प्रणाली है, जिसमें कई प्रमुख भाषाई परिवार शामिल हैं। भारतीय भाषाओं का मुख्य वर्गीकरण भाषाई परिवारों के आधार पर किया जाता है। भारत में मुख्यतः तीन प्रमुख भाषा परिवार पाए जाते हैं:

1. इंडो-यूरोपीय (Indo-European) परिवार (यह परिवार भारत की सबसे बड़ी और प्रमुख भाषा शाखा है।)
2. द्रविड़ (Dravidian) परिवार
3. आदिवासी (Austro-Asiatic) परिवार
4. तिब्बती-बर्मन (Tibeto-Burman) परिवार
5. आदिवासी और अन्य (Other) परिवार

सिनो-तिब्बती (Sino-Tibetan) भाषाएँ, जो तिब्बती-बर्मन परिवार के अंतर्गत आती हैं।

ऑस्ट्रोनेशियन (Austronesian) भाषाएँ, जो कुछ द्वीपों और आदिवासी समुदायों द्वारा बोली जाती हैं।

जैसा कि भारत सरकार ने संविधान में 22 भाषाओं को "आधिकारिक भाषाओं" के रूप में मान्यता दी है, जिन्हें "अधिकारिक भारतीय भाषाएँ" कहा जाता है । इन 22 भाषाओं में हिंदी, बांग्ला, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, तमिल, तेलुगू, मराठी, मलयालम, कन्नड़, ओडिया,

पंजाबी, असमिया, नेपाली, और अन्य भाषाएँ शामिल हैं। भारत की भाषाई विविधता न केवल एक सांस्कृतिक धरोहर है, बल्कि यहदेश की सामाजिक और ऐतिहासिक विविधता को भी प्रतिबिंबित करती है। ग़ुलाम भारत में अठारह वींसदी के अंतिम चौथाई हिस्से में विलयम जॉन्स 1746-1794 भारतीय भाषायी विविधता से प्रभावित था। इसके बाद जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन 1851- 1941 लगभग एक सदी बाद ने भाषाई सर्वेक्षण आरंभ किया।

3.3 ज्ञान परम्परा

ज्ञान परंपरा (Knowledge Tradition) का अर्थ है वह सांस्कृतिक और बौद्धिक धारा जो पीढ़ी दर पीढ़ी समाज, समुदाय और व्यक्तियों द्वारा संचालित, संचित, और साझा की जाती है। यह परंपरा एक सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, या दार्शनिक दृष्टिकोण से उत्पन्न हो सकती है, और इसमें ज्ञान के विभिन्न रूप जैसे साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, दर्शन, चिकित्सा, संगीत, और अन्य क्षेत्रों का समावेश होता है। भारत में, ज्ञान परंपराएँ अत्यधिक विविध हैं और प्राचीन काल से ही इन्हें संरक्षित किया गया है। भारतीय ज्ञान परंपरा का आधार न केवल दर्शन और धार्मिक विचारों में था, बल्कि यह सामाजिक जीवन, कृषि, चिकित्सा, संगीत, कला, और विज्ञान के क्षेत्र में भी विस्तृत था।

1. विविधता और समावेशिता भारत की ज्ञान परंपरा में विविधता अत्यधिक महत्वपूर्ण है। विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, और क्षेत्रों से जुड़े ज्ञान को एक ही परंपरा के हिस्से के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत, पाली, तमिल, गुजराती, बांग्ला, और अन्य भाषाओं में प्राचीन और आधुनिक साहित्य का विशाल भंडार है। यह परंपरा विभिन्न विचारों, मतों, और दृष्टिकोणों को सम्मान देती है।
2. दर्शन और तात्त्विक ज्ञान:भारतीय ज्ञान परंपरा में दर्शन का विशेष स्थान रहा है। वेदों, उपनिषदों, भगवद गीता, बौद्ध और जैन ग्रंथों में निहित तात्त्विक विचार, आत्मा, ब्रह्म, और मोक्ष की अवधारणाएँ भारतीय समाज के दार्शनिक चिंतन का हिस्सा रही हैं। भारतीय दर्शन के अद्वैत वेदांत, न्याय, सांख्य, योग, तंत्र, और अन्य मतों ने जीवन के गहरे प्रश्नों पर विचार किया है।
3. आध्यात्मिक और धार्मिक ज्ञान:भारतीय ज्ञान परंपरा का एक महत्वपूर्ण पहलू धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन है, जैसे कि वेद, उपनिषद, भगवद गीता, रामायण, महाभारत, और पुराण। इन ग्रंथों में न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान मिलता है, बल्कि सामाजिक जीवन, नैतिकता, और न्याय के बारे में भी विचार होते हैं। इसके अतिरिक्त, बौद्ध, जैन, और सिख धर्मों ने भी अपने-अपने समय में ज्ञान परंपराओं का विकास किया।
4. विज्ञान और गणित:भारतीय ज्ञान परंपरा में विज्ञान और गणित का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में आर्यभट, भास्कराचार्य जैसे गणितज्ञों और खगोलज्ञों ने अंकगणित, त्रिकोणमिति, और खगोलशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आयुर्वेद, यूनानी चिकित्सा, और तंत्र चिकित्सा में भारतीयों ने प्राकृतिक उपचार विधियों का विकास किया।
5. साहित्य और कला:भारतीय ज्ञान परंपरा में साहित्य और कला का भी विशाल योगदान है। संस्कृत काव्य, नाटक, और अन्य साहित्यिक रूप जैसे महाकाव्य, पुराण, और शास्त्र

भारतीय समाज के ज्ञान का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। इसके अलावा, भारतीय संगीत, नृत्य, चित्रकला, और मूर्तिकला में भी गहरी परंपरा रही है, जो आज भी जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने में सहायक है।

6. पारंपरिक और लोक ज्ञान:भारतीय ज्ञान परंपरा में पारंपरिक ज्ञान भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह पारंपरिक ज्ञान कृषि, जल प्रबंधन, निर्माण कला, लोक चिकित्सा, और पारिवारिक जीवन से संबंधित होता है। उदाहरण के लिए, भारतीय लोककथाएँ, मुहावरे, गीत, और कथाएँ समाज की नीतियों, मान्यताओं, और मूल्यों को सुरक्षित रखने का माध्यम रही हैं।
7. शिक्षा और गुरु-शिष्य परंपरा:भारतीय ज्ञान परंपरा में गुरु-शिष्य परंपरा का अत्यधिक महत्व रहा है। प्राचीन समय में गुरुकुलों में शिष्य अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते थे। यह परंपरा आज भी भारत के विभिन्न हिस्सों में विद्यमान है, जहाँ गुरु के मार्गदर्शन में शिक्षा और जीवन के गूढ़ पहलुओं को समझा जाता है।

3.4 ज्ञान परंपरा का संरक्षण और विकास:

भारत की ज्ञान परंपरा का संरक्षण और संवर्धन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यह हमारी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक ढांचे का हिस्सा है। आज के समय में, जब वैश्वीकरण और पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा है, यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम अपनी पारंपरिक ज्ञान परंपराओं को संजोए रखें और उन्हें आधुनिक संदर्भ में पुनः जीवित करें।राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP), 2020 में भी भारतीय ज्ञान परंपरा के संरक्षण और प्रसार की दिशा में कई पहल की गई हैं। इसमें भारतीय भाषाओं में शिक्षा को प्रोत्साहित करने, स्थानीय और पारंपरिक ज्ञान को पाठ्यक्रम में शामिल करने और भारतीय दर्शन और संस्कृति को शिक्षा के केंद्र में लाने का प्रयास किया गया है।भारतीय ज्ञान परंपरा का मूल्य न केवल हमारी ऐतिहासिक पहचान से जुड़ा है, बल्कि यह आज भी हमारे समाज और संस्कृति की नींव को मजबूत करता है। इस ज्ञान परंपरा का संरक्षण, प्रसार, और समृद्धि हमारे आने वाले समय के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

3.5 क्षेत्रीय भाषाओ में निहित ज्ञान परम्परा

लोककथाएँ और मुहावरे—

क्षेत्रीय भाषाओं में लोककथाएँ, गीत, कहावतें और मुहावरे सामाजिक ज्ञान को संरक्षित करने का एक महत्वपूर्ण तरीका रहे हैं। ये कथा-साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि समाज के नैतिक, सामाजिक और धार्मिक मूल्यों को व्यक्त करने का तरीका हैं। उदाहरण स्वरूप, हिंदी, भोजपुरी, मराठी, पंजाबी, कन्नड़ जैसी भाषाओं में लोककथाएँ और गीत उस समाज की प्राथमिक शिक्षा का रूप होती हैं।लोककथाएँ और मुहावरे दोनों ही भारतीय संस्कृति का अहम हिस्सा हैं। ये न केवल मनोरंजन का स्रोत हैं, बल्कि समाज और जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझाने का भी एक तरीका हैं। लोककथाएँ प्राचीन समय से चली आ रही कहानियाँ होती हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सुनाई जाती हैं। ये कहानियाँ अक्सर नैतिक शिक्षा, सामाजिक मूल्यों और जीवन के संघर्षों पर आधारित होती हैं। इन कथाओं में देवी-देवता, जानवर, राजा-महाराजा, किसान, और साधारण लोग मुख्य पात्र होते हैं। ये कथाएँ अक्सर काल्पनिक और अद्भुत घटनाओं से भरपूर होती हैं, जिनका उद्देश्य मनोरंजन और शिक्षा दोनों प्रदान करना होता है।

कुछ प्रसिद्ध भारतीय लोककथाएँ: —

1. **हाथी और अंधे लोग**– यह कहानी हमारे दोषों और दृष्टिकोण के बारे में सिखाती है कि हर किसी का अपना अलग नजरिया हो सकता है।
2. **सिंह और मूस** – एक मूस और सिंह की दोस्ती की कहानी, जो यह बताती है कि कभी भी किसी को उसकी कमजोरी के आधार पर नहीं आंकना चाहिए।
3. **चतुर लोमड़ी और मूर्ख बकरा** – यह कहानी चतुराई और मूर्खता पर आधारित होती है, और यह शिक्षा देती है कि कभी भी किसी के लालच में आकर कोई निर्णय नहीं करना चाहिए।

मुहावरे: —

मुहावरे वह विशेष वाक्य होते हैं, जिनका शाब्दिक अर्थ किसी विशेष संदर्भ में नहीं होता, बल्कि उनका अर्थ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ पर निर्भर करता है। मुहावरे आमतौर पर किसी विशेष भावना या विचार को संक्षेप में व्यक्त करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। भारतीय भाषाओं में मुहावरे बहुत प्रचलित हैं।

कुछ प्रसिद्ध भारतीय मुहावरे: —

1. **आगे की सोच** (To think ahead) – इसका मतलब है कि किसी काम को करने से पहले उसका भविष्य में असर सोचना।
2. **न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी** – इसका अर्थ है कि बिना साधन के कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।
3. **उलटे पड़े तवे पर बर्तन रखना** – इसका अर्थ है कोई ऐसा कार्य करना, जो बेमानी हो या असंभव हो।
4. **आसमान से गिरे, खजूर में अटके** – इसका मतलब है एक समस्या से छुटकारा पाकर दूसरी समस्या में फंसना।

लोककथाएँ और मुहावरे हमारे जीवन के अनुभवों को समझने और बेहतर बनाने का एक शानदार तरीका हैं। ये न केवल हमारे समाज की परंपराओं और संस्कृति को दर्शाते हैं, बल्कि हमारी सोच, दृष्टिकोण और समझ को भी विकसित करते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा और आयुर्वेद: —

भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियाँ और घरेलू नुस्खे संरक्षित हैं। जैसे, उत्तर भारत में आयुर्वेदिक उपचार के लिए संस्कृत और हिंदी में ग्रंथ हैं, वहीं दक्षिण भारत में तमिल, कन्नड़, तेलुगु भाषाओं में औषधीय पौधों और उनके प्रयोग की गहरी समझ विद्यमान है। ये ज्ञान परंपराएँ जीवन के स्वास्थ्य और संतुलन को बनाए रखने के तरीकों को दर्शाती हैं।

भारत एक सांस्कृतिक और पारंपरिक दृष्टिकोण से अत्यधिक विविध देश है, जहाँ विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों में पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का उपयोग हजारों वर्षों से होता आ रहा है। इन पारंपरिक पद्धतियों का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक स्वास्थ्य को संतुलित करना होता है। विभिन्न भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं और संस्कृतियों में चिकित्सा पद्धतियाँ अलग-अलग नामों और तरीकों से प्रचलित हैं। यहाँ कुछ प्रमुख पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का विवरण है:

1. आयुर्वेद (Ayurveda) —

आयुर्वेद भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्राचीन चिकित्सा पद्धतियों में से एक है, जो विशेष रूप से संस्कृत, तमिल, मलयालम, और हिंदी भाषाओं में प्रचलित है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य शरीर, मन, और आत्मा के बीच संतुलन बनाए रखना है।

- **प्रमुख सिद्धांत:**आयुर्वेद के अनुसार, शरीर में तीन दोष (वात, पित्त, और कफ) होते हैं, जिनका संतुलन बनाए रखना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।
- **उपचार विधियाँ:**जड़ी-बूटियाँ, पंचकर्म, आहार, योग, और प्राणायाम प्रमुख उपचार विधियाँ हैं।

2. सिद्ध चिकित्सा (Siddha Medicine) —

सिद्ध चिकित्सा मुख्यतः दक्षिण भारत, खासकर तमिलनाडु में प्रचलित है और यह तमिल भाषा में व्यक्त की जाती है। यह प्रणाली आयुर्वेद से बहुत मिलती-जुलती है, लेकिन इसके उपचार और सिद्धांत थोड़े अलग हैं।

- **प्रमुख सिद्धांत:** —सिद्ध चिकित्सा में पांच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश) का संतुलन बनाए रखने की बात की जाती है।
- **उपचार विधियाँ:** —जड़ी-बूटियाँ, खनिज, योग, प्राचीन हर्बल उपचार, और शारीरिक क्रियाएँ शामिल हैं।

3. योग और प्राचीन शारीरिक चिकित्सा (Yoga and Pranayama) —

योग भारतीय संस्कृति का अहम हिस्सा है, जिसे खासकर संस्कृत और हिंदी भाषाओं में बताया जाता है। यह पद्धति शरीर, मन, और आत्मा के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए शारीरिक और मानसिक अभ्यासों का संयोजन करती है।

- **प्रमुख सिद्धांत:**योग में आसन (शारीरिक मुद्राएँ), प्राणायाम (श्वास नियंत्रण), ध्यान (मेडिटेशन), और आयाम (आध्यात्मिक अभ्यास) शामिल होते हैं।
- **उपचार विधियाँ:**यह मानसिक तनाव, शारीरिक रोगों, और आत्मिक असंतुलन को ठीक करने में सहायक मानी जाती है।

4. यूनानी चिकित्सा (Unani Medicine) —

यूनानी चिकित्सा पद्धति का इतिहास प्राचीन ग्रीस से जुड़ा हुआ है, लेकिन भारत में यह मुख्यतः उर्दू, फारसी, और हिंदी भाषाओं में प्रचलित है। इसका आधार शरीर के चार तत्वों (खून, बलगम, पित्त और सफरा) पर आधारित है।

- **प्रमुख सिद्धांत:** —यह पद्धति शरीर में ताजगी और स्वस्थ तत्वों के संतुलन को बनाए रखने की बात करती है।
- **उपचार विधियाँ:** —हर्बल उपचार, खानपान, हल्की दवाइयाँ, और मसाज प्रमुख उपचार विधियाँ हैं।

5. होम्योपैथी (Homeopathy) —

होम्योपैथी भारतीय चिकित्सा प्रणाली का हिस्सा नहीं है, लेकिन यह भारत में प्रचलित एक विदेशी पद्धति है, जिसे हिंदी, बंगाली, तमिल, और अन्य भारतीय भाषाओं में उपयोग किया जाता है। इस पद्धति का मानना है कि "जो चीज़ एक स्वस्थ व्यक्ति को बीमार नहीं करती, वही चीज़ बीमार व्यक्ति को ठीक कर सकती है।"

- **प्रमुख सिद्धांत:** —शरीर के समान लक्षणों वाली दवाइयाँ रोगी को ठीक कर सकती हैं।

- **उपचार विधियाँ:** —खुराक के रूप में अत्यंत पतली दवाइयाँ दी जाती हैं जो शरीर के अंदर से उपचार करती हैं।

6. आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियाँ और लोक चिकित्सा (Herbal Medicine and Folk Remedies) —

भारत के विभिन्न हिस्सों में लोक चिकित्सा के रूप में जड़ी-बूटियों का उपयोग किया जाता है। यह पद्धति मुख्य रूप से गांवों और स्थानीय समुदायों में प्रचलित है, जहाँ परंपरागत अनुभवों और ज्ञान का आधार होता है।

- **उपचार विधियाँ:** — तुलसी, हल्दी, नीम, अश्वगंधा, गिलोय, और अन्य आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियाँ अनेक रोगों का इलाज करने के लिए उपयोग की जाती हैं।

7. मस्सेज और बाहरी उपचार (Massage and External Therapies) —

यह पद्धति विशेष रूप से केरल (केरल चिकित्सा) और अन्य दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में प्रचलित है। यहां पर पंचकर्म और आयुर्वेदिक तेल मालिश का उपयोग किया जाता है।

- **उपचार विधियाँ:** —तेल मालिश, स्नान, और विभिन्न शारीरिक उपचारों के माध्यम से शरीर की शुद्धि की जाती है।

8. फोल्क मेडिसिन (Folk Medicine) —

भारत के विभिन्न हिस्सों में लोक चिकित्सा की प्राचीन परंपराएँ हैं, जो क्षेत्रीय भाषा और संस्कृति के अनुसार अलग-अलग होती हैं।

- **उपचार विधियाँ:** — इन उपचारों में विशेष रूप से प्राकृतिक स्रोतों जैसे पौधे, खनिज, जल, और जीवों का उपयोग किया जाता है। विशेष रूप से आदिवासी क्षेत्रों में इनका बहुत व्यापक उपयोग देखा जाता है।

भारत की पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियाँ शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए समग्र दृष्टिकोण अपनाती हैं। इन पद्धतियों का उद्देश्य केवल रोग का उपचार करना नहीं, बल्कि व्यक्ति के जीवन को समग्र रूप से स्वस्थ और संतुलित बनाना है। भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में यह चिकित्सा पद्धतियाँ न केवल स्वास्थ्य लाभ देती हैं, बल्कि सांस्कृतिक धरोहर का भी हिस्सा हैं।

कृषि और पारिस्थितिकी: —

क्षेत्रीय भाषाएँ कृषि से संबंधित पारंपरिक ज्ञान को भी संभालती हैं, जैसे भूमि की उर्वरता, जलवायु की समझ, और प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन। उदाहरण के लिए, राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश में विभिन्न प्रकार की फसलों के उगाने के पारंपरिक तरीके, जल स्रोतों की देखभाल, और कृषि के मौसम के बारे में ज्ञान स्थानीय भाषाओं में प्रचलित है।भारत में कृषि पारंपरिक जीवन का अभिन्न हिस्सा रही है, और क्षेत्रीय भाषाओं में इस संबंधी अद्भुत ज्ञान और प्रथाएँ आज भी प्रचलित हैं। भारतीय कृषि संस्कृति अत्यधिक विविध है और समय के साथ विकसित हुई है। इन पारंपरिक ज्ञान को क्षेत्रीय भाषाओं में व्यक्त किया गया है, जो न केवल कृषि के विज्ञान को समझने में मदद करते हैं, बल्कि यह प्राकृतिक संसाधनों, पर्यावरणीय संतुलन, और कृषि के विविध पहलुओं को भी दर्शाते हैं।

यहां कुछ प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में कृषि से संबंधित पारंपरिक ज्ञान की चर्चा की गई है:

1. हिंदी में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

हिंदी क्षेत्र में कृषि से जुड़ी पारंपरिक जानकारी प्रायः ग्रामीण जीवन के अनुभवों पर आधारित होती है। इसमें मिट्टी की प्रकार, फसलों के मौसम, बीजों की गुणवत्ता, और सिंचाई के पुराने तरीके शामिल होते हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**हिंदी में लोककथाओं और मुहावरों में "बुवाई का समय," "वृष्टि के संकेत," "धान की कटीला" जैसी शर्तों का उपयोग होता है, जो किसानों को कृषि के समय और मौसम के बदलाव को समझाने में मदद करती हैं।
- **प्राकृतिक संकेत:**— किसान प्राकृतिक संकेतों को ध्यान में रखते हुए अपनी खेती के कार्यों का निर्धारण करते हैं। उदाहरण के लिए, अगर "नक्षत्र का समय" सही है, तो वे बुआई शुरू करते हैं।

2. तमिल में कृषि पारंपरिक ज्ञान (Siddha Knowledge) —

तमिलनाडु और दक्षिण भारत में कृषि का पारंपरिक ज्ञान "सिद्ध चिकित्सा" और "पारंपरिक कृषि विधियों" से जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र के किसान मिट्टी के प्रकार और मौसम के आधार पर फसल चक्र का पालन करते हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— यहां के किसान पारंपरिक रूप से "पाणि वसु" (जलवायु अनुकूलन) और "कृषि विधि" (तथा त्वरित विकास के लिए जैविक खादों का उपयोग) को समझते हैं।
- **सिद्ध ज्ञान:**— सिद्ध चिकित्सा और कृषि पारंपरिक ज्ञान में मनुष्य और प्रकृति के बीच तालमेल बैठाने पर जोर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यहाँ के किसान उर्वरक के रूप में गोबर, नीम की पत्तियाँ, और गोधूलि वेला (सांझ का समय) में फसल की देखभाल करने के पारंपरिक तरीके अपनाते हैं।

3. बंगाली में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

बंगाल में कृषि ज्ञान मुख्य रूप से जलवायु के अनुकूल फसल चक्र और नदी-नालों के जल उपयोग पर आधारित है। यहां के किसान विशेष रूप से चावल, ज्वार, मक्का और दलहन की खेती में पारंपरिक ज्ञान का पालन करते हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— बंगाली किसानों के पास "पानी का गणना" और "मूसलधार बारिश" जैसी प्रथाएँ हैं, जो जलवायु और सिंचाई के महत्व को दर्शाती हैं।
- **फसल चक्र:**— बंगाल में आमतौर पर "रवी" (रबी) और "खरीफ" (खरीफ) फसलों का सटीक चयन और समय पर कृषि कार्य किया जाता है। इसके अलावा, यहाँ "गोवर्धन पूजा" जैसे धार्मिक अनुष्ठान भी फसल की सफलता की प्रार्थना के रूप में होते हैं।

4. मराठी में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

महाराष्ट्र में पारंपरिक कृषि ज्ञान में जैविक खेती, सूक्ष्म जल प्रबंधन, और मिट्टी के स्वास्थ्य को बनाए रखने के उपाय शामिल हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— "कृषि सिंचाई," "मिट्टी का परीक्षण," "गोवर्धन खाद" (गोबर और हड्डी के अवशेष से बनी खाद), और "गोधन" (पशुओं की देखभाल) जैसे महत्वपूर्ण पहलुओं को पारंपरिक रूप से सिखाया जाता है।

- **वर्षा के संकेत:**— मराठी किसानों के पास यह ज्ञान है कि वर्षा का सही समय और पानी की आवश्यकता का पता कैसे लगाया जाए। "गुडघनी" और "खेत की मिट्टी की स्थिति" के बारे में भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

5. पंजाबी में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

पंजाब कृषि में अत्यधिक समृद्ध राज्य है, और यहां के किसान अपने पारंपरिक ज्ञान का पालन करते हैं, विशेषकर अनाज की खेती और सिंचाई के तरीके में।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— पंजाबी किसानों में गेहूँ, धान, और दालों की खेती का पारंपरिक ज्ञान व्यापक रूप से पाया जाता है। "बुआई का सही समय" और "सिंचाई का तरीका" पंजाबी किसान अपने पूर्वजों से सीखते हैं।
- **फसल और मौसम का अध्ययन:**— "मौसम का ज्ञान" और "धान के खेतों में मिट्टी का चयन" पंजाबी कृषि में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

6. राजस्थानी में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

राजस्थान की कठोर जलवायु में पारंपरिक कृषि पद्धतियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस राज्य में किसान मुख्य रूप से रेगिस्तानी फसलों जैसे बाजरा, ज्वार, और मूँगफली की खेती करते हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— "धारा पद्धति" (वर्षा जल संचयन) और "पानी का संग्रह" के पारंपरिक तरीके इस क्षेत्र में प्रचलित हैं। यहाँ के किसान जल संरक्षण के लिए कुएं, तालाबों और अन्य जल स्रोतों का उपयोग करते हैं।
- **सांस्कृतिक तरीके:**— "राजस्थानी वर्षा के संकेत" जैसे पारंपरिक ज्ञान का पालन किया जाता है, जैसे कि "बूँदों के गिरने का तरीका" और "आकाश में बादल की स्थिति"।

7. उड़िया में कृषि पारंपरिक ज्ञान—

उड़ीसा में कृषि पारंपरिक रूप से खेती-बाड़ी और जलवायु के अनुकूल तरीके पर आधारित है। यहाँ के किसान धान की खेती में विशेषज्ञ होते हैं और जलवायु के बदलाव को समझने के लिए प्राकृतिक संकेतों का उपयोग करते हैं।

- **कृषि पद्धतियाँ:**— उड़ीसा में "जलेश्वर पूजा" और "धान की भूमि की तैयारी" जैसी पारंपरिक प्रथाएँ आम हैं। किसान मौसम के अनुसार खाद्य और औजारों का चुनाव करते हैं।
- **जलवायु का अध्ययन:**— "मूसलधार बारिश," "नदी के पानी की प्रवृत्तियाँ," और "सांस्कृतिक कृषि तिथियाँ" के बारे में गहरे ज्ञान का पालन किया जाता है। भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में कृषि से संबंधित पारंपरिक ज्ञान बहुत ही विस्तृत और विविध है। यह ज्ञान न केवल खेती की तकनीकों और औजारों तक सीमित है, बल्कि मौसम, जलवायु, भूमि की स्थिति और प्राकृतिक संकेतों पर भी आधारित है। इन पारंपरिक ज्ञानों का संरक्षण और समुचित उपयोग भारत की कृषि को और अधिक सशक्त और टिकाऊ बना सकता है।

समाजशास्त्र और जातीय पहचान:—

क्षेत्रीय भाषाएँ स्थानीय समाज की जातीय पहचान, परंपराओं और सामाजिक संरचनाओं को दर्शाती हैं। हर क्षेत्र की अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था, मान्यताएँ और पहचान होती है, जो उनकी भाषा और संस्कृति में समाहित होती हैं। उदाहरण के लिए, हरियाणा

और पंजाब की भाषाओं में ग्रामीण जीवन की सामाजिक संरचनाओं का चित्रण होता है, जो उनके पारंपरिक रिश्तों और सम्मान के सिद्धांतों को व्यक्त करता है।

समाजशास्त्र और जातीय पहचान दोनों महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं जो समाज और संस्कृति को समझने में मदद करती हैं। इनका आपस में गहरा संबंध है, क्योंकि जातीय पहचान समाज के भीतर के विभिन्न समूहों के मध्य भेदभाव, असमानताएँ और सामूहिक पहचान को प्रभावित करती है। समाजशास्त्र, समाज और उसके ढाँचों का अध्ययन करता है, और जातीय पहचान इस ढांचे के भीतर एक महत्वपूर्ण पहलू है जो सामाजिक व्यवस्था और संबंधों को आकार देती है।

1. समाजशास्त्र और जातीय पहचान का परिभाषा—

- **समाजशास्त्र:**— समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो मानव समाज, उसके ढाँचों, संबंधों, संस्थाओं, और संस्कृति का अध्ययन करता है। यह समाज में होने वाले परिवर्तनों, संघर्षों, और सामूहिक व्यवहारों का विश्लेषण करता है।
- **जातीय पहचान:**—जातीय पहचान किसी समूह की पहचान को संदर्भित करती है जो विशेष रूप से जाति, नस्ल, या सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर बनती है। यह व्यक्ति या समूह के सामाजिक और सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़ी होती है, जैसे उनकी भाषा, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक परंपराएँ।

2. जातीय पहचान और समाजशास्त्र का संबंध—

समाजशास्त्र में जातीय पहचान का अध्ययन मुख्य रूप से इस बात को समझने के लिए किया जाता है कि कैसे जातियाँ समाज के भीतर विभिन्न भूमिकाएँ निभाती हैं और इन भूमिकाओं का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है। जातीय पहचान का निर्माण समाज के भीतर आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक शक्तियों के संघर्ष से होता है।

जातीय पहचान के तत्व:—

1. **भाषा:**— भाषा जातीय पहचान का एक महत्वपूर्ण घटक है। एक समूह की अपनी विशेष भाषा या बोली होती है जो उसे अन्य समूहों से अलग करती है।
2. **धर्म और संस्कृति:**— जातीय समूहों के विशिष्ट धार्मिक और सांस्कृतिक विश्वास और प्रथाएँ उनकी पहचान को परिभाषित करती हैं।
3. **इतिहास और परंपरा:**— जातीय पहचान में एक समूह के इतिहास और परंपराओं का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह समूह की सांस्कृतिक विरासत और पहचान को बनाए रखने में मदद करता है।
4. **नस्लीय और शारीरिक विशेषताएँ:**— कभी-कभी जातीय पहचान नस्लीय या शारीरिक विशेषताओं पर भी आधारित होती है, जैसे त्वचा का रंग, बालों का प्रकार, या शारीरिक रूप।

3. जातीय पहचान और समाजशास्त्र में प्रमुख दृष्टिकोण—

समाजशास्त्रियों ने जातीय पहचान पर विभिन्न दृष्टिकोण विकसित किए हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख हैं:

1. फंक्शनलिज़्म (Functionalism): —

फंक्शनलिज़्म के अनुसार, समाज में विभिन्न जातियाँ और सामाजिक समूह अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं। जातीय पहचान से जुड़ी परंपराएँ और रीति-रिवाज समाज के समग्र

तंत्र को स्थिर बनाए रखने में मदद करते हैं। यह दृष्टिकोण यह मानता है कि विविधता समाज की संरचना को सुदृढ़ करती है।

2. कांट्रैक्टिविज़्म (Conflict Theory): —

कांट्रैक्टिविज़्म या संघर्ष सिद्धांत के अनुसार, जातीय पहचान मुख्य रूप से सामाजिक असमानताओं और संघर्षों का परिणाम है। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि समाज में शक्ति का असंतुलन है, और जातीय पहचान का निर्माण शोषण और भेदभाव के माध्यम से होता है। उदाहरण के लिए, जातीय असमानताएँ अक्सर आर्थिक और राजनीतिक शोषण को बढ़ावा देती हैं, और समाज में विभाजन पैदा करती हैं।

3. इंटरएक्शनिज़्म (Interactionism):—

इंटरएक्शनिज़्म जातीय पहचान को एक सामाजिक निर्माण के रूप में देखता है, जिसे व्यक्तियों और समूहों के आपसी इंटरएक्शन के माध्यम से विकसित किया जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, जातीय पहचान लगातार बदलती रहती है और समाज के भीतर लोगों के संबंधों द्वारा आकार ली जाती है।

4. पोस्टकोलोनियल थ्योरी (Postcolonial Theory):—

पोस्टकोलोनियल थ्योरी यह मानती है कि उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक ताकतों ने जातीय पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उपनिवेशी शक्तियों ने स्थानीय समुदायों को जातीय या नस्लीय रूप से विभाजित किया, और आज भी इन विभाजनाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण जातीय असमानताओं और उनकी उत्पत्ति के बारे में पुनः विचार करने की आवश्यकता को दर्शाता है।

4. जातीय पहचान का सामाजिक प्रभाव—

जातीय पहचान समाज में कई प्रकार के प्रभाव डालती है, जिनमें प्रमुख हैं:

- **भेदभाव और असमानता:**— जातीय पहचान अक्सर समाज में असमानता और भेदभाव का कारण बनती है। उदाहरण के लिए, भारत में जातिवाद एक प्रमुख मुद्दा है, जहां उच्च और नीच जातियों के बीच भेदभाव होता है।
- **सामाजिक संबंध:**— जातीय पहचान सामाजिक रिश्तों और नेटवर्कों को प्रभावित करती है। कुछ जातियाँ दूसरों से अलग-थलग रहती हैं, जो सामाजिक सामंजस्य में रुकावट डाल सकता है।
- **राजनीतिक प्रतिनिधित्व:**— जातीय पहचान अक्सर राजनीतिक प्रतिनिधित्व और अधिकारों के संघर्ष से जुड़ी होती है। कई देशों में जातीय समूह अपनी पहचान और अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं।

5. भारत में जातीय पहचान—

भारत में जातीय पहचान परंपरागत रूप से **जाति व्यवस्था** द्वारा परिभाषित होती है, जो एक सामाजिक श्रेणीबद्धता प्रणाली है। जातिवाद भारत की सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, और यह सामाजिक असमानता, भेदभाव, और अन्याय को जन्म देता है। जातीय पहचान भारतीय समाज में शिक्षा, रोजगार, विवाह, और राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

भारत में जातीय पहचान के विभिन्न पहलू:

- **आरक्षण प्रणाली:—** जातीय पहचान के आधार पर आरक्षण (Reservation) व्यवस्था ने समाज में समानता लाने की कोशिश की है, लेकिन इससे जुड़े विवाद भी हैं।
- **संस्कृतिक विविधता:—** भारतीय समाज में विभिन्न जातियाँ अपनी परंपराओं, रीति-रिवाजों और भाषाओं के माध्यम से अपनी पहचान बनाए रखती हैं।
- **जातीय संघर्ष:—** कई बार विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष उत्पन्न होते हैं, जो सामाजिक और राजनीतिक तनाव का कारण बनते हैं।

समाजशास्त्र और जातीय पहचान का अध्ययन हमें समाज के भीतर के विभिन्न असमानताओं, संघर्षों, और सामूहिक पहचान को समझने में मदद करता है। यह सामाजिक संरचनाओं और जातीय पहचान के बीच के जटिल संबंधों को स्पष्ट करता है, और यह बताता है कि कैसे जातीय पहचान न केवल व्यक्तिगत जीवन बल्कि समाज की समग्र दिशा और विकास को प्रभावित करती है। समाजशास्त्र की दृष्टि से जातीय पहचान का अध्ययन समाज में समता, न्याय, और समान अवसरों के लिए संघर्ष को भी प्रकट करता है।

लोक कला और शिल्प:—

क्षेत्रीय भाषाओं में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान भी निहित होता है। जैसे कि मध्य प्रदेश में बुंदेली और छत्तीसगढ़ी भाषाओं में पारंपरिक चित्रकला और शिल्पकला के बारे में गहरी जानकारी मिलती है। कुमाऊँनी, गढ़वाली, और हिमाचली भाषाओं में लोककला और वास्तुकला की परंपराओं का आदान-प्रदान किया जाता है

क्षेत्रीय भाषाओं में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञानभारत में कला और शिल्प का एक विशाल और विविध परंपरागत इतिहास है, जिसमें प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट शैलियाँ, विधाएँ, और तकनीकें हैं। इन शिल्प और कलाओं से संबंधित ज्ञान क्षेत्रीय भाषाओं में संरक्षित और प्रचलित होता है। विभिन्न भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में शिल्पकला से संबंधित ज्ञान न केवल सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संजोया गया है, बल्कि यह समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन और परंपराओं का भी प्रतिनिधित्व करता है।

यहां कुछ प्रमुख भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में शिल्प और कला से संबंधित पारंपरिक ज्ञान का वर्णन किया गया है:

1. हिंदी में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

हिंदी में शिल्पकला और कला परंपराएँ सदियों पुरानी हैं। हिंदी में पारंपरिक कला रूपों के बारे में साहित्य, गीत, और काव्य रचनाओं के माध्यम से जानकारी दी जाती है।

- **कंपनी चित्रकला:—** यह एक प्रसिद्ध शिल्प कला है, जो विशेष रूप से हिंदी क्षेत्र में विकसित हुई। यह यूरोपीय और भारतीय कला का मिश्रण होती है, और इसमें मुग़ल और राजपूत चित्रकला की शैली देखने को मिलती है।
- **आधुनिक कुम्हार कला:—** हिंदी में कुम्हारों की कला का उल्लेख बहुत मिलता है, जो मिट्टी के बर्तनों, मूर्तियों और अन्य सजावटी वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इस कला को "कुम्हारशास्त्र" कहा जाता है।
- **हथकरघा और बुनाई:—** हिंदी भाषी क्षेत्रों में खासकर उत्तर प्रदेश और बिहार में खादी और विभिन्न प्रकार के हथकरघा बुनाई की कला प्रचलित है। "गोटा," "कांची" और "पटोला" जैसे पारंपरिक बुनाई रूपों का उल्लेख हिंदी साहित्य में किया जाता है।

2. तमिल में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

तमिलनाडु की शिल्प और कला परंपरा बहुत समृद्ध और विविध है। तमिल क्षेत्रीय भाषा में विभिन्न पारंपरिक शिल्प और कला रूपों का ज्ञान व्यापक रूप से पाया जाता है।

- **चोलचित्रकला और वास्तुकला:** — तमिलनाडु की प्रसिद्ध चोल चित्रकला और वास्तुकला, खासकर मंदिरों में देखी जाती है। ये चित्रकला रूप रंग, आकार, और गहनों की नक्काशी के माध्यम से देवताओं की कहानियों को प्रस्तुत करती है।
- **कांची बुनाई (Kanchipuram Weaving):** — तमिलनाडु के कांचीपुरम क्षेत्र में रेशमी साड़ियों की बुनाई की परंपरा बहुत पुरानी है। इन साड़ियों की बुनाई में जटिल डिजाइन और गुणवत्ता की विशेषताएँ होती हैं।
- **नृत्य और संगीत (कट्टकली):** — तमिल में कला और नृत्य का ज्ञान विशेष रूप से "भरतनाट्यम" और "कट्टकली" जैसे शास्त्रीय नृत्य रूपों में व्यक्त होता है, जो धार्मिक कथाओं और संस्कृत ग्रंथों पर आधारित होते हैं।

3. बंगाली में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

बंगाल क्षेत्र में शिल्प और कला के प्राचीन रूपों का बड़ा योगदान है। यहां के शिल्प और कला से जुड़ी परंपराएँ साहित्य, संगीत और चित्रकला के रूप में प्रचलित हैं।

- **पॉटरी और मिट्टी के खिलौने:** — बंगाल में कुम्हार कला बहुत समृद्ध है। यहाँ की पारंपरिक मिट्टी की मूर्तियाँ और खिलौने, खासकर "कृष्ण की पूजा" के लिए बनाई जाती हैं। यह कला "सोनार गुरी" के नाम से जानी जाती है।
- **क्लॉथ प्रिंटिंग:** — बंगाल में "पटका" और "बांदिनी" जैसे पारंपरिक कपड़े छपाई के तकनीकें हैं, जो यहां के शिल्पकला में प्रमुख स्थान रखती हैं।
- **कला और साहित्य:** — बंगाली साहित्य में लोककला और शिल्प के बारे में बहुत चर्चा होती है। जैसे "रवींद्रनाथ ठाकुर" और "पारमेश्वरनाथ" की काव्य रचनाओं में भारतीय कला और संस्कृति का वर्णन है।

4. कन्नड़ में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

कर्नाटक की शिल्पकला और कर्नाटकी शैली के नृत्य, संगीत, और मूर्तिकला का बहुत समृद्ध इतिहास है। कन्नड़ भाषा में कला से संबंधित ज्ञान गहरी सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा है।

- **कावेरी जलसेतु कला:** — कर्नाटकी कला में जलसेतु के निर्माण की कला प्रमुख है, जो वास्तुकला, जल प्रबंधन और कला का सम्मिलन है।
- **लक्ष्मी चित्रकला:**कर्नाटकी चित्रकला में विशेष रूप से धार्मिक विषयों पर चित्रित चित्रों का प्रमुख स्थान है, जैसे "भगवान गणेश की मूर्तियाँ" और "लक्ष्मी चित्रकला"।
- **संगीत और नृत्य:** — कर्नाटकी शास्त्रीय संगीत और "कर्नाटिक संगीत" की परंपरा कर्नाटकी शास्त्रीय नृत्य और गीतों में अभिव्यक्त होती है। इसके अलावा, "यक्षगान" और "धारवाड़ संगीत" भी महत्वपूर्ण कला रूप हैं।

5. राजस्थानी में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

राजस्थान की शिल्पकला और कला का बहुत समृद्ध इतिहास है। यहाँ की पारंपरिक कला रंगीन चित्रकला, काँच की नक्काशी, और हस्तशिल्प कला में बहुत प्रसिद्ध है।

- **राजस्थानी चित्रकला:** — राजस्थान की चित्रकला शैलियाँ जैसे **मिनीATURE पेंटिंग** (मुख्यतः जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में), जो राजपूतों की कहानियाँ और शाही जीवन को चित्रित करती हैं, इन चित्रकला रूपों में समृद्ध परंपरा है।
- **काँच की नक्काशी:** — राजस्थानी शिल्पकला में काँच की नक्काशी और डिजाइन प्रमुख हैं, जो महलों और किलों की सजावट में देखी जाती है।
- **धातु शिल्प:** — राजस्थान में धातु शिल्प, विशेष रूप से कांस्य और चांदी की मूर्तियों की कला प्रचलित है। इसे "धातु मूर्तिकला" के रूप में जाना जाता है।

6. मराठी में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान—

महाराष्ट्र में शिल्पकला और कला के विविध रूप हैं, जैसे कढ़ाई, वास्तुकला और पारंपरिक शिल्प।

- **Paithani साड़ी:** — यह महाराष्ट्र की प्रसिद्ध साड़ी शैली है, जिसमें सोने और चांदी के धागों से बुनाई की जाती है। यह साड़ी विशेष रूप से विवाह और उत्सवों में पहनी जाती है।
- **माली कला:** — महाराष्ट्र के गांवों में "माली" (फूलों की खेती करने वाले) का शिल्प बहुत प्रसिद्ध है। इस शिल्प में फूलों और पौधों के उपयोग से विभिन्न सजावट की वस्तुएं बनाई जाती हैं।
- **राजमाची किला और पाटने कला:** — महाराष्ट्र के किलों में राजमाची किला एक प्रमुख उदाहरण है, जो मराठा वास्तुकला का प्रतीक है।

भारत में क्षेत्रीय भाषाओं में शिल्प और कला से संबंधित ज्ञान सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संरक्षित है और यह समाज के विविध पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है। यह शिल्प केवल सजावट और सौंदर्य तक सीमित नहीं है, बल्कि यह प्रत्येक क्षेत्र की सामाजिक, सांस्कृतिक, और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दर्शाता है। क्षेत्रीय भाषाओं में इस ज्ञान का प्रसार और संरक्षण आज भी जारी है, जो आगामी पीढ़ियों के लिए अमूल्य धरोहर है।

धार्मिक परंपराएँ: —

क्षेत्रीय भाषाएँ धार्मिक ज्ञान की एक समृद्ध परंपरा भी रखती हैं। दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में धार्मिक ग्रंथ, शास्त्र, और भक्ति साहित्य का विशाल भंडार है, जो न केवल धार्मिक संस्कारों को संरक्षित करता है बल्कि विभिन्न देवताओं और पूजा विधियों की जानकारी भी प्रदान करता है।

क्षेत्रीय भाषाएँ और धार्मिक ज्ञान की समृद्ध परंपरा भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक धरोहर का एक अभिन्न हिस्सा हैं। भारत में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं ने धार्मिक परंपराओं, विश्वासों और विचारों को संरक्षित और प्रसारित किया है। ये भाषाएँ न केवल धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या करती हैं, बल्कि धार्मिक अनुष्ठानों, पूजा विधियों, त्योहारों, और लोककथाओं के माध्यम से समाज में धर्म की जड़ों को गहरे तक फैलाने का कार्य करती हैं।

भारत में धार्मिक ज्ञान का प्रसार क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से हुआ है, और प्रत्येक क्षेत्र की धार्मिक परंपराओं और विश्वासों का एक विशिष्ट रूप उभरा है। चलिए, कुछ प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में धार्मिक ज्ञान की परंपरा पर एक नजर डालते हैं:

1. हिंदी और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

हिंदी भाषा का भारतीय धार्मिक परंपराओं में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह न केवल संस्कृत साहित्य के लिए एक माध्यम रही है, बल्कि लोक धार्मिक विश्वासों और गीतों के रूप में भी गहरी जड़ें रखती है।

- **रामचरितमानस**: — हिंदी में तुलसीदास द्वारा रचित "रामचरितमानस" एक महत्वपूर्ण धार्मिक ग्रंथ है, जो भगवान राम की जीवन गाथा को सरल और भक्ति भाव के साथ प्रस्तुत करता है। यह ग्रंथ हिंदी भाषी समाज में व्यापक रूप से पढ़ा और समझा जाता है।
- **भगवद गीता**: — हिंदी में भगवद गीता का कई रूपों में अनुवाद और व्याख्या की गई है। यह ग्रंथ जीवन के आध्यात्मिक मार्गदर्शन और कर्म के सिद्धांतों पर आधारित है।
- **काव्य और भक्ति आंदोलन**: — हिंदी भाषा में कई संतों जैसे मीरा बाई, सूरदास, संत कबीर, और तुलसीदास ने अपनी भक्ति काव्य रचनाओं के माध्यम से धार्मिक ज्ञान और भक्ति भाव को समाज में फैलाया।

2. तमिल और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

तमिल एक प्राचीन भाषा है, जो दक्षिण भारत में धार्मिक ज्ञान के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है।

- **तमिल वेदांत और भक्ति काव्य**: — तमिल में (थिरुक्कुरल) जैसी धार्मिक काव्य रचनाएँ हैं, जो जीवन के विभिन्न पहलुओं को धार्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं। तमिल संतों द्वारा रचित भक्ति काव्य ने विशेष रूप से शैव और वैष्णव धर्म को बढ़ावा दिया।
- **नयनार और अलवार संत**: — तमिल में नयनार (शैव संत) और अलवार (वैष्णव संत) की भक्ति कविताएँ भारतीय धर्म में एक अहम योगदान करती हैं। इन संतों के काव्य रचनाओं ने तमिलनाडु के धार्मिक जीवन को गहरे से प्रभावित किया।
- **तमिल वेद**: तमिल में "नल्लानदन वेद" और "उपनिषद" का भी अनुवाद किया गया है, जो दक्षिण भारतीय धार्मिक विचारधारा को विशेष रूप से समृद्ध करते हैं।

3. बंगाली और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

बंगाली भाषा ने भारतीय धार्मिक परंपराओं, विशेष रूप से हिंदू धर्म, के ज्ञान को व्यापक रूप से फैलाया है। बंगाली संतों और कवियों ने धार्मिक साहित्य की एक समृद्ध परंपरा को जन्म दिया।

- **रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद**: — बंगाली संत रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने धार्मिक दर्शन और ज्ञान के महत्वपूर्ण पहलुओं को बंगाली भाषा में प्रस्तुत किया। उनके उपदेश और विचार आज भी बंगाल सहित पूरे भारत में प्रभावी हैं।
- **कृष्ण काव्य**: — बंगाली में कृष्ण भक्ति के आधार पर कवि जयदेव का प्रसिद्ध "गीत गोविंद" रचा गया। इस काव्य ने कृष्ण के जीवन और उनकी लीलाओं को धार्मिक रूप में प्रस्तुत किया।
- **काबीरदास के भजन**: — बंगाली में कबीरदास के भजन और कविताओं का बड़ा प्रभाव रहा, जो वे वैराग्य और भक्ति मार्ग को दर्शाते हैं।

4. मराठी और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

मराठी भाषा ने भारत में धार्मिक ज्ञान और भक्ति साहित्य की समृद्ध परंपरा को बढ़ावा दिया है।

- **संत तुकाराम और संत ज्ञानेश्वरी**: — मराठी में संत तुकाराम का अभंग काव्य और संत ज्ञानेश्वरी (संत ज्ञानेश्वर की रचना) धार्मिक भक्ति के महत्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। इन ग्रंथों ने मराठा समाज में भक्ति और भक्ति योग का प्रचार किया।
- **अर्थशास्त्र और नीति शास्त्र**: — मराठी भाषा में "मनुस्मृति" और "धर्मशास्त्र" के अंशों का सरल अनुवाद किया गया, जो भारतीय धार्मिक परंपरा और जीवन के नैतिक पहलुओं को स्पष्ट करते हैं।
- **संत पीठ**: महाराष्ट्र में धार्मिक यात्रा स्थलों जैसे पंढरपूर और शिर्षी में संतों के काव्य और भक्ति गीतों का महत्व है।

5. कन्नड़ और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

कन्नड़ भाषा ने विशेष रूप से द्रविड़ संस्कृतियों और धार्मिक परंपराओं को संरक्षित किया है।

- **कन्नड़ भक्ति काव्य**: — कन्नड़ में "वोक्कालिगा" और "जंगम" जैसे शैव संतों ने भक्ति काव्य रचनाएँ कीं। इनके कार्यों ने शैव धर्म को विशेष रूप से दक्षिण भारत में फैलाया।
- **कर्नाटिक संगीत**: — कर्नाटिक संगीत, जो दक्षिण भारतीय धार्मिक संगीत परंपरा का हिस्सा है, ने भगवान और धार्मिक उपदेशों को कन्नड़ भाषा में संगीत के रूप में प्रस्तुत किया।
- **शिव काव्य और संतकाव्य**: — कन्नड़ के प्रसिद्ध संत जैसे बासवन्ना और अख्मन्ना ने शिव भक्ति को प्रकट करते हुए धार्मिक कविताएँ रचीं।

6. उर्दू और धार्मिक ज्ञान की परंपरा—

उर्दू भाषा ने विशेष रूप से इस्लामी धर्म के ज्ञान को व्यक्त किया है। उर्दू साहित्य में धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों पर कई महत्वपूर्ण काव्य रचनाएँ हैं।

- **सुफी संतों की रचनाएँ**: — उर्दू में सुफी संतों की कविताएँ और गीत धार्मिक तात्त्विक और आध्यात्मिक संदेशों का प्रसार करती हैं।
- **क़व्वाली**: — उर्दू में क़व्वाली के माध्यम से धार्मिक भक्ति और आध्यात्मिक प्रेम की गहरी परंपरा है।
- **कुरआन और हदीस**: — उर्दू में कुरआन का अनुवाद और हदीस की व्याख्याएँ उर्दू भाषियों के बीच धार्मिक ज्ञान का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

भारत की क्षेत्रीय भाषाओं ने धार्मिक ज्ञान की समृद्ध परंपरा को संरक्षित किया है और इसे जन-जन तक पहुँचाया है। इन भाषाओं के माध्यम से धार्मिक ग्रंथों, संतों की रचनाओं, भक्ति गीतों, और उपदेशों ने न केवल समाज को आध्यात्मिक रूप से जागरूक किया, बल्कि भारतीय संस्कृति और विश्वासों की विविधता को भी प्रस्तुत किया। इन भाषाओं का धर्म से जुड़ा ज्ञान न केवल पारंपरिक धार्मिक जीवन का हिस्सा है, बल्कि यह समाज के लिए एक अमूल्य धरोहर भी है।

संगीत और नृत्य: —

क्षेत्रीय भाषाएँ पारंपरिक संगीत और नृत्य की परंपरा को जीवित रखती हैं। विभिन्न लोक संगीत, जैसे कि भोजपुरी के लोक गीत, पंजाबी के भांगड़ा और कंबोडिया के नृत्य आदि, एक क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा हैं, जो उनके भावनात्मक और सांस्कृतिक अनुभवों को व्यक्त करते हैं।

भारतीय संगीत: —

भारतीय संगीत को व्यापक रूप से दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

1. **हिंदुस्तानी संगीत (उत्तर भारतीय संगीत)**
2. **कर्नाटक संगीत (दक्षिण भारतीय संगीत)**

1. हिंदुस्तानी संगीत: —

हिंदुस्तानी संगीत की जड़ें प्राचीन भारत में हैं और यह संगीत शास्त्रीय संगीत की एक प्रमुख शाखा है, जो मुख्य रूप से उत्तर भारत में प्रचलित है। हिंदुस्तानी संगीत का आधार राग (melodic mode) और ताल (rhythm) पर होता है। इसमें तीन प्रमुख अंग होते हैं:

- **राग**: — राग एक विशिष्ट स्वर और ध्वनियों का समूह होता है, जो किसी विशिष्ट समय, मौसम, या भावनाओं से जुड़ा होता है।
- **ताल**: — ताल, संगीत की लयबद्धता और समय की माप होती है।
- **गायन और वादन**: — गायन में राग का प्रस्तुतीकरण होता है, जबकि वादन में विभिन्न वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

हिंदुस्तानी संगीत में प्रमुख शास्त्रीय गायक और वादक होते हैं जो इसे प्राचीन परंपराओं के अनुसार प्रस्तुत करते हैं। इसके प्रमुख प्रकार हैं: —

- **आधुनिक गायन**
- **ध्रुपद** (ध्रुपद गायन)
- **खयाल** (खयाल गायन)
- **ठुमरी और दादरा** (लोक शैली गायन)

प्रमुख वाद्य यंत्रों में **संतूर**, **सितार**, **सारंगी**, **Tabla**, **पखावज**, और **सरोद** शामिल हैं।

2. कर्नाटिक संगीत: —

कर्नाटिक संगीत दक्षिण भारत का प्रमुख शास्त्रीय संगीत है। यह हिंदुस्तानी संगीत से अलग होता है, लेकिन इसमें भी राग और ताल की अवधारणाएँ होती हैं। कर्नाटिक संगीत में **काव्यात्मक गायक** और **वाद्य यंत्रों** का विशेष स्थान है। इसके प्रमुख प्रकार में**किर्तन** (धार्मिक गीत), **कावली**, और **अलापन** (संगीत का स्वर रहित हिस्सा) शामिल हैं। कर्नाटिक संगीत में प्रमुख वाद्य यंत्रों में **वीणा**, **मृदंगम**, **गिटार**, **तंबूरा**, और **सिलसिला** शामिल हैं।

भारतीय नृत्य: —

भारतीय नृत्य में आध्यात्मिकता, भावनाएँ और सांस्कृतिक विरासत का गहरा समावेश होता है। भारतीय नृत्य को शास्त्रीय और लोक नृत्य की श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1. शास्त्रीय नृत्य: —

भारतीय शास्त्रीय नृत्य को अपने अनुशासन, बारीकी और तकनीकी रूप से पहचान मिलती है। यह मुख्य रूप से सांस्कृतिक और धार्मिक उद्देश्यों के लिए होता है। भारत में आठ प्रमुख शास्त्रीय नृत्य शैलियाँ हैं, जिन्हें "नृत्य रूप" कहा जाता है। ये हैं:

- **भरतनाट्यम** (तमिलनाडु): — यह भारतीय शास्त्रीय नृत्य की सबसे पुरानी शैली है, जिसमें अभिव्यक्ति (भाव), मुद्रा (हस्त मुद्रा), और लयबद्धता का महत्वपूर्ण स्थान है।
- **कत्थक** (उत्तर भारत): — इसमें नृत्य की गति और पैरों की ताल पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसे अधिकतर कथा आधारित प्रस्तुति के रूप में किया जाता है।

- **कुचिपुड़ी** (आंध्र प्रदेश): — यह नृत्य शास्त्रीय नृत्य शैली है, जिसमें कथकली की तरह नाट्य-रूप की प्रकटता होती है और इसमें भावनाओं का गहरा प्रदर्शन किया जाता है।
- **मोहनीअट्टम** (केरल): — यह नृत्य कथाओं और धार्मिक कथाओं के आधार पर होता है, जिसमें विशेष रूप से चेहरे और हाथों के हावभाव होते हैं।
- **सात्त्विक** (उड़ीसा): — यह नृत्य पुराणों और धार्मिक कथाओं के अनुरूप प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें शिव की पूजा का विशेष ध्यान रखा जाता है।
- **कत्थक कली** (केरल): — यह नृत्य के साथ-साथ रंगमंच का रूप है, जिसमें अभिनेता रंगीन वेशभूषा पहनकर धार्मिक कथाओं का मंचन करते हैं।
- **मणिपुरी** (मणिपुर): — इस नृत्य शैली में मोहिनी अट्टम की तरह धार्मिक भावनाओं और कथाओं का नृत्य रूप में प्रदर्शन किया जाता है।
- **सुदृढ़ नृत्य** (हिमाचल प्रदेश): — इसमें हिमाचल की पारंपरिक लोकधारा को प्रस्तुत किया जाता है।
- **छलिया नृत्य** (उत्तराखंड) — कुमाऊ क्षेत्र में प्रचलित यह छापामार युद्ध का नमूना जाता है
- **पांडव नृत्य** (उत्तराखंड) — गढवाल क्षेत्र में प्रचलित यह नृत्य महाभारत का लौकिक संस्करण माना जाता है।

2. लोक नृत्य: —

लोक नृत्य उन सांस्कृतिक रचनाओं का हिस्सा है, जो स्थानीय परंपराओं और समाज की भावनाओं को व्यक्त करती हैं। ये नृत्य अधिकतर ग्रामीण इलाकों में होते हैं और इनमें विविधता देखने को मिलती है। कुछ प्रमुख भारतीय लोक नृत्य शैलियाँ हैं:

- **भांगड़ा** (पंजाब)
- **गुम्बी** (ओडिशा)
- **गरबा** (गुजरात)
- **डांडिया** (गुजरात)
- **गोरबंद** (हरियाणा)
- **छलिया (उत्तराखंड)**
- **कोलत्तम** (तमिलनाडु)

भारतीय संगीत और नृत्य का समाज पर प्रभाव: —

भारतीय संगीत और नृत्य न केवल मनोरंजन का साधन हैं, बल्कि इनका समाज और संस्कृति पर गहरा प्रभाव है। यह भावनाओं, सामाजिक संदेशों, धार्मिक विश्वासों, और सांस्कृतिक पहचान को संप्रेषित करने का एक तरीका है। संगीत और नृत्य ने समाज में एकता, समानता, और शांति को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय संगीत और नृत्य न केवल कला का रूप हैं, बल्कि यह भारतीय संस्कृति, दर्शन, और जीवन के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करने का माध्यम भी हैं। यह परंपराएँ हमारे अतीत की यादें हैं और आज भी हमारे जीवन में प्रासंगिक हैं। इनका संरक्षण और संवर्धन भारतीय सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

स्मृति और इतिहास: —

क्षेत्रीय भाषाओं में इतिहास और संस्कृति को याद रखने की परंपरा भी है। लोकगीतों और काव्य में ऐतिहासिक घटनाओं, युद्धों, नायक-नायिकाओं के कार्यों और सामाजिक परिवर्तनों का विवरण मिलता है। यह साहित्य केवल इतिहास की गवाही नहीं देता, बल्कि समुदाय की पहचान और गौरव का भी प्रतीक होता है।क्षेत्रीय भाषाएँ न केवल संचार का एक साधन हैं, बल्कि ये उन ज्ञान परंपराओं, सांस्कृतिक धरोहरों और जीवनशैली के एक अदृश्य किन्तु महत्वपूर्ण वाहक हैं, जिन्हें पीढ़ियों से संजोकर रखा गया है। इन भाषाओं का संरक्षण और संवर्धन अत्यंत आवश्यक है, ताकि यह ज्ञान परंपराएँ आने वाली पीढ़ियों तक पहुंच सकें और समाज में विविधता तथा समृद्धि बनी रहे।

भारत में क्षेत्रीय भाषाओं ने इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने की एक समृद्ध परंपरा विकसित की है। इन भाषाओं में न केवल ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया जाता है, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों का भी दस्तावेजीकरण किया गया है। भारतीय इतिहास और संस्कृति की यह परंपरा आज भी जीवित है और यह स्थानीय स्तर पर समाज के विविध पहलुओं को प्रतिबिंबित करती है।

भारत में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में इतिहास और संस्कृति को याद रखने के लिए कई रूपों में साहित्य, काव्य, गीत, लोककथाएँ, और प्राचीन ग्रंथों का निर्माण हुआ। यह परंपरा न केवल इतिहास को संजोने का कार्य करती है, बल्कि यह स्थानीय समुदायों की पहचान और उनके मूल्यों को भी प्रकट करती है। आइए, जानते हैं कि क्षेत्रीय भाषाओं में इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने की परंपरा किस प्रकार विकसित हुई है।

1. हिंदी में इतिहास और संस्कृति की परंपरा—

हिंदी साहित्य में इतिहास और संस्कृति को याद रखने की परंपरा बहुत समृद्ध है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, लोककथाएँ, और धार्मिक परंपराएँ हिंदी साहित्य में गहरी जड़ें जमा चुकी हैं।

- **काव्य रचनाएँ और महाकाव्य**: — हिंदी साहित्य में महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य से लेकर समकालीन काव्य रचनाएँ भी ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन करती हैं। तुलसीदास की "रामचरितमानस" में धार्मिक और ऐतिहासिक कथाओं का समावेश है।
- **लोककथाएँ और गीत**: — हिंदी क्षेत्र में लोककथाएँ और गीतों के माध्यम से भी इतिहास को संरक्षित किया जाता है। इनमें विशेष रूप से राजा-रानी की कहानियाँ, वीरगाथाएँ और धार्मिक कथाएँ शामिल होती हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी बच्चों को सुनाई जाती रही हैं। जैसे कि वीरता की कहानियाँ, लोक नृत्य और गीतों में भारतीय लोक संस्कृति और इतिहास को जीवित रखने का कार्य किया गया है।
- **इतिहास पर काव्य रचनाएँ**: — हिंदी में संतों और कवियों द्वारा रचित काव्य रचनाएँ जैसे कि सूरदास, मीराबाई, संत कबीर की कविताएँ न केवल धार्मिक, बल्कि सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व भी रखती हैं। इन कविताओं में समाज के विभिन्न पहलुओं का चित्रण मिलता है।

2. तमिल में इतिहास और संस्कृति की परंपरा—

तमिल में इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने की परंपरा बहुत पुरानी है। तमिल साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं का दस्तावेजीकरण बहुत गहराई से किया गया है।

- **तमिल काव्य और महाकाव्य**: तमिल महाकाव्य जैसे **"सिलप्पतिकारम"**और **"मनिमेकलै"** में ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक संरचनाओं का वर्णन किया गया है। इन काव्य रचनाओं में युद्ध, प्रेम, और सामाजिक संघर्षों की कथाएँ हैं, जो तमिल समाज के इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करती हैं।
- **लोककथाएँ और धार्मिक ग्रंथ**: — तमिल भाषा में धार्मिक ग्रंथ जैसे **(थिरुक्कुरल)** और (तमिल परंपराएँ) ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक परंपराओं का सटीक वर्णन करते हैं। इन ग्रंथों में जीवन के विभिन्न पहलुओं, जैसे नीति, धर्म, और सामाजिक मूल्यों पर ध्यान दिया गया है।
- **संत काव्य और भक्ति गीत**: — तमिल में संतों द्वारा रचित भक्ति गीतों और काव्य रचनाओं ने न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी इतिहास को संरक्षित किया है।

3. बंगाली में इतिहास और संस्कृति की परंपरा—

बंगाली साहित्य और भाषा में इतिहास और संस्कृति का दस्तावेजीकरण बहुत महत्वपूर्ण है। बंगाली साहित्य में ऐतिहासिक घटनाओं और समाजिक बदलावों का सूक्ष्म रूप से वर्णन किया गया है।

- **रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाएँ**: — रवींद्रनाथ ठाकुर (रवींद्रनाथ ठाकुर) के साहित्य में भारतीय इतिहास और समाज के विभिन्न पहलुओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। उनके गीत, कविताएँ और उपन्यास भारतीय समाज और संस्कृति को समझने का एक अहम साधन हैं।
- **लोककथाएँ और गीत**: — बंगाल में लोककथाएँ, गीत और नृत्य लंबे समय से इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने के प्रमुख साधन रहे हैं। बंगाल के लोकगीत जैसे**"बाउल गीत"**में क्षेत्रीय संस्कृति, धर्म और जीवन के पहलुओं को प्रतिबिंबित किया गया है।
- **इतिहास के ग्रंथ और शास्त्र**: — बंगाली में इतिहास पर कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए हैं, जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, बंगाली समाज, और सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखते हैं। बंगाल के प्राचीन इतिहास को विस्तार से समझने के लिए बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय की **"आनंदमठ"** और **"विविध इतिहास ग्रंथ"** पढ़े जाते हैं।

4. मराठी में इतिहास और संस्कृति की परंपरा—

मराठी भाषा में ऐतिहासिक घटनाओं और संस्कृति को संरक्षित करने की एक लंबी परंपरा रही है। मराठी साहित्य और काव्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कई महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

- **राजपूत और मराठा इतिहास**: — मराठी साहित्य में विशेष रूप से मराठा साम्राज्य और शिवाजी महाराज के ऐतिहासिक योगदान का वर्णन किया जाता है। इन पर आधारित कविताएँ और गीत जैसे**"शिवाजी महाराज की गाथाएँ"**मराठा समाज के गौरव को प्रकट करती हैं।
- **संत तुकाराम और संत ज्ञानेश्वर**: — मराठी संतों द्वारा रचित काव्य रचनाएँ भारतीय संस्कृति और धर्म की एक गहरी धारा को दर्शाती हैं। संत तुकाराम के अभंगों में धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है।

- **लोककथाएँ और संगीत**: — मराठी लोककथाएँ और संगीत ने भारतीय इतिहास और संस्कृति को समाज में जीवित रखने का कार्य किया। जैसे कि**"गणेश वंदना"**, **"विजय यथार्थ"**, और**"लावणी"** नृत्य जो मराठी संस्कृति का हिस्सा हैं, वे इतिहास के साथ जुड़े हुए हैं।

5. कन्नड़ में इतिहास और संस्कृति की परंपरा—

कन्नड़ भाषा में भी इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने की एक लंबी परंपरा है। कर्नाटिक संगीत, साहित्य और ऐतिहासिक काव्य रचनाएँ कन्नड़ संस्कृति के महत्वपूर्ण पहलु हैं।

- **कन्नड़ काव्य और ऐतिहासिक लेखन**: — कन्नड़ साहित्य में **"वोवर्स"**और **"पंप"** जैसे कवियों ने ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया है। इन काव्य रचनाओं में कर्नाटिक साम्राज्य के ऐतिहासिक योगदान का भी उल्लेख मिलता है।
- **लोककथाएँ और धार्मिक ग्रंथ**: — कर्नाटिक लोककथाएँ और भक्ति गीत कन्नड़ समाज की सांस्कृतिक और धार्मिक धारा को जीवित रखते हैं।
- **संत काव्य और इतिहास**: — कर्नाटिक संतों द्वारा रचित भक्ति काव्य ऐतिहासिक और धार्मिक संदर्भ में समाज को जागरूक करने का कार्य करती हैं।

भारत में क्षेत्रीय भाषाएँ न केवल संवाद का एक साधन हैं, बल्कि ये इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने का एक अहम माध्यम भी हैं। इन भाषाओं में काव्य, लोककथाएँ, गीत, और धार्मिक ग्रंथों के रूप में भारत के समृद्ध इतिहास और सांस्कृतिक धरोहर का दस्तावेजीकरण किया गया है। यह परंपरा आज भी जीवित है और आने वाली पीढ़ियों को अपने इतिहास और सांस्कृतिक मूल्यों को समझने और संरक्षित करने में मदद करती है।

3.6 अभ्यास प्रश्न

1- भरतनाट्यम नृत्य कहाँ का है ?

अ. तमिलनाडु
आ. केरल
इ. बंगला
ई. आसाम

2 - मोहनीअट्टम नृत्य कहाँ का है ?

अ. तमिलनाडु
आ. केरल
इ. बंगला
ई. आसाम

3- छलिया नृत्य नृत्य कहाँ का है ?

अ. तमिलनाडु
आ. केरल
इ. बंगला
ई. उत्तराखंड

4- **पांडव नृत्य कहाँ का है ?**

अ. तमिलनाडु

आ. केरल

इ. बंगला

ई. उत्तराखंड

5- संत तुकाराम और संत ज्ञानेश्वर किस काव्य परम्परा से है

अ. मराठी

आ. बंगाली

इ. आसामी

ई. तमिल

3.7 सारांश

भारतीय भाषाओं में ज्ञान परंपरा एक समृद्ध और विविध धरोहर है, जिसमें प्राचीन समय से लेकर आधुनिक काल तक ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों—धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला, चिकित्सा, और समाजशास्त्र—का निरंतर प्रसार हुआ है। भारतीय भाषाओं में ज्ञान की परंपरा का मूल आधार सामूहिकता, विविधता, और अनुभवों का आदान-प्रदान है। यह परंपरा न केवल मौखिक रूप से, बल्कि लेखन और ग्रंथों के माध्यम से भी समृद्ध हुई है। भारतीय भाषाओं में यह ज्ञान परंपरा कई रूपों में प्रकट होती है, जैसे धार्मिक ग्रंथ, शास्त्र, काव्य, लोककथाएँ, और अनौपचारिक शिक्षण।

1. धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ—

भारतीय भाषाओं में धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों की महत्वपूर्ण परंपरा रही है। संस्कृत, प्राकृत, तमिल, बांग्ला, मराठी, और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में धार्मिक ग्रंथों और दार्शनिक विचारों को सहेजा गया है। उदाहरण स्वरूप:

- **संस्कृत** में वेद, उपनिषद, भगवद गीता, रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों ने भारतीय दर्शन और धर्म की नींव रखी।
- **तमिल** में शैव और वैष्णव भक्ति काव्य, जैसे "कुरल" में धार्मिक ज्ञान का विस्तार हुआ।
- **हिंदी, बंगाली और मराठी** में संतों और कवियों जैसे सूरदास, कबीर, और तुकाराम की भक्ति रचनाओं में जीवन और ब्रह्मज्ञान का विश्लेषण हुआ।

2. विज्ञान और चिकित्सा—

भारतीय भाषाओं में प्राचीन चिकित्सा, गणित, खगोलशास्त्र, और आहार-विहार संबंधी ज्ञान का भी समृद्ध इतिहास रहा है। संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, और स्थापत्य जैसे क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथों का लेखन हुआ।

- **आयुर्वेद** और **संस्कृत** के ग्रंथ जैसे चरक संहिता और सुश्रुत संहिता ने चिकित्सा की गहरी धारा को बताया।
- **संगीत और नृत्य** जैसे क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं ने सांस्कृतिक परंपराओं को संजोने और बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3. लोक साहित्य और ज्ञान—

भारतीय भाषाओं का लोक साहित्य— कविता, गीत, कहानियाँ, और मुहावरे—भी ज्ञान और संस्कृति के संरक्षण में अहम भूमिका निभाता है। लोककथाएँ और गीत प्राचीन समय से ही ज्ञान के वाहक रहे हैं।

- **हिंदी, पंजाबी, और गुजराती**जैसे भाषाओं में प्रेम, वीरता, भक्ति, और नैतिकता की लोककथाएँ और गीत समाज के धार्मिक और सामाजिक जीवन का आईना हैं।
- **बंगाली** में रवींद्रनाथ ठाकुर और काजी नज़रुल इस्लाम जैसे महान साहित्यकारों ने सामाजिक और सांस्कृतिक बदलावों को अपनी रचनाओं में समाहित किया।

4. आध्यात्मिक और भक्ति साहित्य—

भारतीय भाषाओं में भक्ति और आध्यात्मिक साहित्य की परंपरा ने ज्ञान की नई परतों को उजागर किया। संत काव्य और भक्ति गीतों ने न केवल धार्मिक उपदेश दिए, बल्कि समाज को सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी दी।

- संत तुकाराम, मीरा बाई, और रामदास जैसे संतों की रचनाएँ मराठी, हिंदी और अन्य भाषाओं में भक्ति और ज्ञान का प्रसार करती हैं।

भारतीय भाषाओं में ज्ञान परंपरा एक निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है, जो विविधताओं को सम्मान देती है। ये भाषाएँ न केवल अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहचान को व्यक्त करती हैं, बल्कि आधुनिक समय में भी ज्ञान के विस्तार और शिक्षा के प्रचार-प्रसार में योगदान देती हैं। भारतीय भाषाओं में यह समृद्ध परंपरा न केवल ज्ञान का संग्रह करती है, बल्कि उसे सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संदर्भों में निरंतर जीवित रखती है।

3.8 शब्दावली

फंक्शनलिज़्म– समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए एक विशेष भूमिका

कांट्रैक्टिविज़्म- जातीय पहचान मुख्य रूप से सामाजिक असमानताओं और संघर्षों का परिणाम

इंटरएक्शनिज़्म- इंटरएक्शनिज़्म जातीय पहचान को एक सामाजिक निर्माण के रूप में देखता है

पोस्टकोलोनियल थ्योरी- पोस्टकोलोनियल थ्योरी यह मानती है कि उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक ताकतों ने जातीय पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 . अ 2. आ 3 .ई 4. ई 5. अ

3.10 सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

1. समाज विज्ञान विश्व कोश छ खंड राजकमल प्रकाशन दिल्ली
2. भारतीय आलोचना के बीज शब्द बच्चन सिंह राजकमल प्रकाशन
3. जनजातीय भारत नदीम हसनैन , जवाहर पब्लिशर्स , नई दिल्ली
4. भारतीय आर्यभाषा और हिंदी , सुनीति कुमार चाटुर्ज्या , राजकमल प्रकाशन
5. भाषा का बुनयादी तानाबाना . एकलव्य प्रकाशन
6. भारतीय दर्शन की रूप रेखा . हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
7. भारतीय सभ्यता की निर्मिति , भगवान सिंह, साहित्य उपक्रम
8. विक्रमादित्य कथा . राधाबल्लभ त्रिपाठी , भारतीय ज्ञान पीठ
9. भारत के आदिवासी क्षेत्रों की लोककथाएँ , शरद सिंह , नेशनल बुक ट्रस्ट

10. भारतीय परम्परा की खोज , भगवान सिंह . सस्ता साहित्य मण्डल
11. काली कुमाऊ राग भाग . डॉ रामसिंह
12. गढवाली भाषा और उसका साहित्य . डॉ हरिदत्त भट्ट
13. लोकसंस्कृति की रूप रेखा , कृष्ण देव उपाध्याय , लोकभारती
14. हिंदी और उसकी विविध बोलियाँ . मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ आकादमी

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय भाषाओं में ज्ञान परम्परा विषय पर निबंध लिखिए।
2. ज्ञान परम्परा से क्या आशय है भारत के सन्दर्भ में ज्ञान परम्परा पर निबन्ध लिखिए।